

प्रातः स्मरणीय, पूजनीय एवं स्नेहमयी
माँ स्वर्गीय श्रीमती रामकली शर्मा की
पुण्य स्मृति में सादर समर्पित

समष्टि आर्थिक सिद्धान्त

(MACRO ECONOMIC THEORY)



(बी० ए० कक्षाओं के पाठ्यक्रमानुसार)

लेखक

डॉ. एस. सी. शर्मा

रीडर एवं अध्यक्ष अर्थशास्त्र
स्नातकोत्तर एवं शोध अध्ययन विभाग,
नेशनल स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
भोगाँव (मैनपुरी)
आगरा विश्वविद्यालय

द्वितीय संस्करण

1994

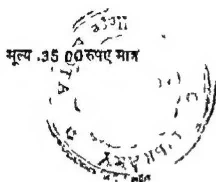
रतन प्रकाशन मन्दिर

पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता

1/185-A, प्रोफेसर्स कॉलोनी, दिल्ली गेट, आगरा-282 002

द्वितीय संस्करण 1994

मूल्य .35.00 रुपए मात्र



प्रकाशक : रतन प्रकाशन मन्दिर
1/185-A, प्रोफेसर्स कॉलोनी, दिल्ली गेट, आगरा-282 002

शाखाएँ :

आगरा	:	अस्पताल मार्ग
दिल्ली	.	21, दयानन्द मार्ग, दरियागंज
कानपुर	.	तिलक हॉल लेन, मेस्टन रोड
लखनऊ	.	इन्दिरा मार्केट, अमीनाबाद
गोरखपुर	.	18, प्रतिभा कॉम्पलैक्स, बक्शीपुर
मेरठ	:	वेस्टर्न कचहरी रोड
वाराणसी	:	K-62/106, जवाहर मार्केट, सप्तसागर
जयपुर	:	मिचून मार्केट, किशन पोल बाजार

प्रेमचन्द जैन द्वारा प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,
1/11, साहित्य कुञ्ज, महात्मा गाँधी मार्ग, आगरा—2 में मुद्रित

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

वर्तमान समय में अर्थशास्त्र के अध्ययन को व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र के रूप में पढ़ा जाता है । समष्टि आर्थिक सिद्धान्त की प्रस्तुत पुस्तक अर्थशास्त्र बी. ए. त्रिवर्षीय पाठ्यक्रमानुसार तैयार की गई है । वैसे तो समष्टि अर्थशास्त्र पर अनेकों पुस्तकें उपलब्ध हैं और उन पर टीका टिप्पणी करना उपयुक्त नहीं है । लेखक का वर्तमान पुस्तक लिखने में यह प्रयास रहा है कि यह पुस्तक स्नातक कक्षा में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए उपयोगी, उनकी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं के मानदण्डों पर खरी उतरेगी ।

प्रस्तुत पुस्तक को 20 अध्यायों में विभक्त किया गया है । समष्टि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित जटिल समस्याओं को सरल से सरल भाषा शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिससे स्नातक विद्यार्थीगण समष्टि अर्थशास्त्र के गूढ़तम पहलुओं को आसानी से समझ लें । प्रत्येक अध्याय के अंत में सम्बन्धित अध्याय की सामग्री के आधार पर वस्तुनिष्ठ प्रश्नों (Objective Questions) का समावेश किया गया है । वर्तमान प्रतियोगिता के युग में विद्यार्थियों को अपने अध्ययन तथा डिग्री प्राप्त करने के बाद रोजगार प्राप्ति हेतु परीक्षाएँ उत्तीर्ण करना होती हैं । इन परीक्षाओं की सफलता के बाद उन्हें साक्षात्कार चयन बोर्ड के समक्ष जाना होता है । एक विद्यार्थी की दृष्टि से यह वस्तुनिष्ठ प्रश्न उनकी सफलता के लिए अर्थशास्त्र जैसे तकनीकी एवं व्यावहारिक विषय के लिए कुँजी साबित होंगे ऐसा विश्वास लेखक को है । विद्यार्थियों की सफलता से सम्बन्धित एक अन्य सामग्री प्रस्तुत पुस्तक के परिशिष्ट I में परीक्षा में अच्छे अंक कैसे प्राप्त करें के रूप में दी गई है । इसमें उन्हें परीक्षा भवन में प्रश्नों के चुनने से लेकर आदर्शात्मक उत्तर देने तक की प्रक्रिया को समझाया गया है ।

लेखक यह तो दावा नहीं करता कि यह पुस्तक अपने में सभी दृष्टि से पूर्ण होगी परन्तु उसका प्रयास पुस्तक को उत्तम से उत्तम तथा आधुनिक प्रवृत्तियों के साथ अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना है । विद्वान अध्यापक बन्धु एवं अन्य सज्जनवृंद इस पुस्तक को उपयोगी समझेंगे इस विश्वास के साथ लेखक का यह प्रयास उनके विश्लेषण हेतु प्रस्तुत है । सह लेखक के रूप में लेखक की मुद्रा बैंकिंग तथा मुद्रा बैंकिंग एवं राजस्व स्नातक कक्षाओं के लिए, आर्थिक विचारों का इतिहास एवं मुद्रा की रूपरेखा तथा एकमात्र लेखक के रूप में समष्टि अर्थशास्त्र स्नातकोत्तर कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए प्रकाशित हो चुकी हैं जिनको अर्थशास्त्र के जिज्ञासु विचारकों द्वारा सराहा गया है यही लेखक के लिए उनका सस्नेह पुरस्कार है ।

पुस्तक लेखन के प्रेरणास्रोत मेरे अनेक बन्धु, शुभचिंतक एवं परिवारीजन रहे हैं । उनकी स्नेहपूर्ण शुभ कामनाएँ सदा मेरे मार्ग के अवरोधकों को पार करने में मेरे लिए बड़ा सहारा रही हैं । पूजनीय माँ का आशीर्वाद मेरे ऊपर सदा रहा तथा जो रोग शैय्या पर होते हुए भी मेरी तथा मेरे कार्य की प्रगति के लिए चिंतित रहती थी । मैं अपनी धर्म पत्नी श्रीमती गायत्री शर्मा का उल्लेख अवश्य करूँगा जिन्होंने मुझे लेखन कार्यावधि में पारिवारिक दायित्वों से मुक्त रखा । मेरी बच्ची चिंकी जो अभी अबोध है वह भी मेरे कार्यों में जाने-अनजाने अपना सहयोग देती रही है । मैं अपने श्वसुर श्री ब्रज बिलास शर्मा वैद्य तथा सास श्रीमती कमला शर्मा का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने ग्रीष्मावकाश में पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने हेतु मुझे वाछनीय सुविधाएँ तो प्रदान की ही साथ ही अपना स्नेह एवं शुभकामनाएँ भी दी हैं । मैं अपने मित्र एवं शुभ चिंतक श्री विनोद कुमार वर्मा कानपुर का उल्लेख करना चाहूँगा जो मेरे कार्य की

प्रगति के लिए सदैव अपनी शुभकामनाएँ देते रहे हैं। अन्त में, मैं अपने प्रकाशक श्री प्रेम चन्द जैन का आभार प्रकट करना चाहूँगा जिन्होंने वर्तमान पुस्तक के लेखन हेतु मुझे निमंत्रण दिया। उन्होंने अपनी तमाम व्यस्तताओं एवं बढ़ते हुए दायित्वों के बाद भी पुस्तक को यथासमय प्रकाशित करके पाठकगणों के समक्ष रखकर महत्वपूर्ण एवं सराहनीय योगदान दिया है।

पुस्तक से सम्बन्धित रचनात्मक सुझावों की प्रतीक्षा लेखक के लिए मार्गदर्शक होगी।

नटराज होटल बिल्डिंग,
मैनपुरी-205001
उत्तर प्रदेश।

— एस. सी. शर्मा

विषय-सूची
(CONTENTS)

समष्टि अर्थशास्त्र
(MACRO ECONOMICS)

"There is really no opposition between Micro and Macro Economics Both are absolutely vital You are only half educated if your understand the one while being ignorant of the other " —*Samuelson*

अध्याय 1

समष्टि अर्थशास्त्र

(MACRO ECONOMICS)

वर्तमान समय मे अर्थशास्त्रीय अध्ययन को प्रमुख रूप से व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र मे बाँटा जाता है। वर्ष 1933 मे इन शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग ओसलो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रेगनर फ्रिश (Prof Raenar Frisch) ने किया था। वर्तमान समय मे आर्थिक विश्लेषण के यह शब्द अधिक महत्वपूर्ण हो गए है। व्यष्टि या सूक्ष्म अर्थशास्त्र का आशय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की छोटी अथवा लघु इकाइयो से होता है। दूसरी ओर समष्टि या व्यापक अर्थशास्त्र का आशय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तथा इसके बड़े-बड़े समूहों जैसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन कुल राष्ट्रीय आय कुल रोजगार कुल उपभोग, कुल विनियोग कुल बचत, सामान्य कीमत स्तर आदि से होता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विदेशी विनिमय, व्यापार चक्र राजस्व बैंकिंग आदि बहुत से ऐसे विषय है जो समष्टि अथवा व्यापक आर्थिक विश्लेषण के अन्तर्गत आते है।

व्यष्टि या सूक्ष्म अर्थशास्त्र
(Micro Economics)

व्यष्टि या सूक्ष्म अर्थशास्त्र मे हम व्यक्तिगत इकाई का अध्ययन करते है जैसे एक फर्म एक उद्योग, एक व्यक्ति एक परिवार आदि। इसके अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि एक व्यक्ति की स्थिति क्या है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति अपनी आय किस प्रकार अर्जित और व्यय करता है, एक फर्म किस प्रकार से साम्य की स्थिति को प्राप्त करती है एक उद्योग की उद्योग मे रोजगार, उत्पादन तथा बिक्री आदि की स्थिति क्या है। कुल मिलाकर हम कह सकते है कि व्यष्टि या सूक्ष्म अर्थशास्त्र मे हम व्यक्तिगत या लघु इकाइयो के सगठन, स्वरूप एव उनके व्यवहार से सम्बन्धित बातो का अध्ययन करते है। इसमे सूक्ष्म अर्थशास्त्रीय सतुलन स्थिति का अध्ययन किया जाता है। सूक्ष्म अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम कीमत विश्लेषण मे एक उत्पादन या साधन की कीमत का अध्ययन करते है न कि सामान्य कीमत स्तर का। इसी प्रकार माँग विश्लेषण मे हम एक व्यक्ति- एक फर्म एक परिवार तथा एक उद्योग की माँग का अध्ययन करते है सामूहिक अथवा समुदाय विशेष की माँग का अध्ययन नही करते। आय विश्लेषण मे हम एक व्यक्ति एक परिवार, एक फर्म या एक उद्योग की आय का अध्ययन करते है सम्पूर्ण या समुदाय की कुल आय का अध्ययन नही करते।

सूक्ष्म आर्थिक विश्लेपण में हम पूर्ण रोजगार की मान्यता मानते हुए इस बात का अध्ययन करते है कि एक उपभोक्ता या एक उत्पादक साम्य की स्थिति को कैसे प्राप्त करता है। सूक्ष्म या व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत इकाइयों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है इसमें भी समूहों का अध्ययन किया जाता है परन्तु यह समूह उन समूहों से भिन्न होते है जिनका सम्बन्ध समष्टि अर्थशास्त्र से होता है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ
(Definitions of Micro Economics)

प्रो० के० ई० बोल्डिंग के अनुसार—

सूक्ष्म अर्थशास्त्र में विशेष फर्मों विशेष परिवारों व्यक्तिगत कीमतो मजदूरी आय, व्यक्तिगत उद्योगों तथा विशेष वस्तुओं का अध्ययन किया जाता है।[1]

प्रो० हैण्डरसन तथा क्वांट के शब्दो मे—

व्यष्टिगत अर्थशास्त्र में व्यक्तियों तथा ठीक से परिभाषित व्यक्ति समूहों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन होता है।[2]

प्रो० एफ० एस० बोरोमैन के अनुसार—

व्यष्टि अर्थशास्त्र में एक वस्तु से सम्बन्धित बाजारों की कार्य प्रणाली तथा व्यक्तिगत क्रेता तथा विक्रेता के व्यवहार की व्याख्या की जाती है।[3]

व्यष्टि या सूक्ष्म अर्थशास्त्र का विषय क्षेत्र
(Scope of Micro Economics)

यह हम पहले ही बता चुके है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन किया जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन करते है।

उपभोग के अन्तर्गत व्यक्तिगत व्यवहार से सम्बधित नियम घटती हुई सीमांत उपयोगिता का नियम तथा सम-सीमांत उपयोगिता नियम (Law of Diminishing Marginal Utility and Law of Equi-marginal Utility) व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की विषय-वस्तु है। मोट तौर पर हम कह सकते है कि सीमांत विश्लेषण से सम्बन्धित जो भी आर्थिक नियम है वह सूक्ष्म या व्यष्टि अर्थशास्त्रीय अध्ययन के विषय-क्षेत्र में आते है। एक

---

1 "Micro Economics is the study of particular firms Particular house hold individual prices, wages, income, individual industries and particular commodities" —*K E Boulding*

2 "*Micro Economics is the study of economic actions of individuals and well defined group of individuals.*" —*Handerson and Quandt*

3 "Micro Economics seeks to explain the working of markets for individual commodity and the behaviour of individual buyer and seller." —*F. S. Boroman*

व्यक्ति के पास जैसे-जैसे किसी वस्तु की इकाइयाँ बढ़ती जाती हैं उनसे प्राप्त उपयोगिता या सन्तुष्टि का स्तर उत्तरोत्तर गिरता जाता है, इसी प्रकार एक उपभोक्ता अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि का स्तर कैसे प्राप्त करेगा आदि का अध्ययन क्रमश: घटती हुई सीमान्त उपयोगिता नियम तथा सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के उदाहरण हैं तथा व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन की विषय सामग्री हैं। एक उपभोक्ता की भाँति एक उत्पादक भी अपने सीमित साधनों से अधिकतम लाभ तभी प्राप्त करेगा जबकि प्रत्येक साधन से प्राप्त सीमान्त उत्पादकता तथा उस साधन पर किया गया व्यय दोनों बराबर नहीं हो जाते जैसा कि प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) द्वारा व्यक्त किया जाता है। उत्पादन के क्षेत्र में एक फर्म तथा एक उद्योग की उत्पादन तथा मूल्य सम्बन्धी नीति का अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। विनिमय के क्षेत्र में एक वस्तु की कीमत निर्धारण तथा एक बाजार विशेष से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन तथा वितरण के क्षेत्र में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का पारिश्रमिक आदि व्यष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित अध्ययन कहलायेगा।

व्यष्टि अर्थशास्त्र का लाभ एवं महत्व
(Advantages & Importance of Micro Economics)

व्यष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक रूप धारण के समय से ही प्रारम्भ हो चुका है। इसका उपयोग विभिन्न आर्थिक नियमों के निर्माण तथा सिद्धान्तों के विवेचन हेतु किया गया है। समष्टि अर्थशास्त्र का प्रयोग आजकल बहुत बढ़ गया है फिर भी व्यष्टि अर्थशास्त्र का महत्व बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ है। इसका महत्व निम्न बातों से पता चलता है -

(1) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के स्वरूप को समझने हेतु—सूक्ष्म अथवा व्यष्टि अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के स्वरूप को समझने में सहायक होता है। जैसे हमें देश के सामान्य कीमत स्तर (General Price Level) को समझने के लिए व्यक्तिगत कीमतों का भी अध्ययन करना होगा। ठीक इसी प्रकार से देश की कुल राष्ट्रीय आय को समझने के लिए व्यक्तिगत आयों का अध्ययन जरूरी है।

(2) वस्तु के मूल्य निर्धारण में सहायक— व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि एक वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित होता है, एक उत्पत्ति के साधन का पुरस्कार कैसे निश्चित होता है आदि। एक वस्तु के मूल्य निर्धारण तथा एक साधन की कीमत निर्धारण के अध्ययन में हम माँग और पूर्ति की शक्तियों का अध्ययन करते हैं अर्थात् कीमत निर्धारण माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा होता है। जिस बिन्दु पर माँग और पूर्ति साम्य की स्थिति में होगी वहीं पर साधन या वस्तु की कीमत निश्चित होगी। व्यष्टि अर्थशास्त्र हमें बताता है कि एक उत्पादक एक साधन को जो कीमत देता है वह उस साधन की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित होती है। इसी प्रकार एक वस्तु की कीमत सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत (MR तथा MC) के बराबर होने के बिन्दु पर निश्चित होगी।

(3) आर्थिक नीतियों के निर्माण में सहायक—व्यष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक नीतियों के निर्माण में सहायक होता है। जब सरकार की नीतियों का निर्माण किया जाता है तो इनके प्रभाव को साधनों के वितरण, व्यक्तिगत कीमतों, आयों तथा मजदूरियों पर इनके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि सरकार की नीतियाँ समाज के निम्न वर्ग के विरुद्ध हों, तो तुरन्त उनमें सुधार करके उनको पुनर्निर्मित किया जाता है। देश का वित्त मन्त्री जब करारोपण के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत करता है तो इस बात का ध्यान रखता है कि करों का बोझ समाज के नीचे या कम आय वाले वर्ग पर कम से कम पड़े।

(4) व्यक्तिगत इकाइयों के आर्थिक व्यवहार के सम्बन्ध में निर्णय लेने में सहायक— व्यष्टि अर्थशास्त्र में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि एक व्यक्ति, एक फर्म, एक परिवार तथा एक उद्योग आदि का आर्थिक व्यवहार कैसा होगा। जैसे एक उत्पादक का यही प्रयास रहेगा कि वह न्यूनतम लागत संयोग पर उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को आदर्श अनुपात में लगाकर अधिकतम लाभ अर्जित कर सके। इसी प्रकार एक उपभोक्ता को अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि तभी मिलेगी जबकि विभिन्न मदों पर व्यय की जाने वाली अन्तिम इकाइयों से उसे सीमान्त उपयोगिता बराबर मिले। यदि उपभोक्ता का व्यवहार इस प्रकार का न होगा तो वह अधिकतम सन्तुष्टि के लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं होगा। इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र हमें व्यक्तिगत उपभोग, बचत, आय, विनियोग आदि की जानकारी देकर उनके आर्थिक व्यवहार के निर्णय लेने में सहायता करता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत फर्मों तथा उद्योगों की कार्य प्रणाली, उनकी समस्याओं तथा इनसे निपटने हेतु समाधानों का अध्ययन भी करता है।

(5) आर्थिक कल्याण में सहायक- आर्थिक कल्याण की जानकारी प्राप्त करने में व्यष्टि अर्थशास्त्र सहायक होता है। सबसे पहले प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक कल्याण के मापन हेतु व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण का सहारा लिया। व्यष्टि अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत इकाइयों के अध्ययन जैसे बचत, उपभोग, आय, विनियोग आदि के साथ-साथ सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक आय का समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभावों की जानकारी मिलती है। यदि सार्वजनिक व्यय से होने वाले लाभ सार्वजनिक आय से होने वाले कष्टों की तुलना में अधिक हैं तो निश्चित रूप से यह समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि का सूचक होगा। यदि स्थिति इसके विपरीत होगी तो आर्थिक कल्याण पहले की अपेक्षा निश्चित रूप से कम होगा।

व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ
(Limitations of Micro Economics)

जहाँ एक ओर व्यष्टि अर्थशास्त्र महत्त्वपूर्ण है वहाँ उसकी कुछ कमियाँ या सीमाएँ भी हैं जैसे—

(1) व्यष्टि अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सही चित्र प्रस्तुत नहीं करता— व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की पूरी जानकारी प्राप्त नहीं होती। यों तो यह कहा जाता है कि सम्पूर्ण की रचना व्यक्तिगत इकाइयों द्वारा होती है परन्तु इनसे हमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सही चित्र नहीं मिलता। समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन करके ही हम सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को सही प्रकार से समझ सकते हैं। इसलिए सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की जानकारी में व्यष्टि अर्थशास्त्र हमारे लिए अपर्याप्त साबित होता है क्योंकि व्यष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यक्तिगत इकाइयों तक सीमित रहता है जो संकुचित होता है।

(2) व्यष्टि अर्थशास्त्रीय निष्कर्ष सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं होते—

प्रायः यह कहा जाता है कि सम्पूर्ण को बनाने वाली व्यक्तिगत इकाइयाँ ही हैं इसलिए जो निष्कर्ष एक व्यक्तिगत इकाई के लिए उचित हो वह सम्पूर्ण के लिए स्वतः ही उचित समझने चाहियें। यह तथ्य भ्रामक है कि जो बात व्यक्तिगत दृष्टिकोण से सही हो वह सम्पूर्ण के लिए भी सही ही हो जैसे बचत करके उसका विनियोग न करना एक व्यक्ति के लिए तो अच्छा कहा जाएगा परन्तु यदि सभी बचतकर्ताओं का व्यवहार ऐसा होगा तो इससे बहुत सी कठिनाइयाँ हमारे सामने आ जायेंगी क्योंकि इससे कुल समर्थ माँग में कमी जिसके परिणामस्वरूप कुल उत्पादन, कुल रोजगार तथा कुल आय का स्तर गिरेगा।

(factors) की व्याख्या की तथा अर्थव्यवस्था को मंदी से उबारने हेतु ठोस सुझाव दिए। कीन्स ने यह सिद्ध किया कि राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं के समाधान समष्टि आर्थिक विश्लेषण में खोजने चाहिए। कीन्स के अतिरिक्त प्रो० वालरस, प्रो० पीगू, विक्सैल, प्रो० फिशर तथा अन्य बहुत से विद्वानों ने समष्टि अर्थशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

समष्टि अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ
(Definitions of Macro Economics)

समष्टि अर्थशास्त्र में हम सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था या उससे सम्बन्धित औसतों तथा समूहों का अध्ययन करते हैं। कुल माँग, कुल पूर्ति, कुल उत्पादन, कुल राष्ट्रीय आय, कुल बचत, कुल विनियोग, सामान्य कीमत स्तर, कुल रोजगार आदि का अध्ययन करते हैं। समष्टि अर्थशास्त्र की कुछ परिभाषाएँ निम्नवत हैं —

प्रो० के० ई० बोल्डिंग के अनुसार—

समष्टि परक अर्थशास्त्र व्यक्तिगत मात्राओं का अध्ययन नहीं करता वरन् इन मात्राओं के समूहों का अध्ययन करता है, व्यक्तिगत आयों का नहीं वरन राष्ट्रीय आय, व्यक्तिगत कीमतों का नहीं वरन सामान्य कीमत स्तर का, व्यक्तिगत उत्पादन का नहीं वरन राष्ट्रीय उत्पादन का।[1]

प्रो० गार्डनर ऐक्ले के शब्दों में -

समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध एक अर्थव्यवस्था में उत्पादन की समस्त मात्रा जैसे चरों, साधनों का किस सीमा तक प्रयोग किया जा रहा है, राष्ट्रीय आय के आकार तथा सामान्य कीमत-स्तर से है।[2]

प्रो० शेपीरो के अनुसार —

समष्टि अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली से सम्बन्धित होता है।[3]

समष्टि अर्थशास्त्र के लाभ एवं महत्व
(Advantages & Importance of Macro Economics)

वर्तमान समय में समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व बहुत बढ़ गया है। आज दुनियाँ के सभी देश अपनी प्रगति और विकास में लगे हुए हैं। आर्थिक विश्लेषण के बहुत से महत्वपूर्ण विषयों जैसे पूर्ण रोजगार, सामान्य कीमत-स्तर, राष्ट्रीय आय, कुल उत्पादन, कुल

---

1. 'Macro Economics deals not with individual quantities as such but with the aggregates of these quantities not with individual incomes but with national income not with individual prices but with price level not with individual output but with the national output' — *K E Boulding*

2. 'Macro Economics concerns with such variables as the aggregate volume of the output of an economy with the extent to which its resources are employed, with the size of national income and with the general price level" — *Gardner Ackley*

3. Macro Economics deals with functioning of the economy as a whole" —*Shepiro*

बचत कुल विनियोग विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मौद्रिक तथा राजकोषीय नीति भुगतान सन्तुलन राजस्व औद्योगिक नीति व्यापार चक्र आर्थिक नियोजन बैंकिंग आदि का अध्ययन समष्टि आर्थिक विश्लेषण की विषय-वस्तु हैं। किसी देश के विकास के लिए इन विषयों के अध्ययन एवं उनके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का अध्ययन एवं सुझाव आदि के लिए समष्टि अर्थशास्त्रीय अध्ययन की आवश्यकता होती है। समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व एवं लाभों को निम्न तथ्यों के आधार पर आंका जा सकता है—

(1) **सरकार की विभिन्न आर्थिक नीतियों के निर्धारण में समष्टि अर्थशास्त्र की भूमिका**— वर्तमान युग में सार्वजनिक कार्यों में विस्तार हुआ है और सरकार को जनता के कल्याण की विभिन्न योजनाएं चालू करनी पड़ती है। सरकार समष्टिगत तत्वों की सहायता से विभिन्न आर्थिक योजनाओं का निर्माण करती है जो आगे चलकर देश में रोजगार आय उत्पत्ति का मात्रा विनियोग उपभोग बचत के स्तर को निर्धारित करते हैं। अर्थव्यवस्था के स्वरूप के आधार पर सरकार समष्टिगत नीतियां बनाती है।

(2) **देश के आर्थिक विकास की जानकारी में समष्टि अर्थशास्त्र का महत्व**—किसी भी देश के आर्थिक विकास की जानकारी के लिए हमें समष्टि अर्थशास्त्रीय अध्ययन अथवा व्यापक चरों को निर्धारित करने वाले तत्वों का अध्ययन करना पड़ता है। राष्ट्रीय विकास को निर्मित करने वाले तत्वों का अध्ययन करके ही देश की विकासात्मक स्थिति का अध्ययन सम्भव हो सकता है। विभिन्न देशों की आर्थिक प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए भी समष्टि अर्थशास्त्र एक महत्वपूर्ण आधार है। देश में स्फीतिक अथवा अवस्फीतिक जानकारी हेतु हमें सामान्य कीमत-स्तर का प्रयोग करना पड़ता है जो हमें समष्टिगत अर्थशास्त्रीय अध्ययन से प्राप्त होता है।

(3) **समष्टिगत मात्राओं का पृथक से अध्ययन करना अनिवार्य होता है**—समष्टिगत मात्राओं की अपनी एक पृथक विशेषता होती है जिसके कारण इनका पृथक से अध्ययन अनिवार्य होता है। समष्टि अर्थशास्त्र में आवश्यक परिवर्तन होते रहते हैं तथा उसका अस्तित्व बना रहता है जैसा कि अर्थव्यवस्था में पुराने उद्योगों का स्थान नये उद्योग लेते रहते हैं तथा अर्थव्यवस्था का अस्तित्व बना रहता है।

(4) **व्यष्टि अर्थशास्त्र की व्याख्या के लिए समष्टि अर्थशास्त्र की आवश्यकता होती है**—किसी साधन की मजदूरी निर्धारित करने हेतु हम सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में प्रचलित सामान्य मजदूरी व्यवस्था का अध्ययन करना होगा। उदाहरणार्थ जब सामान्य कीमत स्तर सुचवाक बढ़ रहा हो तो हमें एक साधन विशेष की मजदूरी बढ़ानी होगी। इसका आशय यह है कि किसी फर्म या साधन विशेष की मजदूरी पर देश के सामान्य कीमत स्तर का प्रभाव पड़ता है। अर्थात व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए समष्टिगत अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता होती है।

( ) **आर्थिक समस्याओं का समाधान** समष्टिपरक अर्थशास्त्र के अध्ययन से अर्थशास्त्री को आर्थिक समस्याओं के समाधान में काफी सहायता मिलती है।

(6) **सामान्य रोजगार की प्राप्ति में सहायक**—वर्तमान कल्याणकारी राज्यों के सम्मुख बेरोजगारी की भीषण समस्या है और सभी इसके समाधान के लिए प्रयत्नशील है। पूर्ण रोजगार अथवा अधिकतम रोजगार की प्राप्ति वर्तमान समष्टि आर्थिक विश्लेषण के माध्यम से हो सकती है। इस प्रकार सामान्य रोजगार की प्राप्ति की दिशा में समष्टिपरक अर्थशास्त्र सहायक हो सकता है।

(7) विकास सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण में सहायक— समष्टिपरक अर्थशास्त्र ने राष्ट्रीय आय तथा सामाजिक लेखाओं जैसे विषयों के अध्ययन को महत्वपूर्ण बनाया है। इनके द्वारा हम किसी देश की आर्थिक स्थिति का पता लगा सकते हैं। समष्टि-परक आर्थिक विश्लेषण ने अर्द्ध-विकसित देशों की विकास सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन और इनके निराकरण को सम्भव बनाया है।

आर्थिक समष्टिभाव की सीमाएँ एवं दोष

(Limitations and Disadvantages of Macro Economics)

आर्थिक समष्टिभाव के लाभ के अलावा इसके कुछ प्रमुख दोष एवं सीमाएँ निम्न प्रकार हैं —

(1) व्यक्तिगत इकाइयों के अध्ययन के लिए अपर्याप्त— समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत केवल समूहों, औसतों अथवा कुल का अध्ययन किया जाता है और इसमें व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन नहीं होता है। जब कि व्यक्तिगत इकाई का अध्ययन अर्थव्यवस्था में जरूरी होता है जो समष्टिगत अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं होता। इस प्रकार समष्टिगत अर्थशास्त्र अधूरा है।

(2) भ्रामक स्थिति का परिचायक— समष्टिगत अर्थशास्त्र का आधार मानकर जो नीतियाँ बनाई जाती हैं वह कभी-कभी भ्रामक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। उदाहरणार्थ यदि देश का कीमत स्तर सामान्य है तो इससे यह अनुमान लगाना गलत होगा कि सभी वस्तुओं की कीमतों में सामान्य स्थिति हो। कुछ की कीमत बढ़ रही होगी तो कुछ की गिर रही होगी।

(3) समष्टिगत मात्राओं की प्रगति में असुविधा- जब व्यष्टिगत मात्राओं के योग द्वारा समष्टिगत मात्राओं को प्राप्त किया जाता है तो वह उपयुक्त नहीं हो सकता। सभी वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों को मुद्रा में व्यक्त करके राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना कठिन होता है। यदि अनुसन्धानकर्ता का दृष्टिकोण पक्षपातपूर्ण हो तो भी निष्कर्ष सही नहीं होंगे। इस प्रकार समष्टिगत मात्राओं का सही अनुमान लगाने में अनेक कठिनाइयों का अनुभव होता है।

व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर

(Distinction between Micro and Macro Economics)

व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर निम्न प्रकार से देखा जा सकता है —

(1) व्यष्टि अर्थशास्त्र में छोटी-छोटी इकाइयों का अध्ययन होता है जैसे एक व्यक्ति, एक फर्म, एक परिवार, एक उद्योग आदि। जब कि समष्टि अर्थशास्त्र इकाइयों के योग अर्थात् राष्ट्रीय योगों का अध्ययन करता है जैसे कुल राष्ट्रीय आय, कुल उत्पादन, कुल बचत, कुल उपभोग तथा कुल रोजगार आदि।

(2) व्यष्टि अर्थशास्त्र अर्थव्यवस्था के सूक्ष्म अथवा एक भाग से सम्बन्धित होता है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से होता है।

(3) व्यष्टि अर्थशास्त्र में योग को तोड़ने की क्रिया (Disaggregation) को आधार माना जाता है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र का आधार योग करने की क्रिया (aggregation) होता है।

(4) व्यष्टि अर्थशास्त्र का मुख्य विषय कीमत सिद्धान्त का विश्लेषण करना होता है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र का मुख्य विषय राष्ट्रीय आय तथा रोजगार होता है।

(5) व्यष्टि अर्थशास्त्र रोजगार, आय तथा उत्पादन के वितरण को अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच परिवर्तनशील मानता है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र इन्हें स्थिर मानता है।

(6) व्यष्टि अर्थशास्त्र कीमत निर्धारण के लिए दी हुई परिस्थितियों की मान्यता पर आधारित है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र सामान्य सन्तुलन के आधार पर कुल कीमत एवं उत्पादन के विभिन्न स्तरों की व्याख्या करता है।

(7) व्यष्टि तथा समष्टि का अन्तर आर्थिक विरोधाभास (Paradoxes) के कारण भी जरूरी हो जाता है। कुछ निष्कर्ष जब एक व्यक्तिगत इकाई पर लागू किए जायें तो उचित प्रतीत होते हैं। परन्तु जब उन्हें समस्त अर्थव्यवस्था पर लागू किया जाये तो अनुचित होता है। जैसे यदि एक जमाकर्ता बैंक से अपनी जमा पूंजी निकाल ले तो वह अनुचित नहीं कहलायेगा। परन्तु सभी जमाकर्ताओं का व्यवहार ऐसा होगा तो बैंक फेल हो जायेंगे। यह आर्थिक विरोधाभास का उदाहरण है।

(8) समष्टि अर्थशास्त्र तथा व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर को जंगल का उदाहरण देकर प्रो० बोल्डिंग (Prof Boulding) ने समझाया है। समष्टि अर्थशास्त्र यदि एक जंगल का अध्ययन है तो व्यष्टि अर्थशास्त्र एक पेड़ का अध्ययन मात्र है।

व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर बड़ी सावधानी से करना चाहिए। इसका कारण यह है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र में भी समूहों का अध्ययन किया जाता है परन्तु यह समूह उन समूहों से अलग होते हैं जिनका सम्बन्ध समष्टि अर्थशास्त्र से होता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में एक उद्योग की वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन तथा रोजगार सम्बन्धी नीतियों का अध्ययन किया जाता है। एक उद्योग बहुत सी फर्मों का समूह होता है जो एक समान वस्तुओं का उत्पादन कर रही होती है। इसी प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र में भी समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ व्यष्टि अर्थशास्त्र बाजार माँग और पूर्ति की परस्पर क्रियाओं द्वारा एक वस्तु की कीमत निर्धारण की व्याख्या करता है। किसी वस्तु की बाजार माँग व्यक्तिगत उपभोक्ताओं की माँग का योग होती है।

हमें यहाँ यह बात ध्यान रखना चाहिए कि समष्टि अर्थशास्त्र में जिन समूहों का अध्ययन होता है वे भिन्न प्रकृति के होते हैं। उदाहरणार्थ समष्टि अर्थशास्त्र उन समूहों की व्याख्या करता है जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से होता है। इसमें अर्थशास्त्र के बड़े समूहों एवं उनके उप समूहों की व्याख्या की जाती है जो व्यष्टि अर्थशास्त्र के समूहों से भिन्न होते हैं।

प्रोफेसर गार्डनर ऐक्ले के विचार इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं वे कहते हैं, 'समष्टिपरक अर्थशास्त्र में भी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से छोटे समूहों का प्रयोग किया जाता है, परन्तु इनकी प्रकृति इस प्रकार की होती है कि वे पूर्ण अर्थव्यवस्था के योग के उप-विभाग बन जाते हैं। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र भी समूहों का प्रयोग करता है परन्तु पूर्ण अर्थव्यवस्था के योग के सन्दर्भ में नहीं।

व्यष्टि तथा समष्टि के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा खींचना उपयुक्त नहीं है। व्यष्टि चर (Micro Variables) समष्टि का रूप ले सकते हैं और समष्टि चर (Macro-Variables) व्यष्टि की परिधि में पहुँच सकता है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि दोनों में सावधानीपूर्वक अन्तर करना चाहिए। व्यष्टि अर्थशास्त्र में योगों का सम्बन्ध अर्थव्यवस्था के एक भाग से तथा समष्टि अर्थशास्त्र में योगों का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से होता है। इन दोनों में अन्तर उनकी विषय सामग्री का नहीं वरन् इन दोनों हेतु प्रयोग की जाने वाली रीति का होता है।

व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र एक दूसरे के पूरक है
(Micro and Macro Economics are Complimentary to each Other)

व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र के उपर्युक्त अन्तर के आधार पर हम इन दोनों को एक दूसरे का प्रतियोगी नहीं समझना चाहिए वरन् यह तो एक दूसरे के पूरक हैं क्योंकि एक को समझने के लिए दूसरे की आवश्यकता होती है। यह बात निम्न तथ्यों से साबित होती है —

(I) व्यष्टि या सूक्ष्म अर्थशास्त्र को समष्टि या व्यापक अर्थशास्त्र की आवश्यकता—

(1) बाजार में एक वस्तु की कीमत केवल उस वस्तु की माँग और पूर्ति पर ही निर्भर नहीं करता वरन् इसका मूल्य सम्बन्धित वस्तुओं की माँग और पूर्ति द्वारा भी प्रभावित होता है।

(2) उत्पत्ति के एक साधन की कीमत या पुरस्कार का निर्धारण व्यष्टि अर्थशास्त्र का विषय वस्तु है। परन्तु यह पुरस्कार अन्य फर्मों का दी जाने वाली मजदूरियों पर निर्भर करेगा।

(3) एक फर्म की उत्पादन नीति क्या हो इसके लिए फर्म के उत्पादक को अपनी वस्तु के लिए समाज की कुल माँग तथा देश में व्याप्त आय एवं रोजगार के स्तर को भी देखना होगा।

(II) समष्टि अर्थशास्त्र के लिए व्यष्टि अर्थशास्त्र की आवश्यकता—

(1) सभी फर्में एक उद्योग का रूप ग्रहण करता है तथा सब उद्योग सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

(2) समाज व्यक्तियों का समूह होता है इस प्रकार समाज का निर्माण व्यक्ति करते हैं।

(3) राष्ट्रीय आय की गणना का आधार व्यक्तिगत आय ही होता है अर्थात् तब तक राष्ट्रीय आय की गणना नहीं हो सकती जब तक व्यक्तिगत आयों या उत्पादकों के उत्पादन को जोड़ न लिया जाए।

(4) समाज में आर्थिक क्रियाओं का स्तर उपभोग की मात्रा कुल उत्पादन कुल बचत कुल विनियोग कुल रोजगार आदि की मात्रा अनगिनित फर्मों के निर्णयों के कारण दिखाई देता है।

निष्कर्ष—व्यष्टि तथा समष्टि दोनों ही एक दूसरे के लिए जरूरी हैं। प्रो० सैम्युलसन ने दोनों के महत्व को बताते हुए कहा है कि वास्तव में व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों ही आवश्यक है। यदि आप एक को समझते है तथा दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं तो आप केवल अर्द्ध शिक्षित हैं।

"There is really no opposition between Micro and Macro Economics Both are absolutely vital You are only half educated if you understand the one while being ignorant of the other —*Samuelson*

परीक्षा-प्रश्न

1 व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर बताइए। इन दोनों के मध्य क्या सम्बन्ध है ?

(Distinguish between Micro and Macro Economics What is the relationship between the two ?)

2 समष्टि अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए। इसके महत्व प्रकृति तथा सीमाओं को बताइए।

(Define Macro Economics Discuss its importance nature and limitations)

3 सूक्ष्म तथा व्यापक अर्थशास्त्र के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा आर्थिक विश्लेषण में समष्टि दृष्टिकोण की आवश्यकता बताइए।

(Distinguish between Micro and Macro Economics and explain the need of macro approach in economic analysis)

4 वास्तव में सूक्ष्म तथा व्यापक अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों ही आवश्यक है। यदि आप एक को समझते हैं तथा दूसरे से अनभिज्ञ रहते है तो आप केवल अर्द्ध शिक्षित है। सैम्युलसन के इस कथन की व्याख्या कीजिए।

(There is really no opposition between Micro and Macro Economics Both are absolutely vital You are only half educated if you under stand the one while being ignorant of the other Discuss this statement) —*Samuelson*

[संकेत—यह कथन अर्थशास्त्री प्रा० सैम्युलसन का है। दोनों की परिभाषा तथा सीमाएँ दीजिए। फिर दोनों के बीच विरोधाभासों की चर्चा कीजिए। अन्त में बताइए कि फिर भी दोनों एक दूसरे के पूरक है।]

5 टिप्पणी लिखिए—

व्यष्टि तथा समष्टि अर्थशास्त्र

(Write notes on Micro and Macro Economics)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

निम्नलिखित प्रश्नों में से कौन सा सही है और कौन-सा गलत है —

(i) माइक्रो अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित है।

(ii) मैक्रो अर्थशास्त्र का सम्बन्ध अर्थव्यवस्था तथा उससे सम्बन्धित योगों से होता है।

(iii) समष्टि अर्थशास्त्र का आधार योग करने की क्रिया (aggregation) है जब कि व्यष्टि अर्थशास्त्र का आधार योग तोड़ने की क्रिया (Disaggregation) है।

(iv) समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक नीतियों के निर्माण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

(v) माइक्रो अर्थशास्त्र के अन्तर्गत द्रव्य तथा वित्त का अध्ययन होता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) गलत है। (ii) सही है। (iii) सही है। (iv) सही है। (v) गलत है।

National income is the net output of commodities and services flowing during the year from country's productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country's stock of capital goods.'
— *Simon Kuznets*

अध्याय 2

राष्ट्रीय आय
(NATIONAL INCOME)

राष्ट्रीय आय का अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्रीय अध्ययन का एक महत्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रीय आय से हमारा आशय किसी राष्ट्र की एक वर्ष की अवधि में उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं के मौद्रिक मूल्य से होता है। वर्तमान समय में राष्ट्रीय आय को कुल राष्ट्रीय उत्पाद तथा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद आदि शब्दों में व्यक्त करने का चलन बढ़ गया है। राष्ट्रीय आय की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी गई हैं—

राष्ट्रीय आय की परिभाषाएँ (Definitions of National Income)—

प्रो० मार्शल की परिभाषा

प्रो० मार्शल के शब्दों में — 'एक देश के प्राकृतिक साधनों पर श्रम तथा पूँजी द्वारा कार्य करने पर प्रत्येक वर्ष भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं का जो उत्पादन होता है। यही शुद्ध वार्षिक आय अथवा देश का आगम अथवा राष्ट्रीय लाभांश है।[1]

प्रो० मार्शल की परिभाषा से ज्ञात होता है कि देश की उत्पादक क्रियाओं द्वारा प्राप्त शुद्ध उत्पादन को जोड़ लिया जाए तो हमें शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति का पता चल जाएगा। कुल उत्पादन में से मशीनों की घिसावट को घटाकर विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय को राष्ट्रीय उत्पत्ति में जोड़ देना चाहिए।

आलोचना—*प्रो० मार्शल की परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टि से अच्छी, सरल व ठोस* मालूम पड़ती है परन्तु इसके प्रमुख दोष निम्नवत् हैं —

(1) देश में उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनकी कीमतों को जोड़ पाना एक कठिन कार्य है।

(2) कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनकी समस्त मात्रा बाजार में बिकने के लिए नहीं आती। एक उत्पादक या निर्माता वस्तु की कुछ मात्रा को अपने उपभोग के लिए अपने पास रख लेता है जिसका मौद्रिक मूल्य ज्ञात करना कठिन होता है।

---

1 The labour and capital of a country acting on its natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial including services of all kinds. This is true net annual income or revenue of the country or the national dividend.
—*Marshall*

(3) मार्शल के विचारानुसार यदि देश के कुल उत्पादन की गणना की जाएगी तो कुछ वस्तुओं को दो बार गिनने की सम्भावना बनी रहेगी।

प्रो० पीगू की परिभाषा—प्रो० पीगू के अनुसार

राष्ट्रीय आय समाज की वस्तुगत आय का जिसमें नि सन्देह विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल है वह भाग है जिसको मुद्रा में मापा जा सकता है। [1]

प्रो० पीगू के उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर राष्ट्रीय आय में केवल वे ही वस्तुएँ तथा सेवायें शामिल की जानी चाहिए जिनको हम मुद्रा रूपी पैमाने में नाप सकते हैं। प्रो० पीगू की परिभाषा को प्रो० मार्शल की परिभाषा के ऊपर एक सुधार माना जाता है। इसे अधिक व्यवहारिक सरल और निश्चित माना जाता है।

आलोचना— प्रो० पीगू की परिभाषा भी दोष मुक्त नहीं है निम्न तथ्यों के आधार पर इसकी आलोचनाएँ की जाती है।

(1) प्रो० पीगू की परिभाषा बहुत अधिक संकुचित है। पीगू ने राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं को शामिल किया है जिनका वर्ष में न केवल उत्पादन हो वरन जिनको मुद्रा में मापा भी जा सकता हो। वस्तुओं का एक ऐसा समूह भी होता है जिसका विनिमय नहीं होता जबकि इन वस्तुओं का सामाजिक कल्याण पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी वस्तुओं को राष्ट्रीय आय में न जोड़ना कहाँ तक उचित है।

(2) प्रो० पीगू की परिभाषा के अनुसार अर्थव्यवस्था में उन वस्तुओं को शामिल नहीं किया जाता जिनका आदान प्रदान वस्तु-विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत होता है। इनकी परिभाषा अर्द्ध-विकसित देशों के लिए नहीं वरन् विकसित देशों के लिए सही हो सकती है।

(3) किसी व्यक्ति द्वारा वस्तु को अपने उपभोग के लिये रख लेने पर उसे राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जायगा। इसी प्रकार अवैतनिक कर्मचारियों की सेवाओं को भी राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जायगा। यह सारी बातें असंगतिपूर्ण है।

प्रो० फिशर की परिभाषा—प्रो० फिशर के अनुसार राष्ट्रीय लाभांश या आय में केवल अन्तिम उपभोक्ताओं द्वारा प्राप्त की जाने वाली सेवाओं चाहे उनकी प्राप्ति भौतिक पर्यावरण से हुई हो या मानवीय पर्यावरण से को शामिल किया जाता है। इस प्रकार *एक पियानो अथवा एक ओवर कोट जो मेरे लिए इस वर्ष बनाया गया है, मेरी इस वर्ष की आय का अंश न होकर पूँजी में वृद्धि मात्र है। केवल इस वर्ष में इन वस्तुओं द्वारा मेरे लिए की गई सेवाएँ ही इस वर्ष की आय है।'* [2]

---

1 'National dividend is that part of objective income of the community including of course income derived from abroad which can be measured in money. —*Pigou*

2 "National dividend or income consists solely of services as received by ultimate consumers whether from their material or from their human environment Thus a piano or an overcoat made for me this year is not a part this year s national income but an addition to capital only the services rendered me during this year by these things are income." — *Irving Fisher*

प्रो० फिशर ने राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं सेवाओं को शामिल किया है जो उपभोक्ता को एक अवधि विशेष में प्राप्त होती हैं। उनके अनुसार बहुत सी वस्तुएँ अधिक टिकाऊ होती हैं जिनका उपयोग लगातार चलता रहता है। जब हम एक वर्ष विशेष की राष्ट्रीय आय का पता लगाते हैं तो हमें केवल उस वर्ष विशेष में अमुक वस्तु के उपयोग मूल्य को ही लेना चाहिए। प्रो० फिशर की परिभाषा आर्थिक कल्याण की दृष्टि से उपयोगी तो है परन्तु यह भी दोष मुक्त नहीं है।

आलोचना—प्रो० फिशर की परिभाषा की आलोचनाएँ निम्नलिखित बातों के आधार पर की जाती हैं

(1) यह जानना अत्यन्त कठिन है कि अमुक वर्ष में अमुक वस्तु का कितना उपभोग हुआ है।

(2) किसी वर्ष की राष्ट्रीय आय को जानने के लिए पिछले वर्षों में उत्पादित विभिन्न वस्तुओं के उन भागों की कीमतें मालूम करनी होंगी जिनका उस वर्ष में उपभोग हुआ है।

(3) टिकाऊ वस्तुओं का हस्तान्तरण इस प्रकार हो सकता है कि अन्तिम स्वामी से वस्तु के प्रारम्भिक स्वामी का कोई सम्बन्ध ही न रहे तथा यह पता ही न चल सके कि वस्तु का निर्माण कब हुआ था।

राष्ट्रीय आय की कीन्स धारणा—प्रो० कीन्स प्रो० मार्शल, पीगू तथा फिशर की राष्ट्रीय आय की धारणाओं से सहमत नहीं हैं। उन्होंने कहा कि इन विद्वानों ने राष्ट्रीय आय में उन तत्वों की व्याख्या नहीं की थी जो अर्थव्यवस्था का सही चित्र प्रस्तुत कर सकें। प्रो० कीन्स ने बताया कि राष्ट्रीय आय की धारणा कुल राष्ट्रीय उत्पाद तथा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद के बीच की धारणा है। प्रो० कीन्स कहते हैं राष्ट्रीय आय को जानने के लिए सभी मूल्य ह्रास (Depreciation) तथा अप्रचलन को राष्ट्रीय आय में से नहीं घटा देना चाहिए, बरन् इसमें से केवल प्रयोगकर्त्ता लागत (users cost) को ही घटाना चाहिए। प्रयोगकर्त्ता लागत = साज-सज्जा के लिए प्रयोग किए जाने पर मूल्य ह्रास—मूल्य में कमी जब इसे प्रयोग में न लाया जाए + अनुरक्षण व्यय। इसे एक उदाहरण द्वारा भी समझ सकते हैं। माना कि हम मशीन को उद्योग में लगाते हैं तो इसकी कीमत 1500 रुपये है परन्तु जब इसको काम में लाया जाए तो इसकी कीमत 1000 रुपये रह जाती है अर्थात् मशीन को प्रयोग में लाने पर इसकी कीमत में 500 रुपये मूल्य का ह्रास हो गया। यदि हम मशीन को प्रयोग में नहीं लाया जाता तो इसके मूल्य में थोड़ी सी गिरावट आती क्योंकि धीरे-धीरे मशीन में थोड़ी जंग आदि लग जाती और इसकी सफाई आदि में यदि 50 रुपये का व्यय होता तो इस अनुरक्षण व्यय (Maintenance cost or expenditure) कहा जाएगा। इस प्रकार प्रयोगकर्त्ता लागत 500 रुपये—मशीन के प्रयोग न करने की स्थिति में 200 रुपये मूल्य में कमी हो जाती है + 50 रुपये का अनुरक्षण व्यय हो तो प्रयोगकर्त्ता लागत 500 — 250 = 250 रुपये होगी। प्रो० कीन्स कहते हैं कि प्रयोगकर्त्ता लागत को घटाकर अर्थव्यवस्था में किसी अवधि विशेष की राष्ट्रीय आय निकालनी चाहिए। प्रो० कीन्स के अनुसार शुद्ध राष्ट्रीय आय को जानने का निम्न सूत्र है—

शुद्ध राष्ट्रीय आय = A — U — V

A = कुल राष्ट्रीय आय
U = प्रयोगकर्त्ता लागत
V = पूरक लागत

V – पूरक लागत से आशय उस लागत से होता है जो अनिश्चित होती है। इस प्रकार के व्यय अनियन्त्रित तथा अनैच्छिक होते हैं। जैसे अप्रचलन व्यय मशीनों का पुराना पड़ जाना आदि

राष्ट्रीय आय की कुछ अन्य परिभाषाएँ– प्रो० कीन्स के बाद राष्ट्रीय आय की कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा परिभाषाएँ दी गई हैं जिन्हें हम राष्ट्रीय आय की आधुनिक परिभाषाएँ भी कह सकते हैं।

प्रो० सैम्युलसन के शब्दों में— राष्ट्रीय आय अथवा उत्पाद वह अंतिम संख्या है जिसे आप विविध वस्तुओं, सेवों, सन्तरों तथा मशीनों जिन्हें कोई समाज उपलब्ध भूमि श्रम तथा पूँजीगत साधनों से उत्पादित करता है का मौद्रिक माप लेने पर प्राप्त किया जाता है।

भारतीय राष्ट्रीय आय समिति (Indian National Income Committee) के अनुसार— *राष्ट्रीय आय एक निश्चित समय में वस्तुओं तथा सेवाओं का माप है। इसमें देश की समस्त आर्थिक क्रियाओं को शामिल किया जाता है चाहे उसका सम्बन्ध जूतों तथा जहाजों के निर्माण से हो अथवा चिकित्सालय या न्यायालय सम्बन्धी सेवायें प्रदान करने से हो।*

प्रो० साइमन कुजनेट्स के शब्दों में— *राष्ट्रीय आय वस्तुओं तथा सेवाओं की वह विशुद्ध उत्पत्ति है जो एक वर्ष में देश की उत्पादन प्रणाली में अंतिम उपभोक्ताओं के पास पहुँचती है अथवा देश के पूंजीगत वस्तुओं के स्टाक में विशुद्ध रूप से वृद्धि करती है।*

राष्ट्रीय आय की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आय की व्याख्या प्रमुख रूप से तीन प्रकार से हो सकती है —

(1) प्राप्तियों की कुल मात्रा की दृष्टि से

(2) व्यय की कुल मात्राओं की दृष्टि से

(3) *उत्पादित मात्रा के कुल मूल्य की दृष्टि से।*

राष्ट्रीय आय की अन्य धारणाएँ
(Other Concepts of National Income)

राष्ट्रीय आय की कुछ प्रमुख धारणायें निम्न प्रकार से हैं—

(1) **कुल राष्ट्रीय उत्पाद** (Gross National Product– GNP) *एक वर्ष की अवधि में जो भी वस्तुएँ तथा सेवायें उत्पादित की जाती है उन सभी के बाजार मूल्य को कुल राष्ट्रीय आय कहा जायगा। इस धारणा की दो प्रमुख बातें हैं—प्रथम तो यह कि एक वर्ष भर में उत्पादित वस्तुओं को मुद्रा के मूल्य में जोड़ा जाता है दूसरे यह कि कुल उत्पादन में केवल अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य जोड़ा जाता है। ऐसी गणना करते समय माध्यमिक वस्तुओं जैसे रुई कच्चा लोहा आदि को शामिल नहीं करना चाहिये।*

कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में जो मशीन अथवा अचल पूँजी की घिसावट या मूल्य ह्रास हो इसे शामिल नहीं करना चाहिये। कुल राष्ट्रीय आय की यह धारणा राष्ट्रीय आय की गणना के प्रयोग में सबसे अधिक प्रयोग में लाई जाती है। यह विचार एक अवधि विशेष में उत्पादन तथा रोजगार सम्बन्धी दशाओं का एक विश्वसनीय सूचकांक है। सांख्यिकीय दृष्टि से यह सरल धारणा है क्योंकि इसमें मूल्य ह्रास को घटाने की आवश्यकता नहीं होती है।

(2) **शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (Net National Product-NNP)**—कुल राष्ट्रीय उत्पाद में से पूँजीगत वस्तुओं जैसे मशीन तथा यन्त्र आदि की घिसावट पर होने वाले व्यय को घटाने पर जो कुछ बचता है उसे शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं। इसे बाजार मूल्यों पर राष्ट्रीय आय (National Income at Market Prices) भी कहा जाता है। शुद्ध राष्ट्रीय आय की धारणा की विशेषता यह है कि यह चालू उपभोग एवं चालू प्रतिस्थापित निवेश के ऊपर कुल उत्पादन में वृद्धि को स्पष्ट करती है और आर्थिक विकास के लिए पूँजी की उत्पादकता में होने वाली विशुद्ध वृद्धि को बताती है। इस गुण के कारण इसका विकास के अर्थशास्त्र (Economics of Growth) के लिए विशेष महत्व है।

इस पद्धति की प्रमुख कठिनाई यह है कि एक समय विशेष में मूल्य ह्रास का अनुमान वास्तविकता से काफी दूर होता है। इसका कारण यह है कि मूल्य ह्रास को जानने के लिए साजसज्जा के कुल मूल्य में उसके जीवन अवधि के वर्षों से भाग देना होता है। साजसज्जा के जीवन काल का पता लगाना स्वयं कठिन है। इसके अतिरिक्त एक वर्ष विशेष में साजसज्जा की कीमत में वृद्धि हो जाने पर यह समस्या और गम्भीर हो जाती है कि पुरानी कीमत पर या नई कीमत पर मूल्य ह्रास निकाला जाय। यदि एक मशीन अपने अनुमानित जीवनकाल के पहले ही अप्रचलित हो जाय तो मूल्य ह्रास की समस्या और भी कठिनाई पैदा कर देती है।

(3) **साधन लागत पर राष्ट्रीय आय (National Income at Factor Cost)**—देश में कुल वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन उत्पत्ति के साधनों के सामूहिक प्रयास का परिणाम होता है। इस प्रकार कुल उत्पत्ति का जो मौद्रिक मूल्य होता है उसे ही उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के बीच बाँट दिया जाता है। उत्पत्ति के साधनों ने जितनी आय अर्जित की है जैसे भूस्वामी ने लगान, श्रमिक ने मजदूरी, पूँजीपति ने ब्याज, साहसी ने लाभ आदि प्राप्त किया है इसे साधन लागत पर राष्ट्रीय आय कहा जाएगा। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को यह आय उनकी अपनी साधन लागत पर प्राप्त हुई है।

साधन लागत पर राष्ट्रीय आय जानने के लिए हमें शुद्ध राष्ट्रीय आय में से अप्रत्यक्ष कर घटा देना चाहिए तथा सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता जोड़ देना चाहिए। इसे एक सूत्र द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं।

साधन लागत पर राष्ट्रीय = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन − अप्रत्यक्ष कर + सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता

National Income at Factor Cost = Net National Product − Indirect Taxes + Subsidies

(4) **वैयक्तिक आय (Personal Income)**—यह वह कुल आय है जिसे लोगों ने विभिन्न स्रोतों से प्राप्त किया है। इसके अन्तर्गत मजदूरी तथा वेतन, लगान, ब्याज तथा लाभांश, स्वयं रोजगार प्राप्त लोगों की आय जैसे किसान, डाक्टर, दुकानदार आदि की आय को शामिल किया जाता है। एक वर्ष की समयावधि में उत्पादन के साधनों द्वारा जो आय अर्जित की जाती है वह पूरी की पूरी उन्हें नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि इसमें कई प्रकार की कटौतियाँ की जाती हैं। उदाहरणार्थ एक संयुक्त पूँजी कम्पनी के अंशधारियों द्वारा आय का कुछ भाग कर के रूप में सरकार को दे दिया जाता है। इसी प्रकार श्रमिकों तथा अन्य वेतन भोगी कर्मचारियों को उन्हें प्रदान की जाने वाली सामाजिक सुरक्षा सेवाओं के बदले में नाममात्र की कटौतियाँ की जाती है। ठीक इसी प्रकार उत्पत्ति के साधनों को बिना उत्पादन कार्य किए हुए कुछ रकम प्राप्त हो जाती है जैसे वृद्धावस्था पेंशन, बेरोजगारी भत्ता आदि। इसे हस्तान्तरण आय भी कहते हैं।

जब हमें राष्ट्रीय आय को वैयक्तिक आय द्वारा मालूम करना हो तो हमें आय के उस भाग को जो कमाया तो गया है परन्तु उसकी वास्तविक प्राप्ति उत्पत्ति के साधन को नहीं हुई है घटा देना चाहिए, और वह रकम जो बिना कमाए प्राप्त हुई हो उसे जोड़ देना चाहिए।

5 उपभोग्य आय (Disposable Income)— एक व्यक्ति की अपनी समस्त आय पर पूरा अधिकार नहीं होता और न ही वह इसको पूरी तरह से इच्छानुसार व्यय, बचत या अन्य प्रकार से उपयोग कर सकता है। उसे अपनी आय में से आय कर सम्पत्ति कर तथा बीमा सम्बन्धी कुछ कटौतियाँ देना होती हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति के पास उपभोग्य आय वह मात्रा होती है जो व्यक्ति विशेष की आय में से सरकार को दिए जाने वाले करों या अन्य देनदारियों को देने के बाद बचती है। यह जरूरी नहीं है कि समस्त उपभोग्य आय को पूरी तरह उपभोग पर व्यय ही कर दिया जाए। प्राय ऐसा देखा जाता है कि एक व्यक्ति या परिवार अपनी उपभोग्य आय में से बचा लेता है। उपभोग्य आय को निम्न सूत्र द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है

उपभोग्य आय = उपभोग + बचत

Disposable Income = Consumption + Saving

इस विचारधारा की विशेषता यह है कि एक व्यक्ति या परिवार की उपभोग्य आय क्या होगी। यह इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करेगा कि सरकारी वित्तीय नीति कैसी है। यदि सरकार न अधिक कर लगा रखे है तो उपभोग्य आय कम रहेगी।

6 वास्तविक आय (Real Income) राष्ट्रीय आय को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है। परन्तु मुद्रा की क्रयशक्ति में कीमत-स्तर में परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है। यदि कीमत-स्तर बढ़ जाता है तो मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है और कीमत-स्तर गिरने का आशय मुद्रा की क्रय शक्ति के बढ़ने से लगाया जाता है। यदि हमें किसी विशेष समयावधि में वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में राष्ट्रीय आय का पता लगाना है तो निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग करना चाहिए।

$$\text{वास्तविक आय स्थिर मुद्रा के रूप में} = \frac{\text{नकद आय वर्तमान मुद्रा में}}{\text{वर्तमान समय में सूचकांक}}$$

$$\text{Real Income in Terms of Constant Prices} = \frac{\text{Nominal income in Current money}}{\text{Price Index for Current Period}}$$

राष्ट्रीय आय का माप (*Measurement of National Income*)—*राष्ट्रीय आय* के सम्बन्ध में तीन प्रमुख विचारधाराओं का स्थान है। प्रथम कुल आय या प्राप्ति, दूसरे कुल व्यय तथा तीसरे कुल उत्पादन का मूल्य, यह तीनों ही धारणाएँ इस तथ्य पर आधारित *हैं कि एक समय में प्रत्येक व्यय दूसरे व्यक्ति की आय होता है। इन्हीं विचारधाराओं के* आधार पर राष्ट्रीय आय का माप किया जाता है। जैसे (1) उत्पादन प्रणाली, (Product Method) (2) आय प्रणाली (Income Method) तथा (3) व्यय प्रणाली (Expenditure Method) इनको पृथक् रूप से निम्न प्रकार व्यक्त किया जाता है

(1) उत्पादन प्रणाली (Product Method)- इस विचारधारा को वस्तु सेवा प्रणाली (Commodity Service Method) भी कहते हैं। इस प्रणाली में उत्पादन के कुल मूल्य को ज्ञात कर लिया जाता है जैसे बिक्री + स्वयं उपभोग ; स्टॉक में वृद्धि ।

सभी क्षेत्रों के कुल उत्पादित मूल्य को ज्ञात करने के बाद इसमें से अन्य उद्योगों या क्षेत्रों से खरीदे गए पदार्थों के मूल्य तथा उत्पादन पूँजी मूल्य ह्रास को घटा दिया जाता है और इस प्रकार शुद्ध उत्पादन मूल्य को ज्ञात कर लिया जाता है। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों से हुए विशुद्ध उत्पादन के मूल्यों को जोड़कर तथा विदेशी व्यापार से प्राप्त शुद्ध आय को जमा करके कुल शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन ज्ञात कर लिया जाता है।

राष्ट्रीय आय के माप की यह विधि उन देशों में प्रयुक्त होती है, जहाँ राष्ट्रीय उत्पादन की गणना होती है तथा उद्योगों एवं अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित आँकड़े उपलब्ध होते हैं।

(2) **आय प्रणाली (Income Method)**— इस प्रणाली के अन्तर्गत उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को प्राप्त होने वाली आय का जोड़कर राष्ट्रीय आय का निकाला जाता है। इस प्रणाली द्वारा राष्ट्रीय आय निकालते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए

(i) इसके अन्तर्गत हस्तातरण भुगतान को नहीं जोड़ना चाहिए जैसे वृद्धावस्था में पेंशन तथा निर्धन लोगों को सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता आदि।

(ii) जिन सेवाओं के बदले में मुद्रा का भुगतान नहीं किया जाता उन सेवाओं को राष्ट्रीय आय की गणना के समय शामिल नहीं किया जाना चाहिए।

(iii) उत्पादक द्वारा जो सेवाएँ प्रदान की जा रही हों और यदि व लागत का अंग है तो उन्हें शामिल किया जाना चाहिए।

(iv) संयुक्त पूँजी कम्पनी या अन्य फर्मों द्वारा जो धनराशि रिजर्व निधि में डाल दी जाती है उसे शामिल नहीं करना चाहिए क्योंकि इस धनराशि का साधारण के रूप में वितरण नहीं होता है।

इस विधि का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके द्वारा उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के राष्ट्रीय आय में से उनके भाग या हिस्से का आसानी से पता चल जाता है और साधन विशेष की वास्तविक आर्थिक स्थिति का अनुमान भी लगाया जा सकता है।

(3) **व्यय प्रणाली (Expenditure Method)**— इस प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिए सभी प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं पर किए गए व्यय को जोड़ा जाता है। एक देश में जितना उत्पादन हुआ है उसे बाजार मूल्यों पर खरीदने के लिए व्यय किया जाता है। जितनी भी आय होती है वह पूरी व्यय नहीं की जाती है, इसका एक भाग बचाकर रख लिया जाता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का जानने के लिए एक वर्ष के अन्तर्गत कुल व्यय+कुल बचत को ज्ञात किया जाता है।

इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इन देशों में जहाँ व्यक्तिगत उपभोग या व्यय तथा बचत सम्बन्धी विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, राष्ट्रीय आय को ज्ञात करना आसान नहीं है। इसलिए अर्द्ध-विकसित देशों में राष्ट्रीय आय को जानने के लिए यह प्रणाली उपयुक्त नहीं है। विकसित देशों में भी इसके इस अवगुण के कारण इसका उपयोग सीमित ही है।

राष्ट्रीय आय की गणना की अन्य प्रणालियाँ
(Other Methods of Measuring National Income)

4. **सामाजिक लेखांकन प्रणाली (Method of Social Accounting)**— पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय आय को ज्ञात करने के लिए सामाजिक लेखांकन प्रणाली का विकास

किया गया है। इस प्रणाली का प्रतिपादन डा० रिचार्ड स्टोन (Dr Richardstone) ने किया था। आगे म इसे विकसित करने म प्रो० जे० एम० कीन्स प्रो० मीड प्रो० ज० आर० हिक्स आदि अर्थशास्त्रियों ने अपना योगदान दिया।

सामाजिक लेखांकन अथवा राष्ट्रीय लेखांकन एक ऐसी प्रणाली है जिसके माध्यम से हम न केवल राष्ट्रीय आय की गणना ही नही करते वरन इससे देश की समस्त आर्थिक सरचना क्षत्रीय अन्तसम्बन्धो तथा आर्थिक क्रियाओ का विभिन्न लेखो के रूप म एक सांख्यिकीय चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है। प्रो० ईडी एलन पीकाक तथा कूपर आदि विद्वानो ने सामाजिक लेखांकन की परिभाषा इस प्रकार दी है सामाजिक लेखांकन की यह प्रणाली मनुष्यो तथा मानवीय सस्थाओ की सम्पूर्ण क्रियाओ के सांख्यिकीय वर्गीकरण से इस प्रकार सम्बन्धित है जो हम सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के परिचालन को समझाने म सहायक सिद्ध होती है। इसके अन्तगत आर्थिक क्रियाओ का मात्र वर्गीकरण ही नही किया जाता वरन् आर्थिक प्रणाली व चलन की विस्तृत जाँच हेतु एकत्रित सूचना के प्रयोग का भी समावेश किया जाता है।[1]

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सामाजिक लेखांकन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के समष्टि आर्थिक तत्वो का विवरण अथवा लेखा जोखा है जिसे सांख्यिकीय रूप से व्यक्त कर सकते ह। इसम उत्पादन आय व्यय विनियोग सम्बन्धी सभी प्रकार के लेखे शामिल होते ह। दूसरे शब्दो म हम यह सकते है कि सामाजिक लेखांकन मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की आर्थिक क्रियाओ का वितरण होता है। इन क्रियाओ के आपसी सम्बन्धो को इसमे दिखाया जाता है।

सामाजिक लेखांकन का प्रस्तुतीकरण (Presentation of Social Accounting) सामाजिक लेखांकन प्रणाली की कार्य विधि इस प्रकार है कि जब उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओ के उपयोग हेतु मुद्रा व्यय करते ह तो मुद्रा का प्रवाह (Flow) व्यक्तियो से उत्पादन प्रतिष्ठानो की ओर होता है। उत्पादक जब इस मुद्रा को उत्पत्ति के विभिन्न साधनो को देता है तो मुद्रा का प्रवाह इन उत्पादन प्रतिष्ठानो से पुन व्यक्तियो की ओर होने लगता है। आय व्यय के प्रवाहो (Flows of Income and Expenditure) के पारस्परिक सम्बन्ध ही सामाजिक लेखाकन प्रणाली का आधार है। निजी लेखो की तरह सामाजिक लेखा को भी दोहरी प्रविष्टि के आधार पर बनाया जाता ह। जैसा कि हम जानते है कि एक व्यवसायिक इकाई तीन प्रकार के अपने खाते को रखती है जैसे—(i) उत्पादन लेखा (Production Account) (ii) आय व्यय लेखा (Income Expenditure Account) तथा (iii) बचत विनियोग लेखा (Saving Investment Account) ठीक इसी प्रकार से अर्थव्यवस्था के लेखे भी होते हैं।

---

1 Social accounting then is concerned with the statistical classification of the activities of human beings and human institutions in a way which help us to understand the operation of the economy as a whole The field of studies summed up by the words Social accounting embraces however not only the classification of economic activity, but also the application of the information thus assembled to the investigation of the operation of the economic system

—*Edey Peacock and Cooper*

[illegible]

सामाजिक लेखांकन के अनुसार अर्थव्यवस्था को तीन क्षेत्रों में बाँटा जाता है। जैसे—उत्पादन क्षेत्र (Productive Sector), मध्यस्थ या व्यापारी क्षेत्र (Intermediary or Business Sector) तथा अंतिम माँग या अन्तिम उपभोक्ता क्षेत्र (Last Demand or Consumer Sector)। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार अर्थव्यवस्था को पाँच भागों में बाँटा जाता है (i) उत्पादन सम्थान (ii) वित्तीय मध्यस्थ (iii) बीमा व सामाजिक सुरक्षा संस्थाएँ (iv) अन्तिम उपभोक्ता (v) बाह्य जगत (विदेशी लेन-देन)। वर्ष 1949 में भारतीय राष्ट्रीय आय समिति (Indian National Income Committee) ने अर्थव्यवस्था को तीन क्षेत्रों में बाँटा है (i) व्यावसायिक संस्थाएँ (ii) परिवार तथा निजी अलाभ संस्थाएँ (iii) सरकार तथा सार्वजनिक संस्थाएँ।

कुल मिलाकर एक क्षेत्र विशेष के लिए 12 लेखे तैयार किए जाते हैं। सामाजिक लेखों के लिए एक लेन-देन आधारन (Transaction Matrix) का प्रयोग होता है जिसमें पंक्तियों के अन्तर्गत अन्य क्षेत्रों की देनदारियाँ तथा लेनदारियाँ दिखाई जाती हैं। यह याद रखना चाहिए कि सामाजिक लेखों में सन्तुलन बनाए रखने के लिए हर पंक्ति के कुल जोड़ उसके समकक्ष कॉलम पंक्ति के कुल जोड़ के बराबर होना चाहिए।

सामाजिक लेखांकन का प्रारूप

देनदारियाँ / लेनदारियाँ	आर्थिक गतिविधि			
	व्यावसायिक	निजी	सरकारी	योग
1. उत्पादन लेखा			...	
2. उपभोग लेखा				
3. पूँजी लेखा		.		
4. बाह्य लेखा				...
योग	..	..		....

सामाजिक लेखांकन का महत्व (Importance of Social Accounting)—सामाजिक लेखांकन प्रणाली का महत्व निम्न तथ्यों के आधार पर देखा जा सकता है :—

(1) यह प्रणाली अर्थव्यवस्था की संरचना रचने वाले तत्वों की विस्तृत जानकारी देती है। जैसे उत्पादन, उपभोग, बचत, विनियोग, विदेशी व्यापार आदि।

(2) यह अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या करती है तथा उनके तुलनात्मक अध्ययन को भी बताती है। इसमें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उनके सापेक्षिक योगदान का मूल्यांकन किया जा सकता है।

(3) इसके द्वारा देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी के साथ-साथ विदेशी अर्थव्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

(4) यह सरकारी आर्थिक नीतियों के निर्माण एवं उनके क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप उनके आर्थिक प्रभावों की जानकारी भी प्रस्तुत करता है।

5 **मिश्रित प्रणाली (Mixed Method)**—राष्ट्रीय आय के माप के लिए कोई भी अकेली विधि पर्याप्त नहीं है। सभी के अपने गुण-दोष हैं। जब हम दो या इससे अधिक प्रणालियों का प्रयोग राष्ट्रीय आय की गणना हेतु करते हैं तो इस प्रणाली को मिश्रित प्रणाली कहा जाता है। एक अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में इस प्रणाली का प्रयोग अधिकतर किया जाता है क्योंकि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों का विकास न होने के कारण हमें विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं होते। भारतीय अर्थ विशेषज्ञ डा० वी० के० आर० वी०

राव (Dr V K R V Rao) ने राष्ट्रीय आय की गणना हेतु स्वयं इस प्रणाली का प्रयोग किया और भारत जैसी अर्थव्यवस्था वाले देशों को मिश्रित प्रणाली अपनाने की सलाह दी। यह प्रणाली विकसित देशों में भी लोकप्रिय हो रही है क्योंकि केवल एक प्रणाली को ही राष्ट्रीय आय जानने के लिए उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

राष्ट्रीय आय के माप के सम्बन्ध में कठिनाइयाँ
(Difficulties in the Measurement of National Income)

प्रो० साइमन कुजनेटस (Prof Simon Kuznets) ने राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाते समय आने वाली सैद्धान्तिक अवधारणाओं से सम्बन्धित कठिनाइयों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जैसे –

(1) **राष्ट्रीय आय को परिभाषित करने सम्बन्धी कठिनाई** – राष्ट्रीय आय को परिभाषित करते समय क्या हम एक राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत अर्जित की जाने वाली आय को ही शामिल करें अथवा विदेशों में उस राष्ट्र के नागरिकों द्वारा पूंजी पर अर्जित ब्याज या लाभांश को भी राष्ट्रीय आय में शामिल करें।

(2) **राष्ट्रीय आय मापने हेतु प्रणाली का प्रयोग**— राष्ट्रीय आय को मापने के लिए किस प्रणाली का उपयोग किया जाये। कोई भी एक प्रणाली वास्तविक राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए पूर्ण नहीं कही जा सकती। अर्द्ध विकसित देशों में विकसित देशों की अपेक्षा यह समस्या और भी गम्भीर हो जाती है।

(3) **राष्ट्रीय आय की आर्थिक क्रिया**— राष्ट्रीय आय के माप के सम्बन्ध में एक अन्य कठिनाई यह आती है कि आर्थिक क्रिया किस स्थिति पर राष्ट्रीय आय जाना जाए। अर्थात् उपभोग उत्पादन या वितरण में से किस क्रिया को आधार माना जाय।

(4) **वस्तुओं तथा सेवाओं को चुनाव सम्बन्धी समस्या**—राष्ट्रीय आय की गणना में एक अन्य समस्या वस्तुओं तथा सेवाओं के चुनाव की समस्या आती है। वस्तु विनिमय द्वारा होने वाले सौदों के सम्बन्ध में यह समस्या और भी गम्भीर हो जाती है।

(5) **दोहरी गणना सम्बन्धी समस्या**—राष्ट्रीय आय की गणना में एक अन्य समस्या दोहरी गणना (Double Counting) सम्बन्धी सामने आती है। इसके समाधान हेतु हम प्राथमिक तथा माध्यमिक वस्तुओं के स्थान पर अंतिम उपभोक्ता वस्तुएँ लेनी चाहिये।

(6) **हस्तान्तरण भुगतान सम्बन्धी कठिनाई**—राष्ट्रीय आय के माप के सम्बन्ध में एक अन्य कठिनाई हस्तान्तरण भुगतान सम्बन्धी सामने आती है। यह भुगतान आय के पुनर्वितरण के कारण होते हैं।

(7) **विदेशी फर्मों की आय की समस्या**— इस सम्बन्ध में कठिनाई यह आती है कि विदेशी फर्मों की आय को उस देश की राष्ट्रीय आय माना जाए अथवा नहीं।

(8) **सरकारी सेवाओं का मूल्यांकन**—एक अन्य समस्या यह आती है कि सरकार द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं का मूल्य क्या और कैसे आंका जाए।

अर्द्ध-विकसित देशों में राष्ट्रीय आय की माप सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Difficulties of Measuring National Income in Under developed Countries)

एक अर्द्ध विकसित देश में राष्ट्रीय आय के माप के सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। यह कठिनाइयाँ सांख्यिकीय एवं संकल्पनात्मक (Statistical and Conceptual) होती हैं।

(1) अमौद्रिक क्षेत्र का होना—अर्द्ध-विकसित देशों में अमौद्रिक क्षेत्र के होने के कारण राष्ट्रीय आय की गणना में काफी कठिनाई आती है। यहाँ उत्पादक या किसान अपने उत्पादन का अच्छा भाग अपने उपभोग के लिये रख लेता है और उसे बाजार में बेचने को नहीं लाता। इसका एक छोटा-सा भाग वह वस्तु-विनिमय के लिए छोड़ दिया जाता है। यह कठिनाई अधिकांशत कृषि क्षेत्र में आती है।

(2) पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव—अर्द्ध-विकसित देशों में अधिकांश उत्पादकों के अशिक्षित एवं सांख्यिकीय व्यवस्था का समुचित उपयोग न होने से पर्याप्त एवं विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। इसलिए राष्ट्रीय आय की गणना करने वालों के समक्ष यह समस्या आती है कि जो कुछ भी आँकड़े उसे मिल रहे हैं उनमें सत्यता का अंश कितना है।

(3) विभिन्न क्षेत्रों के स्पष्ट वर्गीकरण का अभाव—अर्द्ध-विकसित देशों में विभिन्न क्षेत्रों के स्पष्ट वर्गीकरण के अभाव के कारण राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाई आती है। कभी-कभी यह ज्ञात नहीं हो पाता कि कौन-सा क्षेत्र औद्योगिक और कौन-सा कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित है।

(4) आर्थिक एवं सामाजिक पिछड़ापन—अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक एवं सामाजिक पिछड़ेपन के कारण बहुत-सी कठिनाइयाँ आती हैं। ऐसे देशों में प्रायः लोग अन्धविश्वासी एवं परम्परावादी होते हैं। वे अपनी आय तथा परिवार से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की सूचना देने में सकुचाते हैं।

राष्ट्रीय आय विश्लेषण का महत्व (Importance of National Income Analysis)—वर्तमान समय में किसी देश की राष्ट्रीय आय के अध्ययन से हम अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी तथा देश विशेष की आर्थिक स्थिति का मूल्यांकन करने में काफी सहायता मिलती है। इतना ही नहीं राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित आँकड़े आर्थिक विश्लेषण तथा आर्थिक नीतियों के निर्माण में काफी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्व निम्नलिखित तथ्यों द्वारा आँका जा सकता है।

(1) आर्थिक प्रगति का सूचक—राष्ट्रीय आय सम्बन्धी सांख्यिकीय से हम देश के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाली प्रगति का आसानी से अनुमान लगा सकते हैं। यदि राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति (Trend) वृद्धि को बताती है तो हम अनुमान लगा सकते हैं कि अर्थव्यवस्था विकास की ओर उन्मुख है, यदि राष्ट्रीय आय स्थिर है तो यह अर्थव्यवस्था की स्थिरता का, यदि राष्ट्रीय आय में गिरावट के चिह्न हैं तो इससे अर्थव्यवस्था में गिरावट के संकेत मिलते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय आय के आँकड़े आर्थिक विकास की प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं।

(2) आर्थिक नीति निर्माण एवं नियोजन में सहायक—राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों से सरकार को आर्थिक नीतियों के निर्धारण तथा निर्माण में काफी सहायता मिलती है। सरकार को अपनी कर नीति, मौद्रिक नीति, प्रशुल्क नीति, तथा अन्य प्रकार की नीतियों के निर्माण में काफी सहायता मिलती है। इसके अलावा आर्थिक नियोजन के लिए अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन नीतियों के निर्माण में भी सहायता मिलती है।

(3) अर्थव्यवस्था के स्वरूप की जानकारी—राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़े अर्थव्यवस्था के स्वरूप पर समुचित प्रकाश डालते हैं। इन आँकड़ों द्वारा आसानी से हम पता कर जाता है कि अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे कृषि, उद्योग, व्यापार तथा अन्य क्षेत्रों का अर्थव्यवस्था में क्या योगदान है।

(4) **जीवन स्तर की जानकारी**—राष्ट्रीय आय को हम प्रति व्यक्ति आय द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। प्रतिव्यक्ति आय की गति नागरिकों के जीवन स्तर को व्यक्त करती है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि को बताती है जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देशवासियों के जीवन स्तर में सुधार हो रहा है।

(5) **समाज में आय के वितरण की जानकारी**—राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों से हमें समाज के विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीय आय के वितरण की जानकारी मिलती है। राष्ट्रीय आय के वितरण में व्याप्त असमानताओं की जानकारी भी हमें आसानी से मिल जाती है।

(6) **उपभोग, बचत तथा विनियोग की जानकारी**—राष्ट्रीय आय के अनुमानों के आधार पर हम यह जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि राष्ट्रीय व्यय उपभोक्ता व्यय तथा निवेश में किस प्रकार बटा है। देश में उपभोग, बचत तथा निवेश की स्थिति क्या है। देश में रोजगार का स्तर प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है और प्रभावपूर्ण माँग स्वयं उपभोग तथा विनियोग द्वारा प्रभावित होती है।

(7) **करदान क्षमता का अनुमान**—राष्ट्रीय आय द्वारा देशवासियों की करदान क्षमता का अनुमान लगा सकते हैं जिससे सरकार को अपनी कराधान सम्बन्धी नीति के निर्धारण में सहायता मिलती है।

(8) **संघीय सरकारी नीतियों के निर्माण में सहायक**—राष्ट्रीय आय के आँकड़ों द्वारा संघीय सरकार को अपने विभिन्न घटकों जैसे केन्द्र शासित क्षेत्रों तथा राज्यों को ऋण, अनुदान तथा अन्य प्रकार की आर्थिक सहायता के बटवारे में काफी सहायता मिलती है।

(9) **सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों की जानकारी**—राष्ट्रीय आय के आँकड़ों द्वारा हम भारत जैसी मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले देशों में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों (Public and Private Sectors) के सापेक्षिक योगदान की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(10) **अर्द्ध विकसित देशों के लिए महत्वपूर्ण**—राष्ट्रीय आय के अनुमानों के आधार पर अर्द्ध विकसित देशों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन एवं समाधान की जानकारी आसानी से पता चल जाती है।

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण
(National Income and Economic Welfare)

कल्याण शब्द का आशय मनुष्य तथा समाज को प्राप्त होने वाली भौतिक सुख-सुविधाओं से होता है। कल्याण का सम्बन्ध मनुष्य के रहन-सहन से भी व्यक्त किया जा सकता है। उच्च आर्थिक कल्याण उच्च रहन-सहन के स्तर का प्रतीक है तथा निम्न आर्थिक कल्याण निम्न रहन-सहन के स्तर को बताता है। यदि हम समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों के कल्याण को जोड़ दें तो हमें कुल सामाजिक कल्याण की जानकारी हो जाएगी। प्रो० पीगू ने कल्याण को दो भागों में बाँटा है (i) आर्थिक कल्याण (Economic Welfare) (ii) अनार्थिक कल्याण (Non economic Welfare)। यह दोनों इस प्रकार से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं कि इन्हें पृथक करना कठिन है। प्रो० पीगू ने आर्थिक कल्याण को परिभाषित करते हुए कहा कि "आर्थिक कल्याण सामाजिक कल्याण का वह भाग है जिसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के रूप में मापा जा सकता है।"

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण का धनात्मक सह-सम्बन्ध (Positive Correlation) की कल्पना अधिकांश विद्वानों ने की है। प्रो० पीगू का तो स्पष्ट मत है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि आर्थिक कल्याण में वृद्धि का सूचक है। उनके अनुसार यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि [illegible]

आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है अर्थात् उनके रहन-सहन के स्तर में भी वृद्धि हो जाती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय को हम आर्थिक कल्याण का सूचकांक कह सकते हैं।

राष्ट्रीय आय आर्थिक कल्याण का वास्तविक सूचकांक नहीं है (National Income is not a Real Index of Economic Welfare)

क्या हम राष्ट्रीय आय को आर्थिक कल्याण का वास्तविक सूचकांक कह सकते हैं? यह प्रश्न हम तभी सही रूप में समझ में आ सकेगा जब कि हम निम्न तथ्यों पर भी ध्यान दें।

(1) **राष्ट्रीय आय का वितरण**—राष्ट्रीय आय में वृद्धि से आर्थिक कल्याण बढ़ा है या कम हुआ है। इसके लिए हम देखना होगा कि राष्ट्रीय आय के वितरण की स्थिति क्या है। यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि से धनी लोगों को इसका हिस्सा अधिक पहुँचता है और निर्धनों का कम तो कुल कल्याण नहीं बढ़ेगा।

(2) **राष्ट्रीय आय की वृद्धि का स्वरूप**—हम राष्ट्रीय आय की वृद्धि के स्वरूप का अध्ययन करना होगा। यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि स्त्रियों तथा बच्चों या श्रमिकों से अधिक घण्टे काम करवाकर तथा उनके बदले में उन्हें उचित पारिश्रमिक न देकर की गई है तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय की यह वृद्धि समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि का सूचक नहीं होगा।

(3) **जनसंख्या वृद्धि की दर**—यदि जनसंख्या वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय में वृद्धि दर से अधिक तेज है तो इससे प्रति व्यक्ति आय गिरेगी और लोगों का आर्थिक कल्याण गिरेगा।

(4) **कीमत स्तर में परिवर्तन की स्थिति**—हम राष्ट्रीय आय को प्रचलित मौद्रिक कीमतों में आँकते हैं। कीमत स्तर में वृद्धि या कमी राष्ट्रीय आय में वृद्धि या कमी का सूचक होती है। कीमत स्तर में यह परिवर्तन बिना वस्तुओं तथा सेवाओं के वास्तविक उत्पादन में परिवर्तन के हो सकता है। प्रायः राष्ट्रीय आय की वृद्धि को देखकर हम आर्थिक कल्याण में वृद्धि मान लेते हैं जो भ्रमपूर्ण है। वास्तविकता यह है कि कीमत स्तर में वृद्धि बिना उत्पादन में वृद्धि के होने पर आर्थिक कल्याण बढ़ने के स्थान पर गिर जाता है क्योंकि लोगों के रहन-सहन के स्तर में गिरावट आती है।

(5) **राष्ट्रीय आय वृद्धि की संरचना**—राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ यदि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो तो हम इसे आर्थिक कल्याण की वृद्धि का सूचकांक नहीं समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय आय की संरचना का अध्ययन हम भली-भाँति करके ही यह पता कर सकते हैं। यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में न होकर पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप हुई है तो यह आर्थिक कल्याण में वृद्धि की परिभाषा नहीं कहलाएगा। इसी प्रकार यदि युद्ध वस्तुओं (war goods) के उत्पादन में वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय बढ़ी है तो भी यह आर्थिक कल्याण में वृद्धि का सूचक नहीं होगा।

(6) **लोगों की अभिरुचियों तथा मानवीय मूल्यों में ह्रास**—यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ लोगों की अभिरुचियों तथा मानवीय मूल्यों में गिरावट आई है तो इससे आर्थिक कल्याण बढ़ने के स्थान पर गिरेगा। अत्यधिक आय में वृद्धि के कारण लोगों की रुचि मादक वस्तुओं के सेवन, वेश्यावृत्ति तथा जुए आदि की तरफ बढ़ी है तो ऐसी स्थिति में समाज [illegible] कल्याण में [illegible] [illegible] कल्याण गिरेगा।

आर्थिक कल्याण में वृद्धि की कसौटी

यहां प्रश्न यह उठता है कि फिर आर्थिक कल्याण में वृद्धि की क्या कसौटी है ? राष्ट्रीय आय में वृद्धि को आर्थिक कल्याण का सूचक तभी माना जा सकता है जब कि (i) राष्ट्रीय आय वितरण निर्धन व्यक्ति के अनुकूल हो (ii) आर्थिक कल्याण में वृद्धि की वास्तविक कसौटी उपभोग स्तर में वृद्धि अथवा लोगों के वास्तविक रहन-सहन में वृद्धि से लगाया जाना चाहिए। आर्थिक कल्याण में वृद्धि के लिए राष्ट्रीय आय का पुनर्वितरण निर्धनों के अनुकूल होकर उनके रहन-सहन के स्तर को ऊंचा उठाने वाला होना चाहिए। राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण को निर्धनों के पक्ष में करने के लिए हम धनियों पर अधिक कर, निर्धनों को प्रत्यक्ष या परोक्ष आर्थिक सहायता आदि के द्वारा किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के पुनर्वितरण की एक शर्त यह है कि राष्ट्रीय आय का आकार किसी भी प्रकार से कम न हो अन्यथा इससे कुल आर्थिक कल्याण गिरेगा।

भारत में राष्ट्रीय आय (National Income in India) भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान स्वतन्त्रता से बहुत पहले लगाया गया था। वर्ष 1868 में उदारवादी भारतीय नेता श्री दादा भाई नौरोजी ने सबसे पहले राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने का प्रयास किया था उस समय प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 20 रुपये मात्र आंकी गई थी। वर्ष 1900 में लार्ड कर्जन के समय प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 30 रुपये मात्र थी। इसके बाद अनेक विद्वानों ने राष्ट्रीय आय आकलन के प्रयास किए परन्तु विश्वसनीय आंकड़ों के अभाव में यह अनुमान वास्तविकता से काफी दूर रहे। राष्ट्रीय आय के अनुमानों में सबसे अधिक विश्वसनीय अनुमान प्रो० डा० वी० के० आर० वी० राव (Dr V K R V Rao) ने लगाया। वर्ष 1925 26 में उन्होंने भारत की आय 76 रुपये वार्षिक आंकी थी। जो बढ़कर 1942 43 में 114 रुपये हो गई।

राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee)—स्वतन्त्रता के पश्चात् वर्ष 1949 में प्रो० पी० सी० महलनोबिस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय समिति गठित की गई। भारतीय अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ डा० वी० के० आर० वी० राव तथा प्रो० गाडगिल इस समिति के सदस्य थे। इस समिति का प्रमुख कार्य राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ा तथा अन्य सम्बन्धित तथ्यों पर सामग्री एकत्रित करना था। वर्ष 1951 में इस समिति ने अपनी प्रथम रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की जिसमें वर्ष 1948 49 के लिए राष्ट्रीय आय के अनुमान लगाए गए थे। वर्ष 1954 में समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें वर्ष 1948 49 के लिए राष्ट्रीय आय के संशोधित अनुमान तथा वर्ष 1950 51 के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अनुमान तथा उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। इस समिति ने उत्पादन संगणना प्रणाली (Production Census Method) द्वारा खनिज उद्योग, कृषि, वनस्पति, पशुधन से प्राप्त आय का अनुमान लगाया गया। व्यापार, यातायात, घरेलू सेवाओं तथा दस्तकारी से प्राप्त आय का अनुमान आय संगणना प्रणाली (Income Census Method) द्वारा लगाया गया तथा शेष क्षेत्रों की आय का अनुमान लगाने के लिए अन्य वैकल्पिक व्यवस्था का सहारा लिया गया।

वर्तमान समय में भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (Central Statistical Organisation) द्वारा लगाया जाता है। इस संगठन द्वारा राष्ट्रीय आय पर प्रतिवर्ष एक श्वेतपत्र (White Paper) प्रकाशित किया जाता है। इस संगठन द्वारा प्रदत्त आंकड़े राष्ट्रीय आय के विश्वसनीय आंकड़े होते हैं।

भारत में राष्ट्रीय आय की गणना सम्बन्धी कठिनाइयाँ—भारत में राष्ट्रीय आय के माप के सम्बन्ध में आने वाली कठिनाइयों की चर्चा सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय समिति ने की

थी। इसके अनुसार भारतीय राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आकलन में दो कठिनाइयाँ प्रमुख रूप में आती हैं।

(1) धारणात्मक (Conceptual) तथा 2 सांख्यिकीय (Statistical)

1 धारणामूलक कठिनाइयाँ—भारत में राष्ट्रीय आय की गणना करते समय यह मान लिया जाता है कि अर्थव्यवस्था में समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं का लेन-देन मुद्रा के माध्यम से होता है। जब कि वस्तु स्थिति यह है कि बाजार का एक अंश असंगठित होता है और उसमें वस्तु विनिमय प्रणाली अपनाई जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ के लोगों के अशिक्षित होने एवं अज्ञानता के कारण उत्पादक अपनी उत्पत्ति का लेखा जोखा नहीं रख पाते तथा स्वयं उपभोग हेतु रखी जाने वाली वस्तुओं का उत्पादक की गणना करते समय शामिल नहीं करते हैं। इतना ही नहीं यहाँ के लोग एक से अधिक व्यवसायों अथवा कार्यों में लगे होते हैं और जो धन उनसे अर्जित करते हैं उसका सही-सही हिसाब नहीं रख पाते इसलिए वास्तविक राष्ट्रीय आय का पता लगाने में कठिनाई होती है।

(2) सांख्यिकीय कठिनाइयाँ—भारत में राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों में विश्वसनीयता एवं सत्यता का अभाव पाया जाता है। यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है अन्य सहायक कार्यों तथा व्यवसायों से लागत तथा आय सम्बन्धी आँकड़ों की विश्वसनीयता प्रायः संदिग्ध रहती है। विभिन्न क्षेत्रों में सांख्यिकीय आँकड़ों की विश्वसनीय जानकारी के अभाव में राष्ट्रीय आय के अनुमान केवल अनुमान ही रह जाते हैं।

परीक्षा-प्रश्न

1 राष्ट्रीय आय से आप क्या समझते हैं। इस संदर्भ में प्रो० मार्शल पीगू तथा फिशर के विचार दीजिये।
(What do you understand by National Income ? Discuss the views of Prof Marshall Pigou and Fisher in this connection)

2 राष्ट्रीय लेखांकन से आप क्या समझते हैं ? इसके विभिन्न अंगों की व्याख्या कीजिये।
(What do you understand by National Income Accounting ? Explain its various components)

3 राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिये और इसके मापन की विधियाँ बताइये।
(Define National Income and explain various methods for measuring National Income)

4 राष्ट्रीय आय को परिभाषित कीजिए। इसके मापन में किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ?
(Define National Income What are the difficulties faced while measuring National Income ?)

5 राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए। क्या यह कहना सही है कि कुल राष्ट्रीय लाभांश के आकार में वृद्धि आर्थिक कल्याण में वृद्धि करती है ?
(Explain the relationship between National Income and Economic Welfare Is it correct to say that increase in the size of aggregate National Dividend must cause an increase in Economic Welfare ?)

6 राष्ट्रीय आय से आपका तात्पर्य क्या है ? आर्थिक कल्याण से इसके सम्बन्ध का स्पष्टीकरण कीजिए।

(What do you mean by National Income ? Explain its relationship with Economic Welfare.)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

1 कुल राष्ट्रीय उत्पाद तथा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में अंतर बराबर होता है—

(i) अप्रत्यक्ष कर

(ii) प्रत्यक्ष कर

(iii) मूल्यह्रास या घिसावट (Depreciation)

(iv) टिकाऊ वस्तुओं पर उपभोक्ता व्यय

(v) उपभोग्य आय।

उत्तर—(iii) सही है।

2 वैयक्तिक आय (Personal Income [PI]) बराबर होती है

(i) राष्ट्रीय आय—कर

(ii) कुल राष्ट्रीय उत्पाद—घिसावट

(iii) राष्ट्रीय आय—हस्तांतरण भुगतान

(iv) राष्ट्रीय आय—सामाजिक सुरक्षा के अंशदान—निगम आयकर—अवितरित निगम लाभ+हस्तांतरण आय

(v) व्यय योग्य आय—प्रत्यक्ष कर

उत्तर (iv) सही है।

3 शुद्ध राष्ट्रीय आय (NNP) बराबर होती है।

(i) कुल राष्ट्रीय उत्पाद—घिसावट व्यय

(ii) कुल राष्ट्रीय उत्पाद—आयात

(iii) कुल राष्ट्रीय उत्पाद—हस्तांतरण आय

(iv) कुल राष्ट्रीय उत्पाद—प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कर

(v) कुल राष्ट्रीय उत्पाद+निर्यात

उत्तर—(i) सही है।

> Full employment is the point beyond which output proves inelastic in response to further increase in effective demand" —*Dudley Dillard*

अध्याय 3

बेरोजगारी तथा पूर्ण रोजगार

(Unemployment and Full Employment)

बेरोजगारी वर्तमान सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में किसी न किसी रूप में देखने को मिलती है। बेरोजगारी एक अभिशाप है और मानव जाति के लिए एक कलंक है। बेरोजगारी एक व्यक्ति के लिए सबसे बड़ा कष्ट है इसका कुप्रभाव केवल बेरोजगार व्यक्ति पर ही नहीं पड़ता वरन् सम्पूर्ण समाज को इसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ते हैं।

बेरोजगारी का अर्थ—बेरोजगारी का अर्थ उस स्थिति से लगाया जाता है जबकि व्यक्ति कार्य करने में सक्षम हो, कार्य करने का इच्छुक हो परन्तु रोजगार अवसरों की अपूर्णताओं तथा कमी के कारण उसे रोजगार नहीं मिल पाता। एक अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से बेरोजगारी की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है। एक बेरोजगार व्यक्ति वह व्यक्ति है जो अपनी कार्यकुशलता एवं योग्यता के अनुसार मजदूरी की प्रचलित दर पर कार्य करने को तैयार है परन्तु उसे कार्य नहीं मिल पाता है। (An unemployed person is that person who is seeking work at the prevailing wage rate according to his efficiency and qualifications but he is unable to seek any job')

इस कथन का आशय यह है कि समाज में कुछ लोग हर समय ऐसे पाए जायेंगे जो कार्य करने योग्य हैं तथा कार्य करना ही नहीं चाहते। ऐसे लोग अपनी इच्छा से बेकार रहते हैं क्योंकि ऐसे व्यक्ति कार्य करने के इच्छुक ही नहीं होते। अर्थशास्त्र में इसे ऐच्छिक बेरोजगारी (Voluntary unempolyment) कहते हैं और इस प्रकार की बेरोजगारी का अध्ययन एक अर्थशास्त्री नहीं करता। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो कार्य करने के योग्य हैं, कार्य करना भी चाहते हैं परन्तु उन्हें कार्य नहीं मिलता ऐसी बेरोजगारी को हम अनैच्छिक बेरोजगारी (Involuntary unemployment) कहते हैं। एक अर्थशास्त्री का सम्बन्ध अनैच्छिक बेरोजगारी का अध्ययन करके उसके समाधान हेतु सुझाव देना है। हम बेरोजगारी के स्वरूप, उसके कारण तथा इससे सम्बन्धित कुछ प्रमुख बातों का अध्ययन करेंगे।

ऐच्छिक तथा अनैच्छिक बेरोजगारी

(Voluntary and Involuntary Unemployment)

बेरोजगारी के दो प्रमुख रूप हैं (i) ऐच्छिक बेरोजगारी (ii) अनैच्छिक बेरोजगारी

(I) ऐच्छिक बेरोजगारी (Voluntary Unemployment)

ऐच्छिक बेरोजगारी वह स्थिति होती है जब व्यक्ति कार्य करने की योग्यता रखता है, उसे प्रचलित मजदूरी पर कार्य मिल भी सकता है परन्तु वह अपनी इच्छा से कार्य करना नहीं चाहता। ऐसे लोग समाज में हर समय पाए जाते हैं। अर्थशास्त्र ऐच्छिक बेरोजगारी की समस्या का अध्ययन नहीं करता। ऐच्छिक बेरोजगारी के प्रमुख कारण निम्न हो सकते हैं ---

(1) व्यक्ति आलसी अथवा पारिवारिक स्वभाव के कारण मजदूरी मिलने पर भी कार्य नहीं करना चाहता।

(2) प्रचलित मजदूरी की दरें व्यक्ति की योग्यता के अनुरूप भी न हो तो भी व्यक्ति रोजगार में रहना नहीं चाहता।

(3) अत्यधिक सम्पन्नता एवं धनवान होने के कारण व्यक्ति कार्य करना नहीं चाहते हों।

(4) अपराधिक प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों में जैसे चोर डकैत या समाज विरोधी तत्वों में भी ऐच्छिक बेरोजगारी पाई जाती है।

(II) अनैच्छिक बेरोजगारी (Involuntary Unemployment)

अनैच्छिक बेरोजगारी का आशय उस स्थिति से होता है जबकि व्यक्ति कार्य करने के योग्य कार्य करने का इच्छुक हो फिर भी उसे उन्हें प्रचलित मजदूरी की दरों पर कार्य उपलब्ध न होना हो। हम अनैच्छिक बेरोजगारी को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं। "जब कार्य करने की योग्यता रखने वाला व्यक्ति प्रचलित मजदूरी की दरों पर कार्य करने का इच्छुक भी हो परन्तु उसे रोजगार के अवसरों की कमी के कारण रोजगार उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति अनैच्छिक बेरोजगारी की स्थिति कहलाएगी।" एक अर्थशास्त्री का सम्बन्ध अनैच्छिक बेरोजगारी का अध्ययन करके उसके समाधान हेतु सुझाव देना होता है। अनैच्छिक बेरोजगारी कई कारणों से हो सकती है जैसे प्रभावपूर्ण माँग में कमी का होना, तकनीकी परिवर्तनों, श्रम बाजार की अपूर्णताओं, मौसमी कारणों तथा चक्रीय उच्चावचनों आदि द्वारा।

अनैच्छिक बेरोजगारी के प्रकार (Types of Involuntary Unemployment)—

अनैच्छिक बेरोजगारी कई कारणों से हो सकती है जो ऊपर बताए जा चुके हैं। इन्हीं कारणों के आधार पर अनैच्छिक बेरोजगारी के निम्नांकित प्रकार हैं—

(i) संरचनात्मक बेरोजगारी (Structural Unemployment)—संरचनात्मक बेरोजगारी का आशय अर्थव्यवस्था की संरचना में होने वाले परिवर्तनों के कारण बेरोजगारी के होने से लगाया जाता है। ऐसी बेरोजगारी मुख्य रूप से अर्द्ध-विकसित देशों में पाई जाती है। ऐसी बेरोजगारी श्रमपूर्ति का उसकी माँग से अधिक होने से होती है। देश में भूमि तथा पूँजीगत साधन सीमित हो और जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति के कारण लम्बे समय तक व्यक्ति को बेरोजगार रहना पड़ सकता है। श्रमिकों की माँग से पूर्ति कहीं अधिक हो जाती है। प्रो० बेनहम ने संरचनात्मक बेरोजगारी को इस प्रकार परिभाषित किया है "संरचनात्मक बेरोजगारी, मौसमी तथा घर्षणात्मक बेरोजगारी की अपेक्षा अधिक दीर्घकालिक होती है और इसे अर्थव्यवस्था के स्थायी एवं पर्याप्त आर्थिक विकास से ही दूर करना सम्भव होता है ......।" इसका आशय यह है कि स्थायी आर्थिक विकास के द्वारा ही इस प्रकार की बेरोजगारी से निपटा जा सकता है। आर्थिक विकास से रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध होंगे—अधिक आय बढ़ेगी—अधिक माँग—अधिक लाभ बढ़ेंगे—अधिक पूँजी विनियोजन होगा—आर्थिक विकास में निरन्तरता बनी रहेगी।

(ii) **घर्षणात्मक बेरोजगारी (Frictional Unemployment)**—घर्षणात्मक बेरोजगारी से आशय अन्तरिम काल में उत्पन्न होने वाली अस्थायी बेरोजगारी से होता है। ऐसी बेरोजगारी कुछ समय बाद स्वतः ही समाप्त होने लगती है। इस प्रकार की बेरोजगारी कई कारणों से हो सकती है जैसे रोजगार के अवसरों की अनभिज्ञता, श्रमिकों में व्याप्त गतिहीनता, कच्चे माल की कमी, मशीनों की टूट-फूट, सरकारी नियन्त्रण, श्रमिक संघों में रुकावट आदि। इस प्रकार की बेरोजगारी भी सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में पाई जाती है। प्रत्येक देश में उक्त कारणों से कुछ न कुछ लोग बेरोजगार रहते हैं। प्रो० डी० डिलार्ड ने सरल शब्दों में घर्षणात्मक बेरोजगारी को परिभाषित करते हुए कहा है कि "घर्षणात्मक बेरोजगारी उस समय होती है जब श्रम बाजार की अपूर्णताओं के कारण लोगों को थोड़े समय के लिए काम नहीं मिल पाता है।'

घर्षणात्मक बेरोजगारी का स्तर आर्थिक विकास के साथ-साथ बढ़ता चला जाता है। आर्थिक विकास में नई-नई विधियों को उत्पादन में अपनाने से उत्पत्ति के साधनों और उनकी माँग के स्वरूप में परिवर्तन होते रहते हैं, कुछ नये उद्योगों का विकास होने लगता है तथा पुराने उद्योगों का महत्त्व कम होने लगता है। इस आर्थिक परिवर्तन के कारण कुछ लोग पुराने व्यवसायों को छोड़कर नये व्यवसायों में रोजगार की तलाश करने लगते हैं। इस प्रकार घर्षणात्मक बेरोजगारी दिखाई देती है।

(iii) **तकनीकी बेरोजगारी (Technological Unemployment)**—तकनीकी बेरोजगारी का स्वरूप भी अस्थायी होता है। ऐसी बेरोजगारी नवीन तकनीकी के प्रयोग के कारण मशीनों का आधुनिकीकरण, विवेकीकरण तथा वैज्ञानिक विधियों आदि के द्वारा होती है। जब उत्पादन के क्षेत्र में लागत घटाने तथा लाभ की मात्रा बढ़ाने की दृष्टि से नई उत्पादन विधियों एवं नव-प्रवर्तन आदि की नीति अपनाई जाती है तो उसके कारण उद्योगों तथा अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों को कुछ समय के लिए बेरोजगार रहना पड़ता है।

(iv) **मौसमी बेरोजगारी (Seasonal Unemployment)**—हमारी अर्थव्यवस्था में मौसमी बेरोजगारी भी पाई जाती है। कुछ कार्य क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ वर्ष भर कार्य नहीं रहता। इनमें काम करने वालों को वर्ष में कुछ महीने बेकार रहना पड़ता है। चीनी उद्योग, कृषि क्षेत्र, बर्फ के कारखाने, चावल मिलों आदि में लोगों को पूरे वर्ष रोजगार उपलब्ध नहीं होता।

(v) **अदृश्य या छिपी हुई या प्रच्छन्न बेरोजगारी (Disguised Unemployment)** छिपी बेरोजगारी का अर्थ व्यक्तियों द्वारा अपनी योग्यता या कार्यकुशलता के विपरीत कम उत्पादक क्रियाओं में कार्य करना होता है। छिपी बेरोजगारी की स्थिति का आशय किसी क्षेत्र विशेष में जनसंख्या के अधिक दबाव का आवश्यकता से अधिक बढ़ना होता है। श्रीमती जान रोबिन्सन के शब्दों में "छिपी या अदृश्य बेरोजगारी वह स्थिति है जिसमें श्रमिक अपने अस्तित्व के लिए, अपनी योग्यता के विपरीत, कम उत्पादक व्यवसायों में धकेल दिए जाते हैं।"[1] विकासवादी विचारक प्रो० रेगनर नर्क्से का कहना है कि अदृश्य बेरोजगारी की स्थिति अर्द्ध-विकसित देशों में अधिक दिखाई देती है। वह कहते हैं कि ऐसे देशों में प्रायः यह देखने को मिलता है कि जहाँ 6 व्यक्तियों की आवश्यकता होती

1. "...disguised unemployment is a situation in which the wage workers take to less productive jobs because they lose their regular jobs owing to cyclical ebb in economic activity."

—*Smt Joan Robinson*

है जहाँ 7 व्यक्ति लगे होते हैं। यदि इस 7वें व्यक्ति को रोजगार से हटा लिया जाए तो इससे उत्पादन में कोई कमी नहीं आती। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि देखने में 7वां व्यक्ति रोजगार में अवश्य लगा मालूम होता है परन्तु वास्तव में वह बेरोजगार होता है। एक उदाहरण द्वारा छिपी बेरोजगारी को हम अच्छी प्रकार से समझ सकते हैं। माना कि एक व्यक्ति किसी प्रशिक्षण की डिग्री प्राप्त है परन्तु रोजगार अवसरों की कमी के कारण उसे अपनी योग्यता से नीचे पद पर कार्य करना पड़े जैसे एक इन्जीनियर को एक मैकेनिक या फोरमैन के पद पर कार्य करना पड़े तो इसे छिपी बेरोजगारी कहेंगे।

(vi) चक्रीय बेरोजगारी (Cyclical Unemployment)—चक्रीय बेरोजगारी से आशय व्यापार चक्रों अथवा कभी तेजी और कभी मंदी के होने से उत्पन्न होती है। जब कभी वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग उनके उत्पादन से कम हो जाती है तो कुछ माल बिना बिके रह जाता है कीमतें गिरने लगती हैं, उत्पादकों के मध्य निराशावादिता देखने को मिलती है, उत्पादन गिरने लगता है और पूँजी निवेश गिरने लगता है। यह स्थिति मंदी काल की स्थिति कहलाती है। मंदी में एक ओर उत्पादन कम होने लगता है क्योंकि उत्पादन कार्य प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण गिर जाता है दूसरी ओर उत्पादन कार्य में लगे हुए श्रमिकों की छटनी होने लगती है। बेरोजगारी अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। चक्रीय बेरोजगारी पूँजीवादी तथा विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों में दिखाई देती है। तेजी तथा मंदी (Boom and Depression) के कारण लोगों के आय के स्तर, मुद्रा की मात्रा, विनियोग उपभोग तथा कीमत-स्तर में परिवर्तनों के कारण ऐसी बेरोजगारी की स्थिति देखने को मिलती है।

(vii) अस्थायी बेरोजगारी (Casual Unemployment)—जैसा कि हम जानते हैं कि श्रमिकों की माँग व्युत्पन्न (Derived Demand) होती है अर्थात् उनकी माँग प्रत्यक्ष न होकर उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग पर निर्भर करती है। उत्पादन उतना ही किया जाता है जितना कि वस्तुओं की माँग होती है। श्रम की माँग उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग पर निर्भर करती है। इस प्रकार की बेरोजगारी की स्थिति अस्थायी होती है। ऐसी बेरोजगारी निर्यातक उद्योगों तथा ऐसे उद्योगों में देखने को मिलती है जिनकी वस्तुओं की माँग में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं परन्तु यह उच्चावचन अस्थायी होते हैं।

बेरोजगारी के कारण (Causes of Unemployment)—बेरोजगारी एक ऐसी समस्या है जिसके लिए कोई एक कारण विशेष उत्तरदायी नहीं है। विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर इसके कई कारण बतलाए हैं। विभिन्न देशों में बेरोजगारी का स्वरूप अलग-अलग दिखाता है इसलिए बेरोजगारी के लिए न तो एक प्रकार के कारण ही उत्तरदायी हैं और न ही उनके समाधान के लिए एक प्रकार के सुझाव दिए जा सकते हैं। मोटे तौर पर बेरोजगारी के कारणों के सम्बन्ध में निम्न विचारधाराओं का उल्लेख जरूरी है—

(1) बेरोजगारी का अबन्ध नीति सिद्धान्त (Laissez Faire Theory of Unemployment)-- इस सिद्धान्त के समर्थक प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री थे। उनका ऐसा विश्वास था कि जब अर्थव्यवस्था के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने में बाधा उत्पन्न होती है तो बेरोजगारी की स्थिति देखने को मिलती है। इस विचारधारा के समर्थक प्रो० एडम स्मिथ, जे० बी० से, रिकार्डो, जे० एस० मिल तथा अन्य प्रतिष्ठित विद्वान थे। इन विद्वानों का कहना था कि सरकार द्वारा हस्तक्षेप की नीति के कारण बेरोजगारी होती है। यह विद्वान

पूर्ण रोजगार की मान्यता पर विश्वास करते थे और उनके इस विश्वास का आधार फ्रांसीसी अर्थशास्त्री जे० बी० से के बाजार नियम में था कि "पूर्ति अपनी माँग स्वयं पैदा कर लेती है।" अतः ये विद्वान बेरोजगारी को सामान्य स्थिति मानते ही नहीं थे। यदि कभी बेरोजगारी हो जाए तो मजदूरी कटौती नीति अपनाकर इसे दूर किया जा सकता है। ऐसा प्रतिष्ठित विद्वानों का कहना था।

(2) **बेरोजगारी न्यून माँग सिद्धान्त (Demand Deficiency Theory of Unemployment)**—इस सिद्धान्त के वास्तविक जनक तो प्रो० माल्थस ही थे जिन्होंने सभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का न्यून उपभोग या अति उत्पादन सिद्धान्त देकर चौंका दिया था। प्रो० जे० एम० कीन्स को इस सिद्धान्त का वास्तविक प्रवर्तक माना जाता है। परन्तु कीन्स ने स्वयं इसके लिए अपने को माल्थस का ऋणी माना है। प्रो० जे० एम० कीन्स ने अपनी पुस्तक जनरल थ्योरी में बताया कि प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण बेरोजगारी दिखाई देती है। जब समाज अपनी सम्पूर्ण आय को व्यय कर देता है अर्थात् आय = व्यय या उत्पादन = उपभोग होता है तो पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाती है। प्रो० कीन्स का कहना है कि आय—व्यय प्रवाह (Income—expenditure flow) उस समय टूटता है जबकि व्यक्ति अपनी सम्भव आय का कुछ भाग बचा कर रख लेता है। बचत का आशय व्यय में कमी अथवा पुनः माँग में गिरावट से लगाया जाता है। उत्पादन भी गिरता है लोगों की आय कम होती है वस्तुओं की माँग में कमी आती है तथा बेरोजगारी की स्थिति देखने को मिलती है। यह सिद्धान्त विकसित देशों में अथवा मंदी के समय क्रियाशील होते देखा जा सकता है।

(3) **बेरोजगारी का व्यापार चक्रीय सिद्धान्त (Cyclical Theory of Unemployment)**—इस प्रकार की बेरोजगारी व्यापार चक्रों के उदय के कारण होती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्रों का उदय होना एक आवश्यक घटना मानी जाती है। इसमें कभी तेजी काल और कभी मंदी काल की स्थिति देखने को मिलती है जिससे आय, रोजगार, उत्पादन, उपभोग तथा विनियोग का स्तर प्रभावित होता रहता है। व्यापार चक्रों के उदय होने का कारण बेरोजगारी के बारे में अर्थशास्त्रियों में मत भिन्नता है परन्तु सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि एक निश्चित समयावधि के बाद बेरोजगारी की घटना विद्यमान हो जाती है और प्रायः मंदी काल में अधिक बेरोजगारी देखने को मिलती है।

अल्प विकसित देशों में बेरोजगारी
(Unemployment in Under-developed Countries)

बेरोजगारी विकसित तथा अर्द्ध या अल्प विकसित दोनों ही प्रकार के देशों में पाई जाती है। इन दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के स्वरूप में अन्तर होता है इसलिए इनमें बेरोजगारी का स्वरूप भी अलग-अलग देखने को मिलता है। विकसित देशों में बेरोजगारी अस्थायी तथा अर्द्ध-विकसित देशों में इसका स्वरूप स्थायी होता है। विकसित देशों में चक्रीय बेरोजगारी उन्नत आर्थिक विकास का परिणाम होती है जबकि अल्पविकसित देशों में अनैच्छिक तथा छिपी हुई बेरोजगारी (Involuntary and Disguised Unemployment) दिखाई देती है। इन देशों में बेरोजगारी के कुछ प्रमुख कारण निम्नांकित हैं—

(1) **जनसंख्या का तीव्र गति से बढ़ना**—अर्द्ध विकसित देशों में अधिक बेरोजगारी का एक प्रमुख कारण तीव्र गति से जनसंख्या का बढ़ना है। इन देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर 2 प्रतिशत से लेकर 2.5 प्रतिशत वार्षिक रहती है। विकसित देशों की अपेक्षा अर्द्ध विकसित देश में दुनियाँ की अधिकांश जनसंख्या निवास करती है। बढ़ी हुई जनसंख्या अधिक श्रमिकों की पूर्ति बनाती है। नवीन रोजगार अवसरों की अपेक्षा जनसंख्या वृद्धि की दर तेज होती है और बेरोजगारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। आज अर्द्ध विकसित देशों में श्रमिकों की उपलब्धता अधिक होने और उन्हें रोजगार के अवसर उपलब्ध न होने से श्रमशक्ति का ह्रास हो रहा है।

(2) **कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था**—अधिकांश अल्प विकसित देश कृषि प्रधान हैं। कृषि प्रधान देशों में प्रति व्यक्ति कम आय, कृषि क्षेत्र में वर्षभर कार्य न मिलना, प्रति व्यक्ति पर भू-भार अधिक, अधिकांश अनार्थिक जोतों का होना, कृषि पर अधिक दबाव आदि की स्थिति पाई जाती है। कृषि प्रधान अर्थव्यवस्थाओं में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं प्रथम तो जनसंख्या का दबाव कृषि पर अधिक होता है और उद्योगों का विकास पर्याप्त मात्रा में नहीं होता। दूसरे कृषि व्यवसाय अनिश्चित एवं मौसमी है। आज भी अधिकांश कृषि की मानसून पर निर्भरता बनी हुई है क्योंकि पर्याप्त मात्रा में सिंचाई के साधन उपलब्ध नहीं हैं। यहाँ के लोगों में निर्धनता का प्रमुख कारण अधिकांश लोगों की कृषि पर निर्भरता है। अपनी निर्धनता के कारण कृषि पर निर्भर उद्योगों जैसे पशु या मुर्गी पालन, मछली पालन, कुटीर उद्योगों के अभाव के कारण जनसंख्या की कृषि पर निर्भरता रहती है।

(3) **धीमा औद्योगिक विकास**—अर्द्ध विकसित देशों में औद्योगिक विकास की गति धीमी होती है इसका प्रमुख कारण वैज्ञानिक तथा तकनीक का पिछड़ापन, पूँजी की अपर्याप्त उपलब्धता तथा साहसी प्रवृत्ति का अभाव होता है। ऐसे देशों में यदि औद्योगिक विकास अधिक तेजी से हो और विविध उद्योग जैसे बड़े उद्योग के साथ लघु तथा कुटीर उद्योगों का पर्याप्त विकास हो तो रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है तथा बेरोजगारी का प्रभाव कम हो जाता है।

(4) **आर्थिक पिछड़ापन**—अर्द्ध विकसित देशों में आर्थिक पिछड़ापन या धीमे आर्थिक विकास के कारण बेरोजगारी की अधिकता बनी रहती है। सामान्यतया इन देशों में विकास की औसत दर 3 प्रतिशत के आस पास या इससे भी कम होती है। आर्थिक पिछड़ापन का प्रमुख कारण प्राकृतिक साधनों का समुचित शोषण न होना, कृषि पर निर्भरता, औद्योगिक पिछड़ापन, परम्परावादी एवं रूढ़िवादी दृष्टिकोण होता है। आर्थिक पिछड़ेपन का सीधा सम्बन्ध आर्थिक विकास दर से होता है तथा ऐसे देशों में बेरोजगारी बढ़ती हुई नजर आती है।

(5) **निरक्षरता एवं दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली**—अर्द्ध विकसित देशों में निरक्षरता एवं दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के कारण बेरोजगारी अधिक दिखाई देती है। शिक्षा प्रणाली व्यवसाय प्रधान नहीं होती है। पढ़े लिखे लोगों की कमी के कारण भी रोजगार के अच्छे अवसर उपलब्ध नहीं होने पाते। इसके लिए हमें शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन करके इसे रोजगार उन्मुख बनाना होगा। लोगों में व्याप्त निरक्षरता को दूर करना होगा जिससे उनके दृष्टिकोण में बदलाव आए और वह परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल सकें।

पूर्ण रोजगार (Full Employment)—एक सामान्य व्यक्ति के लिए पूर्ण रोजगार से आशय देश के सभी बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार उपलब्ध कराना हो सकता है परन्तु सभी व्यक्तियों को रोजगार दिलाना सम्भव नहीं होता। अर्थव्यवस्था चाहे विकसित हो या अर्द्ध विकसित उसमें ऐच्छिक, घर्षणात्मक एवं संरचनात्मक बेरोजगारी किसी न किसी रूप में पाई जाती है। पूर्ण रोजगार की धारणा में विश्वास करने वाले विद्वान न

कहा है कि 3 से 5 प्रतिशत लोग हमेशा ही ऐच्छिक, घर्षणात्मक एवं संरचनात्मक बेरोजगारी के अन्तर्गत रहते हैं इसलिए यदि देश की जनसंख्या का 95 प्रतिशत भी रोजगार में लगा हो तो उसे पूर्ण रोजगार की संज्ञा देना चाहिए। सर विलियम बेवरिज तथा कीन्स जैसे विद्वानों ने पूर्ण रोजगार का आशय इसी संदर्भ में लिया है। इसमें अनैच्छिक बेरोजगारी का कोई स्थान नहीं होता।

पूर्ण रोजगार की परिभाषा—पूर्ण रोजगार के संदर्भ में विभिन्न धारणाओं के अध्ययन के बाद ही हम पूर्ण रोजगार की स्थिति को आसानी से समझ सकते हैं।

(i) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की धारणा**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार को एक सामान्य घटना मानते हैं। इनके अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति वह स्थिति है जिसमें अनैच्छिक बेरोजगारी पाई नहीं जाती। थोड़ी बहुत मात्रा में ऐच्छिक संरचनात्मक एवं घर्षणात्मक बेरोजगारी पाई जा सकती है। (Full Employment is Characterised by Absence of Involuntary Unemployment.) इन विद्वानों ने पूर्ण रोजगार का अर्थ उस स्थिति से लिया है जिसमें कार्य करने के इच्छुक लोगों को प्रचलित मजदूरी दरों पर कार्य उपलब्ध हो जाता है। प्रो० ए० पी० लरनर ने इसी संदर्भ में पूर्ण रोजगार को परिभाषित किया है। वे कहते हैं कि पूर्ण रोजगार वह स्थिति है जिसमें बिना किसी कठिनाई के प्रचलित मजदूरी की दर पर काम चाहने वाले को रोजगार मिल जाता है।[1]

(ii) **जे० एम० कीन्स की धारणा**—जे० एम० कीन्स प्रतिष्ठित विद्वानों की इस विचारधारा से बिल्कुल सहमत नहीं हैं कि पूर्ण रोजगार की अवस्था एक सामान्य घटना है। वे यह तो मानते हैं कि प्रतिष्ठित विद्वानों ने पूर्ण रोजगार की अवस्था में संरचनात्मक घर्षणात्मक तथा ऐच्छिक बेरोजगारी के होने की जो बात की है वह सही होती है। वे प्रतिष्ठित विद्वानों के इस विचार से भी सहमत नहीं हैं कि मजदूरी की दर में कटौती से बेरोजगारी समाप्त हो जाएगी। कीन्स ने कहा कि वास्तविक स्थिति अपूर्ण रोजगार के पास जाने की होती है तथा बेरोजगारी को मजदूरी कटौती के स्थान पर प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करके कम किया जा सकता है।

प्रो० कीन्स ने पूर्ण रोजगार की स्थिति का सामान्य घटना न मानते हुए इसे प्राप्त करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप के महत्व को स्वीकार किया है। कीन्स के शब्दों में "पूर्ण रोजगार वह स्थिति है जिसके बाद प्रभावपूर्ण माँग में प्रत्येक वृद्धि उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि नहीं करती तथा प्रभावपूर्ण माँग में कोई भी वृद्धि कीमतों में वृद्धि लाएगी और व्यावहारिक दृष्टि से कोई रोजगार नहीं बढ़ेगा।"[2]

(iii) **आधुनिक अर्थशास्त्रियों की धारणा**—प्रो० ए० पी० लरनर ने पूर्ण रोजगार को परिभाषित करते हुए कहा है कि पूर्ण रोजगार वह स्थिति होती है जिसमें प्रचलित

---

1 Full employment is a situation in which all those who want to work at the existing rate of wage get work without any undue difficulty."

—*A. P. Lerner.*

2 'Full employment is a situation which involves an appropriate amount of effective demand, a unique level of employment beyond which no further increase in output and employment are possible and any increase in effective demand will lead to a more rise in prices and practically no increase in employment." *J. M. Keynes*

मजदूरी की दर पर बिना किसी विशेष कठिनाई के इच्छुक व्यक्तियों को काम मिल जाता है। प्रो० लनर के 'बिना किसी कठिनाई' वाक्यांश का अर्थ कुल व्यय में वृद्धि करके (मुद्रा प्रसार बिना) रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने से है।

डा० डिलार्ड के शब्दों में, "पूर्ण रोजगार वह बिन्दु होता है जिसके पश्चात् प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होने पर उत्पत्ति बेलोच सिद्ध होती है।"[1]

संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisations) की एक रिपोर्ट में पूर्ण रोजगार को इस प्रकार परिभाषित किया गया है। "पूर्ण रोजगार की स्थिति वह अवस्था मान ली जानी चाहिए जिसमें प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होने पर रोजगार में वृद्धि नहीं की जा सकेगी।"[2]

प्रो० ई० नौरस के शब्दों में, "आदर्श रूप से पूर्ण रोजगार की अवस्था वह होगी जो अधिकतम उत्पादन तथा लोगों की वास्तविक क्रय शक्ति को प्रोत्साहित करेगी।"[3]

सर विलियम बेवरिज ने पूर्ण रोजगार को परिभाषित करते हुए कहा है कि "पूर्ण रोजगार वह अवस्था है जहाँ बेरोजगारों से अधिक रिक्त स्थान पाये जाते हैं जिससे एक कार्य को खोने तथा दूसरे को प्राप्त करने के मध्य समय विलम्ब बहुत ही कम होगा।"[4]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, "जब एक देश में 3 से 4 प्रतिशत तक बेरोजगारी पाई जाती है तो उस देश में पूर्ण रोजगार की प्राप्ति कर ली गई है। आई० एल० ओ० द्वारा पूर्ण रोजगार की अन्य शर्तें यह है कि इसमें किसी प्रकार श्रमिकों का शोषण नहीं होना चाहिए तथा श्रमिक बिना किसी विलम्ब के रोजगार प्राप्त करने योग्य होना चाहिए।"[5]

पूर्ण रोजगार के मुख्य तत्व—पूर्ण रोजगार की धारणा का समर्थन के लिए हम इससे सम्बन्धित मुख्य तत्वों को देखना होगा।

(1) पूर्ण रोजगार की स्थिति वह होती है जिसमें बेरोजगारी की न्यूनतम मात्रा 3 से 5 प्रतिशत तक बनी रहती है। इसका आशय यह है कि यदि किसी समय किसी देश

---

1 Full employment is the point beyond which output proves in elastic in response to further increase in effective demand.
—*Dudley Dillard*

2 Full employment may be considered as the situation in which employment cannot be increased by an increase in effective demand.
—*Dudley Dillard*

3 Ideally full employment would be such as promote continuous maximisation of production and real purchasing power for the people.
—*Nourse*

4 Full employment is a situation where there are more vacant jobs than unemployed men so that normal lag between loosing one job *and finding another will be very short.* —*William Beveridge*

5 *... that when only 3 percent to 4 percent unemployment exists* in a country the country can be said to have reached full employment. Other conditions of full employment mentioned by I. L. O. are that there should be no exploitation of labour and that the workers should be able to find alternate employment early.
—*I. L. O. Report on Full Employment*

से 95 से 98 प्रतिशत तक कार्यशील जनसंख्या को रोजगार मिला हुआ हो तो उसे पूर्ण रोजगार की स्थिति मानना चाहिए।

(2) पूर्ण रोजगार वह स्थिति होती है जिसमें प्रचलित मजदूरी की दर पर कार्य चाहने वालों को रोजगार के अवसर उपलब्ध हों।

(3) पूर्ण रोजगार की अवस्था से अभिप्राय उस अवस्था से होता है जबकि बेरोजगार व्यक्तियों की तुलना में रिक्त स्थान अधिक मात्रा में उपलब्ध हों जिससे कि बेरोजगार व्यक्ति को रोजगार प्राप्त करने में अधिक कठिनाई न हो।

(4) पूर्ण रोजगार स्तर प्राप्त हो जाने के बाद अर्थव्यवस्था में कुल व्यय या प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होने पर उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि नहीं होगी।

अर्द्ध-विकसित देश तथा पूर्ण रोजगार—पूर्ण रोजगार की विभिन्न धारणाएँ विकसित अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित हैं। जहाँ बेरोजगारी का प्रमुख कारण प्रभावपूर्ण माँग में व्याप्त कमी होती है। अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति कभी नहीं पाई जाती क्योंकि इन देशों में बेरोजगारी पूँजी के अभाव तथा तकनीकी प्रगति के अभाव के कारण होती है न कि प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण। अर्द्ध विकसित देशों में अदृश्य बेरोजगारी, संरचनात्मक बेरोजगारी, घर्षणात्मक बेरोजगारी आदि पाई जाती है। इनमें अदृश्य बेरोजगारी की प्रमुखता रहती है। फिर भी इन देशों में सरकारों द्वारा कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु जो संकल्प किए जाते हैं उनमें पूर्ण रोजगार का लक्ष्य मानकर बेरोजगारी दूर करने के प्रयास किए जाते हैं।

पूर्ण रोजगार की नीति (Policy for Full Employment)—बेरोजगारी मानव जाति के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। बेरोजगारी के दुष्प्रभाव से उपलब्ध श्रम शक्ति का ह्रास तो होता ही है, साथ ही साथ इससे राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय उत्पादन में कमी, रहन-सहन के स्तर में गिरावट, द्वेष तथा हीन भावना तथा वर्ग संघर्ष आदि कुरीतियाँ पनपती हैं। इस कारण पूर्ण रोजगार की नीति ही ऐसी हो सकती है जिसे अपनाकर समाज बेरोजगारी के दुष्प्रभाव से बच सकता है। पूर्ण रोजगार हेतु राष्ट्रीय नीति का होना अति आवश्यक है। परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना आसान कार्य नहीं है। पूर्ण रोजगार हेतु निर्मित मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों का मिश्रण होता है। जैसा कि हम जानते हैं, विकसित तथा अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्थाओं में मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के उद्देश्यों में भिन्नता पाई जाती है इसलिए पूर्ण रोजगार प्राप्ति हेतु इन देशों के प्रयत्नों में भी अन्तर देखने को मिलता है। विकसित देशों में आर्थिक स्थिरता को बनाए रखकर पूर्ण रोजगार प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है तथा प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि के द्वारा बेरोजगारी को दूर किया जाता है। अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने की प्रमुख समस्या होती है और इन देशों में पूँजी के अभाव, तकनीकी असमानता को दूर करके तथा उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का समुचित विदोहन करके बेरोजगारी को दूर करने के प्रयास किए जाते हैं। पूर्ण रोजगार प्राप्ति हेतु निम्नलिखित नीतियाँ एवं उपाय अपनाए जा सकते हैं—

(1) मौद्रिक नीति (Monetary Policy)

मौद्रिक नीति के अन्तर्गत वे सभी उपाय आते हैं जिनको सरकार जनता द्वारा किए जाने वाले कुल व्यय को विनियमित करने के लिए करती है। मौद्रिक नीति विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनाई जा सकती है इनमें पूर्ण रोजगार की प्राप्ति प्रमुख उद्देश्य है। मौद्रिक नीति के अन्तर्गत मुद्रा तथा साख नीति को नियन्त्रित करके पूँजी विनियोजन, प्रभावपूर्ण माँग तथा रोजगार के स्तर को प्रभावित किया जाता है। पूँजीवादी एवं विक-

मित अर्थव्यवस्थाओं में चक्रीय उच्चावचनों को नियन्त्रित करने में मौद्रिक नीति कभी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। मंदीकाल और तेजीकाल (Depression and Boom) जैसी आर्थिक अस्थिरता में मौद्रिक नीति कारगर साबित हो सकती है। मंदीकाल में मौद्रिक नीति का उद्देश्य मुद्रा की पूर्ति (कानूनी तथा साख मुद्रा) में वृद्धि के लिए जो उपाय केन्द्रीय बैंक को अपनाने चाहिए उनमें (i) कानूनी तथा साख मुद्रा की पूर्ति बढ़ाना (ii) ब्याज की दरों में कमी करना (iii) प्रारक्षित निधि अनुपात (Cash Reserve Ratio CRR) तथा सवैधानिक तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio SLR) जो केन्द्रीय बैंक के पास देश के विभिन्न व्यापारिक बैंकों के लिए रखना आवश्यक होते हैं में कमी करना होना चाहिए। मंदीकाल में यह उपाय सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) कहलाते हैं। इनका उद्देश्य मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करके पूंजी विनियोजन में वृद्धि करना होता है विशेषतौर पर सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करना क्योंकि मंदीकाल में निजी व्यय साहसियों में व्याप्त निराशावादिता के कारण प्रायः नहीं होता। तेजीकाल में मौद्रिक नीति का उद्देश्य मुद्रा की पूर्ति में कमी करना होना चाहिए जिससे अनावश्यक व्यय पर रोक लग सके। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा को प्रभावित करके पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त किया जा सकता है।

(ii) राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)

एक देश की सरकार पूर्ण रोजगार को प्राप्त हेतु मौद्रिक नीति के अलावा राजकोषीय नीति का भी सहारा लेती है। राजकोषीय नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक आय व्यय कर ऋण तथा बजट सम्बन्धी नीतियाँ आती हैं। इन नीतियों के माध्यम से सार्वजनिक आय व्यय प्रभावपूर्ण माँग उपभोग विनियोग आदि को प्रभावित करके रोजगार के स्तर को प्रभावित किया जाता है। मंदीकाल में सरकार उपभोग व्यय तथा विनियोग व्यय दोनों में इस प्रकार सामजस्य स्थापित करती है जिससे कि प्रभावपूर्ण माँग बढ़ी रहे और रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जा सके। मंदी के समय सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि अप्रत्यक्ष करों में कमी करके उपभोग प्रवृत्ति को बढ़ाया जाता है। तेजीकाल में सरकार को सार्वजनिक व्यय में कमी करके तथा सार्वजनिक आय वृद्धि हेतु उपाय करने चाहिए।

अन्य उपाय एवं नीतियाँ (Other Measures and Policies)—पूर्ण रोजगार प्राप्ति हेतु अन्य उपाय तथा नीतियाँ भी अपनाई जा सकती हैं जैसे—

1 **मजदूरी नीति (Wage policy)**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी कि मजदूरी कटौती नीति[1] (Wage cut Policy) द्वारा पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु प्रो० कीन्स प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के इस विचार से सहमत नहीं हैं उनका कहना है कि रोजगार स्तर को बढ़ाने के लिए मजदूरी कटौती के स्थान पर प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करनी चाहिए। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि कीन्स के प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि के तर्क में भी वही त्रुटि है जो पीगू के मजदूरी कटौती सिद्धान्त में है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि रोजगार के लिए मजदूरी नीति क्या हो यह बात कई बातों पर निर्भर करती है। पूर्ण रोजगार प्राप्ति हेतु एक ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे स्फीतिक एवं अवस्फीतिक स्थितियाँ न उत्पन्न हों। अर्थात् सन्तुलित मजदूरी नीति (Balanced Wage Policy) होनी चाहिए। मजदूरी नीति मौद्रिक मजदूरी को प्रभा-

---

1 प्रतिष्ठित रोजगार के सिद्धान्त में प्रो० पीगू ने पूर्ण रोजगार हेतु मजदूरी कटौती सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसका विवरण अध्याय 4 में दिया गया है।

वित करती है वास्तविक मजदूरी को नही। देखा जाए तो वास्तविक मजदूरी ही महत्वपूर्ण होती है। परन्तु मजदूरी नीति का सम्बन्ध मौद्रिक मजदूरी से ही होता है। मजदूरी नीति ऐसी हो कि जिससे श्रमिक तथा उत्पादक दोनों ही वर्गों के हितों की सुरक्षा हो सके। इसका आशय यह है कि मजदूरी की दरें इतनी अधिक न हो जिससे कि लागतें इतनी बढ जाये कि उसका लाभ श्रमिकों को न मिल सके और मजदूरी इतनी कम भी न हो जिससे कि श्रमिकों के लिए जीवन यापन ही दुर्लभ हो जाए। मजदूरी दर व लाभ के अनुपात में उचित सन्तुलन रहना चाहिए।

मजदूरी नीति इस प्रकार से भी निर्दिष्ट हो कि उद्योगों व्यापारों तथा अन्य क्षेत्रों में मजदूरी दर विशिष्ट रूप से प्रभावित की जाए न कि मजदूरी के सामान्य स्तर को। इसके साथ ही मजदूरी नीति ऐसी हो जिससे मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओं की कीमतों में स्थिरता बनी रहे। स्थिर कीमतों के साथ बढती हुई मजदूरी नीति अपनाना अधिक श्रेयस्कर होता है।

प्रो० ए० पी० लनर का कहना है कि मजदूरी नीति सापेक्षित आकर्षण सूचकांक (Index of Relative Attractiveness) पर आधारित होनी चाहिए। मजदूरी नीति ऐसी हो ताकि उत्पादकता में वृद्धि के साथ मजदूरी में भी वृद्धि की जा सके। उन स्थानों में मजदूरी में तेजी से वृद्धि होना चाहिए जहाँ पर सापेक्ष आकर्षण सूचकांक राष्ट्रीय औसत सूचकांक से नीचा हो तथा उन स्थानों में मजदूरी दर कम हो जहाँ सापेक्ष आकर्षण सूचकांक राष्ट्रीय औसत सूचकांक से ऊँचा हो।

2 **कीमत नीति (Price Policy)**—पूर्ण रोजगार की प्राप्ति हेतु कीमत समर्थन नीति भी अपनाई जा सकती है। मंदी के समय कीमतें जब गिरती हो तो सरकार को न्यूनतम कीमतें घोषित करना चाहिए परन्तु यदि कीमत स्तर इस निर्धारित कीमत स्तर से नीचे जाने की प्रवृत्ति दिखलाए तो स्वयं सरकार को अतिरिक्त स्टॉक की खरीद करना चाहिए। जब तेजी काल में कीमत-स्तर अनावश्यक रूप से बढ रहा हो तो उसको बाजार में बिक्री हेतु लाकर वस्तुओं की पूर्ति की जा सकती है। इस प्रकार मंदी तथा तेजी काल दोनों ही स्थितियों में समर्थित कीमत नीति (Price Support Policy) अपनाकर रोजगार में वृद्धि करना सम्भव होता है।

3 **श्रम बाजार की अपूर्णताओं को दूर करने की नीति (Policy for Removing Imperfections of Labour Markets)**—इस नीति का आशय यह है कि विभिन्न व्यवसायों एवं क्षेत्रों में श्रमिकों की माँग तथा पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना चाहिए। इस के लिए निम्न उपाय अपनाए जा सकते हैं —

(i) जिन क्षेत्रों या व्यवसायों में श्रमिकों की माँग अधिक हो उनमें उनकी पूर्ति हेतु निरन्तर सरकार को सजग रहना चाहिए तथा इसके लिए पर्याप्त प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

(ii) रोजगार कार्यालयों की संख्या बढानी चाहिए जिससे कि बेरोजगार व्यक्ति वहाँ पहुँचकर अपना पंजीकरण करा सकें तथा रोजगार सृजन करने वाले प्रतिष्ठान इन कार्यालयों में रिक्त स्थानों की सूचना दे सकें।

4. **उपभोग मे वृद्धि (Increase in Consumption)**—बेरोजगारी दूर करने के लिए माँग का निरन्तर बने रहना भी आवश्यक होता है जो बिना उपभोग वृद्धि के सम्भव नही होता। इसके लिए विशेषतौर पर मन्दीकाल में सरकार को सार्वजनिक व्यय बढाने चाहिए जिससे लोगों की आय बढे तथा उपभोग प्रवृति में वृद्धि हो क्योंकि उपभोग प्रवृति में वृद्धि प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करेगी। परिणामस्वरूप रोजगार का स्तर भी ऊंचा उठेगा।

5 **विनियोगों में वृद्धि (Increase in Investment)**—आपने काम में विनियोगों में वृद्धि द्वारा अल्पकाल में रोजगार के स्तर को ऊँचा उठाने की बात कही थी। उन्होंने मन्दीकाल में सार्वजनिक तथा निजी विनियोग दोनों को ही बढ़ाने का सुझाव दिया था। उनका कहना था कि विनियोग बढ़ाने से लोगों को आय बढ़ेगी तथा रोजगार मिलेगा। वह कहते हैं कि विनियोग दो बातों पर निर्भर करता है (i) ब्याज की दर (ii) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता। ब्याज की नीची दर द्वारा लोगों को अधिक पूँजी की माँग बढ़ाने तथा विनियोगों के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। नीची ब्याज की दर लागू करना सस्ती मुद्रा नीति भी कहलाती है।

विनियोगों में वृद्धि के लिए आवश्यक है पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अर्थात् पूँजी निवेश से होने वाले लाभ से होता है। जब निजी साहसी पूँजी निवेश करता है तो वह पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर की तुलना करता है। मन्दीकाल में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता या कुशलता में काफी गिरावट आ जाती है और ब्याज की दरों में भी यद्यपि नीची गिर जाती है तो निजी साहसियों के लिए पूँजी निवेश अलाभकर होता है। इसलिए कीन्स ने मन्दी काल में सार्वजनिक निवेशों में वृद्धि के लिए सरकार को विभिन्न निर्माण कार्यों को प्रारम्भ करने की सलाह दी थी। इससे लोगों को रोजगार प्राप्त होगा, आय बढ़ेगी, उपभोग में वृद्धि से प्रभावपूर्ण माँग बढ़ेगी जिससे निवेश लाभप्रद बने रहेंगे।

6 **विदेशी व्यापार में वृद्धि (Increase in Foreign Trade)**—पूर्ण रोजगार हेतु विदेशी व्यापार में वृद्धि के लिए प्रयास करना चाहिए। विदेशी व्यापार में वृद्धि होने से निर्यातक उद्योगों में लगे श्रमिकों की माँग बढ़ेगी। अर्द्ध विकसित देशों में विदेशी पूँजी की आवश्यकता भी अधिक होती है जिससे ये देश विदेशों से तकनीक तथा आवश्यक वस्तुओं का आयात कर सकें। विदेशी व्यापार में वृद्धि से एक ओर तो देश के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा अर्जित करना सम्भव होगा दूसरी ओर निर्यात उद्योगों को प्रोत्साहन मिलेगा और श्रमिकों की माँग बढ़ेगी उनको पर्याप्त रोजगार मिलेगा, आय बढ़ेगी, उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि होगी और उत्पादकों को भी पर्याप्त प्रोत्साहन उत्पादन को जारी रखने के लिए बना रहेगा।

निष्कर्ष (Conclusion)—पूर्ण रोजगार की नीति एक लक्ष्य के रूप में सभी देशों को स्वीकार करना चाहिए। पूर्ण रोजगार के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की नीति की आवश्यकता होती है क्योंकि सरकार के द्वारा ही विभिन्न प्रकार की नीतियों जैसे मौद्रिक, राजकोषीय तथा अन्य नीतियों के मध्य समन्वय तथा उचित सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है। पूँजीवादी तथा विकसित अर्थव्यवस्था की अपेक्षा समाजवादी या नियन्त्रित अर्थव्यवस्था वाले देशों में पूर्ण रोजगार की प्राप्ति करना थोड़ा सरल होता है। इसका कारण यह है कि नियन्त्रित अर्थव्यवस्थाओं में विभिन्न नीतियों को आवश्यकतानुसार उन्हें अपनाया जा सकता है तथा उनमें सामंजस्य स्थापित करके उन्हें और अच्छे रूप से क्रियान्वित किया जा सकता है।

परीक्षा प्रश्न

1 बेरोजगारी से आप क्या समझते हैं? बेरोजगारी के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

(What do you understand by unemployment Explain different types of unemployment.)

2 अल्प विकसित देशों में बेरोजगारी के क्या कारण हैं? इस समस्या में बेरोजगारी दूर करने के लिए आप क्या सुझाव देंगे?

(What are the causes of unemployment in under-developed countries ? What measures would you suggest to remove unemployment in such countries ?)

3 पूर्ण रोजगार से आप क्या समझते हैं ? पूर्ण रोजगार नीति की व्याख्या कीजिए।

(What do you mean by full employment ? Discuss full employment policy.)

4 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणी लिखिए
(i) घर्षणात्मक बेरोजगारी
(ii) संरचनात्मक बेरोजगारी
(iii) अदृश्य बेरोजगारी
(iv) चक्रीय बेरोजगारी
(v) मौसमी बेरोजगारी
(vi) ऐच्छिक तथा अनैच्छिक बेरोजगारी।

Write notes on any two of the following
(i) Frictional unemployment
(ii) Structural unemployment
(iii) Disguised unemployment
(iv) Cyclical unemployment
(v) Seasonal unemployment
(vi) Voluntary and Involuntary unemployment

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

निम्नलिखित प्रश्नों में से कौन-सा सही है और कौन सा गलत है।

(i) पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाए रखना अथवा बेरोजगारी को समाप्त करने के लिए एक राष्ट्रीय नीति अपनाना जरूरी है।
(ii) घर्षणात्मक बेरोजगारी एक स्थायी प्रकार की बेरोजगारी होती है।
(iii) तकनीकी बेरोजगारी एक अस्थायी बेरोजगारी होती है।
(iv) संरचनात्मक बेरोजगारी का मुख्य कारण अर्थव्यवस्था की संरचना का दोषपूर्ण होना है।
(v) चक्रीय बेरोजगारी विकसित देशों की देन है जो समय-समय पर घटित व्यापार चक्रों अर्थात् तेजीकाल और मंदीकाल के कारण होती है।
(vi) अदृश्य बेरोजगारी विकसित अर्थव्यवस्थाओं में पाई जाती है।
(vii) पूर्ण रोजगार का आशय यह है कि प्रचलित मजदूरी की दर पर काम चाहने वालों को कार्य मिलता है।
(viii) पूर्ण रोजगार वह अवस्था है जहाँ अदृश्य बेरोजगारी अनुपस्थित रहती है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) गलत है। (iii) सही है। (iv) सही है। (v) सही है। (vi) गलत है। (vii) सही है। (viii) सही है।

Supply creates its own demand —J B Say

अध्याय 4

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त

(CLASSICAL THEORY OF EMPLOYMENT)

भूमिका

रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त को क्लासिकल रोजगार का सिद्धान्त भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त का समर्थन श्री एडम स्मिथ, श्री रिकार्डो, जे बी से तथा अन्य प्रतिष्ठित विद्वानों ने किया। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि अर्थव्यवस्था में सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है और यदि कभी बेरोजगारी हो तो अर्थव्यवस्था में स्वयं ऐसे कारक उपस्थित हो जायेंगे जिनसे बेरोजगारी समाप्त होकर पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। पूर्ण रोजगार को सामान्य स्थिति प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मानते थे और बेरोजगारी को असामान्य स्थिति। उनकी इस धारणा का मुख्य आधार प्रो० जे० बी० से (Prof J B Say) का बाजार नियम था जिसके अनुसार पूर्ति अपनी माँग स्वयं पैदा कर लेती है। (Supply creates its own demand) प्रो० जे० एस० मिल का कहना था कि सार्विक उत्पादन चाहे कितना ही क्यों न हो यह सार्विक माँग से किसी भी हालत में अधिक नहीं हो सकता। इसी आधार पर इन विद्वानों का दावा था कि अनैच्छिक तथा सामान्य बेरोजगारी की स्थिति पाई नहीं जाएगी।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों तथा प्रो० जे० बी० से० का पूर्ण विश्वास था कि जब अर्थव्यवस्था स्वतन्त्र रूप से कार्य करती है तो बेरोजगारी तथा अधिक उत्पादन की स्थिति हो ही नहीं सकती। प्रतिष्ठित विद्वानों का कहना था कि पूर्ण रोजगार की स्थिति वाले समाज में ऐच्छिक तथा संघर्षात्मक (Voluntary and Frictional Unemployment) हो ही नहीं सकता। ऐच्छिक बेरोजगारी से आशय उस स्थिति से होता है जब प्रचलित मजदूरी दर पर श्रमिक कार्य करने को तैयार न हों। ऐसी स्थिति कि जब श्रमिकों को कार्य उपलब्ध हो और वह कार्य नहीं करना चाहें तो इसे बेरोजगारी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। संघर्षात्मक बेरोजगारी से आशय उस स्थिति से है जब कि श्रमिकों को रोजगार सम्बन्धी बातों की पूरी जानकारी न हो या बाजार सम्बन्धी अपूर्णताओं तथा अपनी अज्ञानता के कारण श्रमिक बेरोजगार रहें।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री कहते थे कि अनैच्छिक तथा सामान्य बेरोजगारी की स्थिति नहीं पाई जा सकती। उनका कहना था कि अनैच्छिक बेरोजगारी सम्भव नहीं है अर्थात् अनैच्छिक बेरोजगारी के न होने पर ही पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाएगी। अनैच्छिक बेरोजगारी का न पाया जाना ही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के रोजगार सिद्धान्त की मुख्य विशेषता है। उनका विचार था कि जब काम करने वाले व्यक्ति कार्य नहीं करना चाहते तो ऐसा उस समय होता है जब कि अर्थव्यवस्था के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने में बाधा उत्पन्न हो जाए जैसे—(i) मजदूरी बढ़वाने के लिए श्रम संघों द्वारा हड़ताल डालना

(7) मुद्रा वस्तु विनिमय की अर्थव्यवस्था का एक रूप के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

से के नियम की आलोचनाएं (Criticism of Say s Law)

प्रो. जे. बी. से के बाजार नियम की आलोचनाएं अनेक अर्थशास्त्रियों ने की है। प्रो० जे० बी० से के बाजार नियम को सबसे बड़ा आघात वर्ष 1929 30 की मन्दी ने पहुँचाया। मन्दीकाल से पहले ही प्रो० से के बाजार नियम की आलोचना होने लगी थी। प्रो० हाब्सन ने से के नियम की सबसे पहले आलोचना की परन्तु उनके प्रहार से के नियम के विरुद्ध अधिक सफल नहीं थे। सन् 1936 में प्रकाशित अपनी पुस्तक (The General Theory) में प्रो० से के नियम की बड़ी आलोचना प्रो. जे. एम. कीन्स ने की। इसके अलावा अमेरिकन अर्थशास्त्री पी० स्वीजी अंग्रेजी अर्थशास्त्री प्रो० राबर्टसन ने भी से के नियम की आलोचना की। इनके नियम के सबसे बड़े आलोचक प्रो. जे. एम. कीन्स हैं। प्रो० पी० एम० स्वीजी का इस सम्बन्ध में कहना है कि कीन्स की सबसे बड़ी सफलता एंग्लो अमेरिकन अर्थशास्त्रियों को जे. बी. से के बाजार नियम से छुटकारा दिलाना था।[1] प्रो. से के नियम की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार से व्यक्त की जा सकती हैं।

(1) **नियम अवास्तविक है**– आलोचकों का कहना है कि प्रो. से का नियम इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि जितना माल उत्पादित होता है वह सारा का सारा बिक जाता है। अर्थात समस्त आय को या तो उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है या फिर उसे निवेश कर दिया जाता है। आय स्वतः उत्पादित वस्तुओं पर व्यय कर दी जाती है जिससे सभी साधनों को पूर्ण रोजगार मिल जाता है। आय का यह प्रवाह (Flow) सदा बना रहता है। प्रो. कीन्स के कहना है कि माँग में कमी आ जाती है क्योंकि समस्त आय को समस्त उत्पादन की वस्तुओं पर व्यय नहीं किया जाता।

(2) **मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम ही नहीं है** प्रो० से ने मुद्रा को विनिमय माध्यम मात्र का ही प्रमुख माना है। प्रो० कीन्स का कहना है कि मुद्रा का एक अन्य कार्य मूल्य संचय भी है अर्थात् भावी आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मुद्रा को संचित करके रखा जा सकता है। इससे आय व्यय प्रवाह टूट जाता है और अति उत्पादन तथा बेरोजगारी की स्थिति देखी जा सकती है।

(3) **बचत एवं विनियोग की समानता**—प्रो० से० का कहना था कि ब्याज की दर के माध्यम से इन दोनों में समानता स्थापित की जा सकती है। प्रो० कीन्स ने कहा कि बचत तथा निवेश ब्याज की दर का अपेक्षा आय को आगे में अधिक प्रभावित होते हैं। प्रो० कीन्स का कहना है कि आय के स्तर में परिवर्तन करके बचत एवं विनियोग में सन्तुलन स्थापित किया जा सकता है।

(4) **सरकारी हस्तक्षेप**—प्रो० से का नियम स्वसंचालित एवं समायोजित मान्यता पर आधारित है। प्रो० कीन्स ने कहा कि अर्थव्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करने के लिए अर्थव्यवस्था को स्वतन्त्र रूप से काम करने के स्थान पर सरकारी हस्तक्षेप की नीति अपनाना चाहिए।

---

1 Keynes greatest achievement was the liberation of Anglo American Economists from tyrannical dogma ie Say s law

—P M Sweezy

(5) **मजदूरी में कटौती करना आवश्यक नहीं है**—प्रो० पीगू ने से के नियम का समर्थन करते हुए कहा कि नकद मजदूरी में कमी करके बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है। प्रो० कीन्स ने इस विचार की आलोचना करते हुए कहा कि मजदूरी लागत का अंश ही नहीं वरन एक प्रकार से साधन की आय है। मजदूरी में कटौती का आशय प्रभावपूर्ण माँग में कमी लाएगी उत्पादन कम होगा और बेरोजगारी बढ़ेगी।

(6) **दीर्घकालीन साम्य विश्लेषण**—प्रो० से का नियम दीर्घकालीन साम्य विश्लेषण पर आधारित है अर्थात दीर्घकाल में माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। प्रो० कीन्स का कहना है कि वास्तविक स्थिति तो अल्पकालीन साम्य की होती है जिसके बारे में प्रतिष्ठित विद्वान कुछ नहीं कहते।

(7) **पूर्ण तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता की मान्यता**—प्रो० से का नियम त्रुटि तथा स्वतन्त्र *प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है जो त्रुटिपूर्ण है। इस सम्बन्ध में आलोचकों* का कहना है कि हम जिस समाज में रहते हैं उसमें अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पाई जाती है।

(8) **मुद्रा आय, उत्पादन तथा रोजगार को भी प्रभावित करती है**—प्रो० से के नियम के अनुसार मुद्रा एक आवरण मात्र है जिसमें वस्तुएँ तथा सेवाएँ हमारे पास लिपट कर आती हैं। जबकि प्रो० कीन्स का कहना है कि मुद्रा आय उत्पादन रोजगार तथा अन्य घटकों के *निर्धारण में एक स्वतन्त्र भूमिका निभाती है।*

प्रो० से के बाजार नियम की उपर्युक्त आलोचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रो० से का नियम अवास्तविक एवं अव्यवहारिक है। प्रो० हेबरलर ने से के नियम का खण्डन करते हुए लिखा है कि—आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में से के नियम के लिए कोई स्थान नहीं है और न ही इसकी आवश्यकता है। नव परम्परावादी अर्थशास्त्रियों ने भी अपने मुद्रा तथा व्यापार चक्र सम्बन्धी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक कार्यों में इसको पूरी तरह नकार दिया है। [1]

प्रो० से के नियम की क्रियाशीलता
(Applicability of Say's Law)

प्रो० जे० बी० से के बाजार नियम के समर्थक इस नियम की क्रियाशीलता को वास्तविकता मानते हैं और कहते हैं कि यह नियम सभी प्रकार की अर्थव्यवस्था में लागू होता है। से ने जिन मान्यताओं की व्याख्या की है यदि वह नहीं हो तो नियम भी लागू होगा।

(1) **वस्तु विनिमय व्यवस्था में से का नियम** (**Say's Law in Barter System**)—*से के नियम के समर्थक कहते हैं कि यह नियम वस्तु-विनिमय प्रणाली में लागू* होता है। इसकी मान्यता यह है कि मुद्रा का व्यय प्रवाह तटस्थ रहता है। एक विक्रेता द्वारा धन के लिए अपनी वस्तुएँ बेची जाती हैं जैसे ही इन वस्तुओं से प्राप्त धन उसे मिलता है वह अन्य वस्तुओं पर व्यय कर देता है। मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम है जो वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय सरल बनाती है। वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय अनुपात समान रहते हैं।

---

1 There is no place and no need for say's law in modern Economic Theory and that it has been completely abondoned by neo classical in their actual theoretical and practical work on money and the business cycles' —*Haberler*

आधुनिक अर्थशास्त्री इस कथन से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार वस्तुओं तथा सेवाओं का विनिमय अनुपात सदैव बराबर हो यह आवश्यक नहीं है क्योंकि इनकी माँग और पूर्ति में असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और नियम लागू नहीं होगा।

(2) **मौद्रिक अर्थव्यवस्था में से का नियम** (Says Law in Monetary Economy)– परम्परावादी तथा नव परम्परावादी विद्वानों ने कहा कि प्रो० से का नियम मौद्रिक व्यवस्था में भी लागू होता है। वे इस सम्बन्ध में दो तर्क देते हैं। (i) मुद्रा विनिमय का एक साधन मात्र है। मुद्रा वस्तुओं के एक समूह का विनिमय करने के बाद दूसरी वस्तुओं के समूह का विनिमय सम्पन्न कराने लगती है। (ii) उत्पादन बढ़ने के साथ आय में वृद्धि होती है तथा उतना ही व्यय बढ़ जाता है। जो धन बचा लिया जाता है उसका विनियोग हो जाता है तथा धन संचय नहीं किया जाता। आय वृद्धि जितनी मात्रा में बढ़ती है उतनी ही मात्रा में व्यय भी किया जाता है। इसलिए माँग तथा पूर्ति में सदैव सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

प्रो० पीगू का मजदूरी कटौती सम्बन्धी रोजगार सिद्धान्त (Prof Pigou's Wage-cut Theory of Employment) परम्परावादी अर्थशास्त्री प्रो० पीगू (Prof A C Pigou) की यह धारणा थी कि यदि श्रमिक अपनी सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी लेने को तैयार रहें तो श्रम बाजार में कभी बेरोजगारी हो ही नहीं सकती। वे कहते हैं कि बेरोजगारी का मुख्य कारण श्रमिकों द्वारा ऊँची मौद्रिक मजदूरी की माँग, सरकारी हस्तक्षेप तथा श्रम संघों (Labour Unions) का प्रभाव पाया जाना है। अर्थव्यवस्था यदि स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करे तो प्रत्येक दशा में मजदूरी का निर्धारण श्रमिकों की माँग और पूर्ति के आधार पर तय होगा और मजदूरी की दर मजदूरों की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) के बराबर हो जायेगी। प्रो० पीगू कहते हैं कि "स्थिर दशाओं में श्रमिकों के मध्य पाई जाने वाली पूर्ण प्रतियोगिता पूर्ण रोजगार को प्राप्त करने और उसे बनाए रखने की एक निश्चित गारण्टी है।"

यदि किसी समय श्रमिकों की पूर्ति उनकी माँग से अधिक हो जाय तो श्रम-बाजार में मजदूरी की दर गिरने लगेगी और यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि श्रम की माँग और पूर्ति में समानता स्थापित नहीं हो जाती। श्रमिकों की माँग उनकी पूर्ति से बढ़ने पर मजदूरी की दरें तब तक गिरती रहेंगी जब तक कि माँग और पूर्ति दोनों बराबर नहीं हो जाती। इस प्रकार मजदूरी की लोचता ही अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार को ला सकती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मानना है कि यदि किसी समय बेरोजगारी पाई जाए और वह काफी समय बनी रहे तो यह समझना चाहिए कि मजदूरी में लोचहीनता व्याप्त है। ऐसी दशा में मजदूरी की दर में कमी करके रोजगार के स्तर को बढ़ाया जा सकता है। मजदूरी में कटौती से बेरोजगारी कैसे दूर होगी इसके सम्बन्ध में प्रो० पीगू का स्पष्ट मत है कि इससे अर्थात् मजदूरी में कटौती उत्पादन लागत को गिरायेगी—कीमतें कम होंगी—वस्तु की बिक्री बढ़ेगी—उत्पादन अधिक होगा—रोजगार का स्तर ऊँचा उठेगा। मजदूरी कटौती से लागत घटने का एक प्रभाव यह होगा कि उत्पादकों के लाभ बढ़ेंगे। अधिक पूँजी विनियोजन होगा– उत्पादन तथा रोजगार दोनों बढ़ेंगे। प्रो० पीगू कहते हैं कि 'श्रम बाजार में बेरोजगारी के दबाव के कारण मजदूरी कटौती का क्रम तब तक जारी रहेगा जब तक उन सभी व्यक्तियों जो रोजगार के इच्छुक हैं, रोजगार नहीं मिल जाता।"

पीगू के सिद्धान्त की आलोचनायें
(Criticism of Pigou's Theory)

(1) **मजदूरी कटौती का त्रुटिपूर्ण विचार**—प्रो० पीगू का सिद्धान्त वैसे तो देखने में सरल एवं सही प्रतीत हो सकता है परन्तु यह उतना सही नहीं है जितना कि यह दिखता है।

प्रो० पीगू तथा अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की सबसे बड़ी भूल यह थी इन विद्वानों ने मजदूरी कटौती को एक फर्म या उद्योग की अपेक्षा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए एक औषधि मान लिया। यदि यह मान भी लिया जाए कि एक उद्योग में मजदूरी कटौती करके रोजगार बढ़ेगा तो भी उस उद्योग में लगे व्यक्तियों की कुल माँग उस उद्योग के उत्पादन की माँग से कहीं अधिक मात्रा में कम होगी। यदि सभी उद्योगों में रोजगार बढ़ाने हेतु मजदूरी कटौती की जायगी तो इससे लोगों की आय (क्रयशक्ति) कम होगी जिससे प्रभावपूर्ण माँग इतनी गिर जायेगी कि रोजगार के स्थान पर बेरोजगारी ही बढ़ेगी।

(2) **आय पक्ष की अवहेलना**—प्रो० पीगू के सिद्धान्त की दूसरी कमी यह थी कि उन्होंने मजदूरी कटौती के केवल लागत पक्ष के बारे में सोचा तथा आय पक्ष की अवहेलना की। यदि मजदूरी एक उत्पादक के लिए लागत है तो एक साधन की आय का स्रोत भी है जो माँग को प्रभावित करती है। रोजगार तो कुल माँग पर निर्भर करता है जो आय द्वारा निर्धारित होता है। मजदूरी कटौती से क्रयशक्ति (आय) के कम होने से बेरोजगारी और बढ़ेगी।

(3) **व्यावहारिकता की कमी**—प्रो० पीगू के सिद्धान्त पर एक अन्य आरोप उसके व्यावहारिक पक्ष का कमजोर होना है। प्रो० कीन्स कहते हैं कि पीगू का मजदूरी कटौती का विचार सैद्धान्तिक दृष्टि से तो उचित लग सकता है परन्तु उसका व्यावहारिक पक्ष अत्यधिक कमजोर है।

(4) **उपभोग प्रवृत्ति की अवहेलना**—प्रो० कीन्स ने पीगू के विचार की आलोचना करते हुए कहा कि पीगू यह नहीं समझ पाये कि मजदूरी कटौती से उपभोग तथा विनियोग दोनों ही प्रभावित होते हैं। उन्होंने उपभोग प्रवृत्ति पर मजदूरी कटौती के पड़ने वाले प्रभावों की अवहेलना करते हुए अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। मजदूरी कटौती रोजगार के स्तर को तभी बढ़ाने में सफल होगी जब कि इससे उपभोग प्रवृत्ति (*Propensity* to Consume) बढ़े।

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त एक दृष्टि में
(Classical Theory of Employment at a Glance)

रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से हमारा तात्पर्य उस रोजगार सिद्धान्त से है जिसका समर्थन प्रो० एडम स्मिथ रिकार्डो जे० बी० से जे० एस० मिल मार्शल तथा पीगू आदि अर्थशास्त्रियों ने किया। प्रो० जे० बी० से तथा प्रो० पीगू के रोजगार सम्बन्धी विचार चाहे उन्होंने पृथक रूप से रखे हों परन्तु इन दोनों के विचार प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त के दो प्रमुख स्तम्भ हैं। संक्षेप में तथा एक दृष्टि में हम प्रतिष्ठित रोजगार के सिद्धान्त को निम्न प्रकार रख सकते हैं —

(1) अर्थव्यवस्था में स्वतः समायोजित होने की क्षमता होती है। जो कुछ भी उत्पादित होता है वह सभी बिक जाता है। $\Sigma O = \Sigma C$ कुल उत्पादन = कुल उपभोग।

(2) अति उत्पादन की स्थिति नहीं पाई जाती। प्रत्येक अतिरिक्त उत्पादन अति क्रयशक्ति को जन्म देता है अर्थात् आय = व्यय ($\Sigma I = \Sigma E$)।

(3) अर्थव्यवस्था में सामान्य बेरोजगारी नहीं दिखाई देती है।

(4) बचत एवं विनियोग में समानता ब्याज की दर के माध्यम से होती है। ($\Sigma S = \Sigma I$)

(5) जब श्रमिक अपनी सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी की माँग करते हैं तभी बेरोजगारी की स्थिति पाई जाती है।

(6) अर्थव्यवस्था में अनैच्छिक बेरोजगारी नहीं पाई जाती है।

(7) अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार एक सामान्य स्थिति है और बेरोजगारी असामान्य स्थिति।

(8) पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में मजदूरी में कटौती करके पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है।

प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की आलोचनाएँ
(Criticism of the Classical Theory of Employment)

प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की कड़ी आलोचना प्रो० कीन्स ने की। प्रारम्भ में प्रो० कीन्स प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री के रूप में हमारे सामने आए परन्तु बाद में उन्होंने प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की विशेष रूप में रोजगार सिद्धान्त की आलोचना की। उनका स्पष्ट मत था कि रोजगार के बारे में प्रो० जे० बी० से तथा प्रो० पीगू के मत इस आधार पर अमान्य हैं कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाती है और बेरोजगारी नहीं होती। प्रो० कीन्स ने 1929-30 की मन्दी को देखा था और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बेरोजगारी एक असामान्य स्थिति नहीं है। यदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का पूर्ण रोजगार का विचार सही होता तो मन्दी के समय बेरोजगारी नहीं पाई जाती। कीन्स ने प्रो० जे० बी० से के बाजार नियम का खण्डन किया तथा प्रो० पीगू द्वारा मजदूरी कटौती द्वारा बेरोजगारी दूर करने के प्रस्ताव को अनुचित और अमान्य ठहराया।

प्रो० कीन्स ने प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की।

(1) **पूर्ण रोजगार की स्थिति सामान्य घटना नहीं है**—प्रो० कीन्स का कहना है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति एक सामान्य घटना नहीं है। पूँजीवादी प्रणाली तथा स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी होना एक सामान्य घटना होती है।

(2) **अर्थव्यवस्था स्वयं समायोजित नहीं होती**—प्रो० कीन्स का कहना था कि अर्थव्यवस्था स्वयं सन्तुलन की स्थिति प्राप्त नहीं कर लेती है। कीन्स ने बतलाया कि समाज में धन के वितरण की व्याप्त असमानताओं के कारण एक ओर तो धनी वर्ग की आवश्यकताएँ पहले से ही सन्तुष्ट हो चुकी होती हैं और उनके द्वारा उपभोग की मात्रा में वृद्धि नहीं होती दूसरी ओर निर्धन व्यक्तियों में व्याप्त गरीबी के कारण उन्हें अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन हो जाता है तथा कुल उपभोग में कमी आती है। कुल उपभोग कुल उत्पादन की अपेक्षा कम रहता है और समग्र माँग में गिरावट आती है। इस असन्तुलन को अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप द्वारा ठीक किया जा सकता है तथा अर्थव्यवस्था में समायोजित होने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती।

(3) **मजदूरी में कटौती द्वारा रोजगार बढ़ाना एक भ्रमपूर्ण धारणा है**- प्रो० कीन्स ने कहा कि प्रो० पीगू का मजदूरी कटौती द्वारा रोजगार के स्तर को बढ़ाना एक त्रुटिपूर्ण भ्रामक कथन है। प्रो० कीन्स कहते हैं कि मजदूरी में कटौती द्वारा नहीं वरन् प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करके पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त किया जा सकता है। मजदूरी की कटौती रोजगार के स्तर को बढ़ाने के स्थान पर गिराती है। इसके अलावा श्रमसंघों के प्रभाव के कारण मजदूरी में कटौती करना सम्भव नहीं होता।

(4) **दीर्घकालीन मान्यता**—प्रो० कीन्स का कहना है कि प्रतिष्ठित रोजगार का सिद्धान्त दीर्घकालीन मान्यता पर आधारित है जब कि हम जिस समाज में रहते हैं वहाँ अल्पकालीन स्थिति होती है।

(5) बचत एवं विनियोग की समानता—प्रो० कीन्स का विचार है कि प्रतिष्ठित विद्वानों की यह धारणा है कि बचत एवं विनियोग समान रहते हैं अर्थात् लोग अपनी समस्त आय का उपभोग कर लेते हैं यदि कुछ बचत होती है तो उसे विनियोजित कर दिया जाता है। उनका कहना है कि बचत एवं विनियोगों में समानता ब्याज की दर की अपेक्षा आय के स्तर पर निर्भर करती है। इतना ही नहीं कुल आय हमेशा व्यय ही कर दी जाए इस बात का भी खण्डन प्रो० कीन्स ने किया और बताया कि आय का एक भाग बचा लिया जाता है और यदि इस भाग को विनियोग न किया जाए तो बेरोजगारी पाई जाएगी।

(6) अवास्तविक मान्यताएँ—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित रोजगार का सिद्धान्त पूर्ण रोजगार पूर्ण प्रतियोगिता अबन्ध नीति (Laissez faire) तथा कीमत-प्रक्रिया जैसी अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। यह मान्यताएँ वास्तविक जगत में नहीं पाई जातीं इसलिए प्रतिष्ठित रोजगार का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। वर्तमान समय में बिना सरकारी हस्तक्षेप के किसी भी दशा में पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त करना हवा में महल बनाने जैसी बात होगी। प्रो० कीन्स ने कहा कि परम्परावादी अर्थशास्त्र में जिन विशिष्ट सिद्धान्त की व्याख्या की गई है वे उस वर्तमान वास्तविक समाज के अनुसार नहीं हैं जिसमें हम रहते हैं। यह सिद्धान्त एक अवास्तविक एवं अव्यवहारिक है।'

प्रतिष्ठित तथा प्रो० कीन्स की विचारधाराओं में अन्तर
(Difference between Classical and Keynesian Views)

इन दोनों विचारधाराओं में निम्न अन्तर पाए जाते हैं— 96195

(1) प्रो० कीन्स की विचारधारा अल्पकालीन सन्तुलन की व्याख्या पर आधारित है जबकि प्रतिष्ठित विद्वान दीर्घकालीन सन्तुलन पर जोर देते हैं।

(2) प्रतिष्ठित विद्वान पूँजी निर्माण के लिए बचतों को आवश्यक मानते हैं जबकि कीन्स कहते हैं कि बचतें प्रभावपूर्ण माँग को गिराती हैं जिससे रोजगार का स्तर गिरता है।

(3) प्रतिष्ठित विद्वान अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति को सामान्य बात मानते हैं जबकि कीन्स का कहना है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी एक सामान्य घटना होती है।

(4) प्रतिष्ठित विद्वान प्रचलित मजदूरी की दरों में कटौती करके पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त करने का सुझाव देते हैं जबकि कीन्स का कहना है कि मजदूरी कटौती नीति उचित एवं व्यावहारिक नहीं है।

(5) प्रतिष्ठित विद्वान सूक्ष्म आर्थिक विश्लेषण पर अधिक जोर देते हैं जबकि कीन्स व्यापक आर्थिक विश्लेषण के अध्ययन पर अधिक बल देते हैं।

(6) प्रतिष्ठित विद्वानों की अधिकांश मान्यताएँ अवास्तविक हैं जबकि कीन्स गतिशील मान्यताओं को अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में प्रयोग करते हैं।

(7) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की विचारधारा विशिष्ट सिद्धान्त पर आधारित है जबकि कीन्स का सिद्धान्त एक सामान्य सिद्धान्त है।

(8) प्रतिष्ठित विद्वान सन्तुलित बजट (Balanced Budget) बनाने पर जोर देते हैं, जबकि कीन्स घाटे के बजट (Deficit Budget) आर्थिक संकट विशेषकर मन्दीकाल से निपटने के लिए जरूरी मानते हैं।

(9) प्रतिष्ठित सिद्धान्त की यह मान्यता है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाने पर मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से कीमत स्तर बढ़ता है। कीन्स का कहना है कि पूर्ण रोजगार बिन्दु से पहले मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से कीमत-स्तर में समानुपातिक दर से वृद्धि नहीं होगी, क्योंकि उत्पादन भी बढ़ता है। पूर्ण रोजगार के बाद मुद्रा की प्रत्येक वृद्धि कीमत-स्तर को समानुपातिक रूप से बढ़ाएगी क्योंकि तब उत्पादन बढ़ने की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जायेंगी।

(10) प्रतिष्ठित सिद्धान्त ब्याज को त्याग का पुरस्कार मानते हैं जबकि कीन्स ने बताया कि ब्याज की दर तरलता पसन्दगी तथा मुद्रा की पूर्ति द्वारा तय होती है।

(11) प्रतिष्ठित सिद्धान्त स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था के समर्थक थे, जबकि कीन्स कहते हैं कि सरकारी नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है।

परीक्षा-प्रश्न

प्रो० जे० बी० से के बाजार नियम का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

(Examine critically Prof J B Say s Law of Markets)

अथवा

पूर्ति अपनी माँग स्वयं पैदा कर लेती है। इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(Supply creates its own demand Discuss critically this statement)

[संकेत—पहले प्रो० जे० बी० से के नियम की तार्किक व्याख्या कीजिए बाद में उनके इस सिद्धान्त की आलोचना दीजिए।]

2 रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(Discuss critically the Classical Theory of Employment)

3 प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। किन आधारों पर कीन्स द्वारा इसका खण्डन किया गया।

(Explain the Classical Theory of Employment On what grounds has it been challenged by Keynes)

4 क्या मजदूरी में कटौती द्वारा रोजगार को बढ़ाना सम्भव है? अपने उत्तर की पुष्टि कारण देकर कीजिए।

(Is it possible to increase employment through wage cut ? Give reasons for your answer)

5 किस आधार पर कीन्स ने प्रतिष्ठित व्यवस्था एवं उसके निष्कर्षों पर प्रहार किया? उनकी व्याख्या प्रतिष्ठित व्याख्या से किस प्रकार भिन्न है?

(On what basis did Keynes attack the classical system and its conclusions ? Where does his system differ from that of classical system ?)

(अ) सैद्धान्तिक महत्व (Theoretical Importance)—प्रो० कीन्स के सिद्धान्त का सैद्धान्तिक महत्व निम्न तथ्यों द्वारा स्पष्ट होता है

1 प्रो० कीन्स का विश्लेषण व्यापक आर्थिक सिद्धान्त के लिए एक महत्वपूर्ण देन है।

2 प्रो० कीन्स के अनुसार आय तथा रोजगार का सन्तुलन अपूर्ण रोजगार स्तर पर स्थापित हो जाता है।

3 प्रो० कीन्स का सिद्धान्त एक सामान्य सिद्धान्त है जो विभिन्न स्थितियों में लागू होता है

4 प्रो० कीन्स मुद्रा सिद्धान्त का कीमत तथा उत्पादन सिद्धान्त के साथ समन्वित करने में सफल हुए हैं।

5 प्रो० कीन्स का दृष्टिकोण प्रावैगिक है क्योंकि इनके सिद्धान्त में प्रावैगिक तत्वों का समावेश किया गया है जिससे आधुनिक आर्थिक सिद्धान्तों को विकसित करने में सहायता मिली है।

6 प्रो० कीन्स ने विनियोगों को रोजगार बढ़ाने में महत्वपूर्ण माना है। उनका कहना है कि बचत एवं विनियोगों में असन्तुलन से अर्थव्यवस्था में असन्तुलन उत्पन्न होता है। उपभोग व्यय तथा आय के बीच अन्तर को समाप्त करने के लिए विनियोगों का सहारा लिया जाना चाहिए।

(ब) व्यावहारिक महत्व (Practical Importance)—प्रो० कीन्स का सिद्धान्त व्यावहारिक पक्ष लिए हुए है जिसकी पुष्टि निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर की जा सकती है—

1 प्रो० कीन्स का कहना था कि पूर्ण रोजगार के निर्धारक तत्व प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि सरकारी हस्तक्षेप की नीति के द्वारा हो सकती है। इस प्रकार उन्होंने अर्थव्यवस्था में असन्तुलन स्थापित होने पर सरकारी हस्तक्षेप की नीति को महत्वपूर्ण माना है।

2 आर्थिक विकास के लिए सदैव सन्तुलित बजट का सहारा नहीं लिया जा सकता सरकार को विकास की गति तेज करने तथा मन्दी से अर्थव्यवस्था को निकालने के लिए घाटे के बजट बनाना चाहिए।

3 प्रो० कीन्स ने घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) को महत्व की ओर हमारा ध्यान दिलाया।

4 प्रो० कीन्स ने राजकोषीय नीति के महत्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया साथ ही मौद्रिक नीति की कमियों की ओर भी बताया।

5 प्रो० कीन्स का कहना था कि मजदूरी की दरें घटाने से रोजगार में वृद्धि करना उचित नहीं है।

6 प्रो० कीन्स ने एक उचित मजदूरी नीति तथा कीमत नीति अपनाने का व्यावहारिक पहलू हमारे समक्ष प्रस्तुत किया।

7 प्रो० कीन्स ने कुल राष्ट्रीय आय कुल उपभोग कुल विनियोग कुल बचत आदि विचारों को देकर अर्थव्यवस्था में सामाजिक लेखांकन नीति (Social Accounting Policy) को तैयार करने की प्रेरणा दी।

कीन्स सिद्धान्त तथा अल्पविकसित देश (Under-developed Countries and Keynes Theory)

अल्प विकसित देशों के लिए कीन्स का रोजगार सिद्धान्त निम्न कारणों से लागू नहीं होता—

1. **अल्प विकसित देशों में बेरोजगारी का स्वरूप अलग होता है**—प्रो० कीन्स का सिद्धान्त विकसित तथा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए तो सही है परन्तु अल्प विकसित देशों के लिए यह सही नहीं है क्योंकि ऐसे देशों में बेरोजगारी की समस्या आर्थिक उच्चावचनों के कारण नहीं आती। ऐसे देशों में बेरोजगारी परम्परागत एवं लगातार पाई जाने वाली होती है। इन देशों में अदृश्य बेरोजगारी तथा अल्प रोजगार की समस्या अधिक होती है साथ ही संयुक्त परिवार प्रणाली और सामाजिक रीतियों के कारण भी बेरोजगारी पाई जाती है। इसके अलावा श्रम की अधिकता तथा अन्य साधनों की न्यूनता बेरोजगारी का प्रमुख कारण है। इसलिए प्रो० कीन्स का सिद्धान्त अल्प-विकसित देशों में बेरोजगारी दूर करने के लिए कारगर नहीं है।

2. **अल्प विकसित देशों की प्रमुख समस्या आर्थिक विकास की उच्च दर को प्राप्त करना होता है**–प्रो० कीन्स ने केवल विकसित देशों में व्याप्त होने वाली आर्थिक अस्थिरता की समस्या का अध्ययन किया है। अल्प विकसित देशों के सामने प्रमुख समस्या आर्थिक विकास की होती है जिसके लिए पूँजी निर्माण तथा पूँजी विनियोजन अति आवश्यक है। पूँजी निर्माण बचतों को प्रोत्साहित करके सम्भव होता है। कीन्स बचत करने को अच्छा नहीं मानते थे।

3. **कीन्स सिद्धान्त की मान्यताएँ अल्पविकसित देशों के लिए सही नहीं हैं**--प्रो० कीन्स की मान्यताएँ दो शीर्षकों के अन्दर आती हैं (i) अल्पकालीन विश्लेषण सम्बन्धित (ii) गुणक सम्बन्धित। कीन्स कहते हैं कि अल्पकाल में उत्पादन तकनीक, श्रमपूर्ति, श्रम की कार्य-कुशलता आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता। अल्प विकसित देशों के विकास के लिए इन्हीं तत्वों का परिवर्तित करने की आवश्यकता होती है। गुणक सम्बन्धी मान्यताएँ, जैसे—अनैच्छिक बेरोजगारी, वस्तुओं तथा सेवाओं की लोचपूर्ण पूर्ति, कच्चे माल की लोचपूर्ण पूर्ति, उपभोग पदार्थों को निर्मित करने वाले उद्योगों में अतिरिक्त उत्पादन क्षमता का होना आदि अर्द्ध-विकसित देशों में नहीं पाई जातीं। इसलिए इसका सिद्धान्त भी अल्प विकसित देशों में सही नहीं पाया जाता। ऐसे देशों में अल्प-रोजगार, अदृश्य बेरोजगारी तथा अर्थव्यवस्था की अकुशलता से गतिशील होना आदि बातें गुणक की क्रियाशीलता में बाधा पहुँचाती हैं।

4. **घाटे की वित्त व्यवस्था और सस्ती मुद्रा नीति का लाभकारी न होना**—अल्प विकसित देशों में सस्ती मुद्रा नीति और घाटे की वित्त व्यवस्था अपनाकर विनियोगों को बढ़ाकर बेरोजगारी दूर करना लाभप्रद नहीं है। इसमें स्फीतिक स्थितियों को जन्म मिलता है। अर्द्ध-विकसित देशों में बचतों को बढ़ाकर पूँजी निर्माण द्वारा धन जुटाकर विकास को बढ़ाना सम्भव होता है। प्रो० कीन्स बचतों को बढ़ाने के विरोध में थे।

5. **अर्द्ध-विकसित देशों का विकास योजनाबद्ध कार्यक्रमों के द्वारा सम्भव है**—प्रो० कीन्स की विचारधारा अर्द्ध-विकसित देशों के लिए लाभकारी नहीं हो सकती। वर्तमान समय में अर्द्ध-विकसित देश योजनाबद्ध तरीके से अर्थात् नियोजित अर्थव्यवस्था को अपनाकर अपने विकास के लिए प्रयत्नशील हैं। ऐसे देशों में उपभोग प्रवृत्ति बढ़ाकर तथा विनियोगों को बढ़ाकर ही विकास करना सम्भव नहीं है। ऐसे देशों में जनसंख्या की अधिकता के कारण उपभोग पर अंकुश लगाकर तथा प्राथमिकता के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में पूँजी विनियोजन का सहारा लिया जा रहा है।

कीन्सवादी चरो के मध्य अन्तर्सम्बन्ध (Inter-relation between Keynesian Variables)

प्रो० कीन्स के रोजगार मॉडल मे रोजगार की मात्रा कुल प्रभावपूर्ण माँग की मात्रा पर निर्भर करती है जो स्वय दो तत्वो पर निर्भर करती है—(1) उपभोग (Consumption) तथा (2) विनियोग (Investment) उपभोग की मात्रा उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करती है जबकि विनियोग की मात्रा ब्याज की दर तथा पूँजी की सीमान्त कुशलता या क्षमता (MEC) पर निर्भर करती है। इस प्रकार कीन्स के सम्पूर्ण रोजगार मॉडल के तीन मुख्य आधार है (i) उपभोग क्रिया (Consumption Function) (ii) पूँजी की सीमान्त कुशलता अथवा क्षमता (Marginal Efficiency of Capital) तथा (iii) ब्याज की दर (Rate of Interest)। यह तीनो चर कीन्सवादी प्रणाली के स्वतन्त्र चर कहे जा सकते है अर्थात यह अन्य चरो से प्रभावित नही होते। परन्तु यह एक दृष्टि से अन्तर निर्भर चर (Interdependent Variables) कहे जा सकते है क्योकि इनमे से किसी एक मे परिवर्तन दूसरे चरो को प्रभावित कर सकता है। कीन्स ने इनके बारे मे कहा है कि यह निर्धारक (उपभोग प्रवृत्ति पूँजी की सीमान्त कुशलता तथा ब्याज की दर) अपने आप मे स्वय जटिल है और इनमे से प्रत्येक मे अन्य चरो द्वारा आशातीत परिवर्तनो के कारण प्रभावित होने की सम्भावना बनी रहती है। परन्तु इन्हे इसलिए स्वतन्त्र चर कहा जाता है कि इनके मूल्य अन्य चरो के मूल्यो द्वारा ज्ञात नही किए जा सकते।[1]

प्रो० कीन्स ने इन स्वतन्त्र चरो की व्याख्या करते हुए कहा है कि ब्याज की दर मुद्रा की माँग तथा उसकी पूर्ति पर निर्भर करती है। मुद्रा की पूर्ति बैक। तथा सरकार द्वारा प्रभावित होती है। *कीन्स के अनुसार मुद्रा की माँग तरलता पसन्दगी के कारण होती* है और यह तीन उद्देश्यो द्वारा प्रभावित होती है जैसे—(i) लेन देन उद्देश्य (ii) सुरक्षा उद्देश्य तथा (iii) सट्टा उद्देश्य। इनमे से प्रथम दो उद्देश्य आय की मात्रा मे परिवर्तनो द्वारा प्रभावित होते है और ब्याज की दर का इन पर कोई प्रभाव नही पडता जबकि तीसरा उद्देश्य सट्टा उद्देश्य ब्याज की दर द्वारा अधिक प्रभावित होता है इसी बात को प्रो० कीन्स ने निम्नलिखित समीकरण द्वारा दिखाया है।

$$M=f(r\ y)$$

M = मुद्रा की पूर्ति f=फलन r=ब्याज की दर y=आय स्तर। इस समीकरण मे जो मुद्रा पूर्ति का फलन r तथा y से दिखाया गया है उसे हम तरलता क्रिया (Liquidity Function) की सज्ञा दे सकते है। मुद्रा की माँग मे परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध आय की मात्रा मे परिवर्तन से होता है और ब्याज की दर से इसका विपरीत सम्बन्ध होता है।

उपभोग की मात्रा मे वृद्धि का मुख्य निर्धारक तत्व वास्तविक आय का स्तर है। आय की मात्रा या स्तर मे वृद्धि होने से उपभोग की मात्रा बढती है परन्तु आय मे होने वाली वृद्धि के अनुपात दर से उपभोग मे कम दर से वृद्धि होती है अर्थात् इकाई से कम उपभोग मे वृद्धि होती है। उपभोग प्रवृत्ति भी ब्याज की दर से प्रभावित हो सकती है। ब्याज की दर मे वृद्धि होने से लोग अधिक मुद्रा बचायेंगे और उपभोग पर व्यय कम

---

1 These determinats (propensity to consume marginal efficiency of capital and rate of interest) are indeed them selves complex and each incapabe of being effected by prospective changes in all other variables But they remain independent in the sense that their values cannot be inferred from one another" —J M Keynes

करेंगे परन्तु उपभोग प्रवृत्ति का ब्याज की दर से सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है और अधिक प्रभावशाली नहीं कहा जा सकता। यदि हम औसत उपभोग को (C) आय स्तर को y से तथा ब्याज की दर को r से व्यक्त करें तो हमें उपभोग क्रिया (Consumption Function) का समीकरण प्राप्त हो जाता जिसे हम निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

$$C = f(y \ r)$$

विनियोगों का स्तर ब्याज की दर तथा पूँजी की सीमान्त कुशलता या क्षमता द्वारा निर्धारित होता है। यदि I को विनियोग की मात्रा r को ब्याज की दर तथा c को उपभोग की मात्रा द्वारा व्यक्त करें तो हम विनियोग क्रिया (Investment Function) का समीकरण प्राप्त होगा जो निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

$$I = f(r \ c)$$

आय के एक स्तर पर ब्याज की दर मुद्रा की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है और ब्याज की दर विनियोग के स्तर को निर्धारित करती है। यदि विनियोग का स्तर उस बिन्दु पर स्थिर रहता है जहाँ ब्याज की दर और पूँजी की सीमान्त कुशलता के बराबर रहती है, तो ऐसी अवस्था को साम्यावस्था में कहा जायेगा। अन्यथा विभिन्न चरों में जब तक परिवर्तन होते रहेंगे जब तक वे एक-दूसरे के बराबर न हो जाएँ।

कीन्सवादी रोजगार मॉडल में स्वतन्त्र तथा निर्भर चर[1] (Dependent and Independent Variables in Keynesian Model of Employment)

आर्थिक चरों को दो भागों में बाँटा जाता है—(i) स्वतन्त्र चर (Independent Variables) तथा (ii) निर्भर चर (Dependent Variables) स्वतन्त्र चर वे चर होते हैं जो अन्य चरों द्वारा प्रभावित नहीं होते जबकि निर्भर चर वे चर होते है जिनका मूल्य अन्य स्वतन्त्र आर्थिक चरों के मूल्यों द्वारा प्रभावित होता है। कीन्सवादी मॉडल में स्वतन्त्र और निर्भर चरों की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की गई है

स्वतन्त्र चर (Independent Variables)

(1) उपभोग क्रिया (Consumption Function)

(2) पूँजी की सीमान्त कुशलता अनुसूची (Schedule of MEC)

(3) तरलता वरीयता अनुसूची (Liquidity Preference Schedule)

(4) मुद्रा की मात्रा (Quantity of Money)

(5) मजदूरी इकाई (Wage Unit)

निर्भर चर (Dependent Variables)

(1) ब्याज की दर (Rate of Interest)

(2) राष्ट्रीय आय उत्पादन तथा रोजगार (National Income, Output and Employment)

(3) उपभोग (Consumption)

(4) विनियोग तथा बचत (Investment and Saving)

स्वतन्त्र चरों में प्रथम तीन चर व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं द्वारा शासित होते है जबकि चौथे तथा पाँचवें चर देश के मुद्रा अधिकारी द्वारा नियन्त्रित होते हैं। चरों के

1. इन चरों की विस्तृत व्याख्या अलग से विभिन्न अध्यायों में की गई है।

स्वतन्त्र तथा निर्भर चरों में वर्गीकरण द्वारा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का निर्धारण इस प्रकार इन तत्वों द्वारा होता है—(i) तीन *मनोवैज्ञानिक क्रियाओं (उपभोग पूँजी की सीमान्त कुशलता तथा तरलता वरीयता)* (ii) मजदूरी इकाई तथा (iii) मुद्रा की पूर्ति। मजदूरी इकाई (Wage Unit) का मूल्य सेवायोजकों तथा मजदूरों के बीच मोलभाव की शक्ति पर निर्भर करता है। इसके द्वारा राष्ट्रीय *आय, रोजगार बचत तथा विनियोग में वास्तविक निर्धारण* में सहायता मिलती है क्योंकि यह कीमतों में परिवर्तनों से अप्रभावित रहता है। ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त कुशलता विनियोगों के स्तर को प्रभावित करती है जो राष्ट्रीय *आय का एक अंग है। इसी प्रकार उपभोग क्रिया उपभोग की मात्रा को प्रभावित करती है* जो राष्ट्रीय आय का एक अन्य अंग है। इस प्रकार कुल उपभोग+कुल विनियोग किसी समय कुल आय कुल उत्पादन अथवा रोजगार की मात्रा का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार उप-*भोग या विनियोगों द्वारा सृजित आय का प्रभाव यहीं पर समाप्त नहीं होता परन्तु आगे* चलकर यह विभिन्न स्वतन्त्र चरों को प्रभावित करता है। स्वतन्त्र चर स्वयं भी निर्भर चरों (Dependent Variables) द्वारा प्रभावित तो होते हैं परन्तु उनके द्वारा निर्धारित नहीं होते। *वस्तु स्थिति यह है कि राष्ट्रीय व्यवस्था बहुत ही जटिल होती है।*

कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त से श्रेष्ठता (Superiority of Keynesian Theory of Employment over Classical Theory of Employment)

प्रतिष्ठित तथा कीन्स के रोजगार सिद्धान्तों के अध्ययन के बाद हम देखते हैं कि दोनों ही सिद्धान्तों की अपनी-अपनी कमियाँ हैं। परन्तु दोनों सिद्धान्तों में कौन सा श्रेष्ठ है? यदि इस प्रश्न का उत्तर खोजें तो हमें यह आसानी से पता चल जायगा कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के रोजगार सिद्धान्त की अपेक्षा कीन्स का रोजगार सिद्धान्त निश्चित रूप से श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता निम्नलिखित तथ्यों से साबित हो जाती है—

(1) **कीन्सवादी दृष्टिकोण वास्तविकता के निकट है**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार की स्थिति को एक सामान्य स्थिति मानते हैं। जबकि कीन्स का कहना है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति *एक साधारण स्थिति नहीं है। अर्थव्यवस्था प्रायः* पूर्ण रोजगार से कम स्तर पर सन्तुलन में होती है अर्थात् अर्थव्यवस्था में थोड़ी बहुत बेरोजगारी हमेशा पाई जाती है। ऐसा करके कीन्स ने जो दृष्टिकोण अपनाया है वह वास्तविकता के अधिक निकट है।

(2) **पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखने के सम्बन्ध में**—प्रतिष्ठित अर्थ-*शास्त्री कहते थे कि पूर्ण रोजगार को बनाये रखने के लिए मजदूरी कटौती नीति अपनानी* चाहिए जबकि कीन्स का कहना है कि कुल प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करके पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकती है।

(3) **बजट प्रारूप के बारे में**—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का कहना था कि सन्तुलित बजट बनाना चाहिए इसके विपरीत कीन्स मन्दीकाल में विनियोगों में वृद्धि हेतु घाटे के *बजट बनाने का सुझाव देते हैं।*

(4) **दृष्टिकोण में अन्तर**—कीन्स ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है क्योंकि यह पूर्ण रोजगार, पूर्ण से अधिक रोजगार तथा अल्प रोजगार सभी प्रकार की स्थितियों का व्याख्या करता है जब कि प्रतिष्ठित विद्वानों ने पूर्ण रोजगार की स्थिति माना है और उनका दृष्टिकोण संकुचित एवं विशिष्ट है।

(5) सरकार की भूमिका—प्रतिष्ठित विद्वान स्वतन्त्र एवं पूर्ण प्रतियोगिता वाली अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की व्याख्या करते हैं और बताते हैं कि बेरोजगारी होने पर यदि अर्थव्यवस्था अबाधित रूप से अर्थात् बिना हस्तक्षेप के कार्य करती रहे तो दीर्घकाल में बेरोजगारी स्वतः ही दूर हो जायगी। इसके विपरीत कीन्स का कहना है कि बिना सरकारी हस्तक्षेप के पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना कठिन कार्य है।

परीक्षा-प्रश्न

1 प्रभावपूर्ण माँग से आप क्या समझते हैं ? यह रोजगार के स्तर को किस प्रकार प्रभावित करता है ?

(What do you understand by effective demand ? How does it determine the level of employment ?)

2 प्रभावपूर्ण माँग क्या है ? प्रभावपूर्ण माँग के निर्धारक तत्त्व कौन से हैं ?

(What is effective demand ? What are the determinants of effective demand ?)

3 कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त से किस प्रकार श्रेष्ठ है ?

(Discuss critically the Keynsian Theory of Employment How far is it an improvement over classical theory)

4 कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्त्व बताइए। भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश में यह कहाँ तक लागू हो सकता है ?

(Discuss the theoretical and practical importance of Keynsian Theory of Pmplovment to what extent is it applicable in a country like India ?)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

निम्न कथनों में से कौन-सा कथन सही है और कौन-सा गलत है—

(i) कीन्स का रोजगार सिद्धान्त सरकारी हस्तक्षेप का पक्षधर है।

(ii) कीन्स के रोजगार सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण रोजगार एक सामान्य स्थिति है।

(iii) कीन्स रोजगार सिद्धान्त के अनुसार अर्थव्यवस्था प्रायः पूर्ण रोजगार से कम स्तर सन्तुलन में रहती है।

(iv) कुल माँग फलन तथा कुल पूर्ति फलन का कटाव बिन्दु ही प्रभावपूर्ण माँग को बताता है।

(v) कीन्स का रोजगार सिद्धान्त एक दीर्घकालीन व्याख्या है।

(vi) पूँजी विनियोजन ब्याज की दर पर नहीं वरन् पूँजी की सीमान्त कुशलता पर निर्भर करता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) गलत है। (iii) सही है। (iv) सही है। (v) गलत है।
(vi) सही है।

> Keynes most notable contribution was his consumption function
> —*Hansen*

> The psychology of the community is such that when aggregate real income is increased aggregate consumption is increased but not by so much an income
> —*J M Keynes*

$MPC = \frac{\Delta C}{\Delta Y}$ $APC = \frac{C}{Y}$

अध्याय 6

उपभोग फलन अथवा उपभोग प्रवृत्ति
(CONSUMPTION FUNCTION OR PROPENSITY TO CONSUME)

प्रो० कीन्स ने उपभोग फलन को एक मनोवैज्ञानिक क्रिया बताया है। इसलिए प्रो० कीन्स के उपभोग क्रिया से सम्बन्धित नियम को उपभोग का मनोवैज्ञानिक नियम (Psychological Law of Consumption) कहा जाता है। उपभोग क्रिया में कीन्सवादी आय का उत्पादन तथा रोजगार की व्याख्या में प्रमुख स्थान है। कीन्स ने अपनी पुस्तक *The General Theory* में उपभोग क्रिया की व्याख्या करते हुए कहा है कि समुदाय की मनोवैज्ञानिक स्थिति इस प्रकार की होती है कि जब कुल वास्तविक आय की मात्रा में वृद्धि होती है तो कुल उपभोग बढ़ता है परन्तु आय में वृद्धि के अनुपात कम वृद्धि उपभोग में होती है।[1] कीन्स ने आय में वृद्धि का उपभोग पर पड़ने वाले प्रभाव को उपभोग प्रवृत्ति या उपभोग क्रिया की संज्ञा दी है।

कीन्सवादी उपभोग का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Keynesian Psychological Law of Consumption)

प्रो० कीन्स ने उपभोग क्रिया की व्याख्या को उपभोग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में स्पष्ट किया है। प्रो० कीन्स का मनोवैज्ञानिक उपभोग सिद्धान्त तीन प्रमुख तर्कों पर आधारित है —(1) कुल आय में वृद्धि के साथ उपभोग की मात्रा में वृद्धि होती है परन्तु आय में वृद्धि की दर से कम दर पर वृद्धि होती है क्योंकि जैसे-जैसे व्यक्ति की आय बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसकी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती जाती है और इसलिए आय में वृद्धि के अनुपात में

---

1 The fundamental psychological law upon which we are entitled to depend with great confidence both a priori from our knowledge of human nature and from the detailed facts of experience is that men are disposed as a rule and on the average to increase their consumption as their income increases but not by as much the increase in their income. —*J M Keyenes*

The Genral Theory of Employment, Interest and Money (1936) *pp* 96.

कम अनुपात में उपभोग में वृद्धि होती है। (2) जब आय में वृद्धि होती है तो यह अतिरिक्त आय उपभोग और बचत के मध्य बँट जाती है। (3) आय में वृद्धि के बढ़ने से उपभोग और बचत दोनों में वृद्धि होती है।

सिद्धान्त की मान्यताएँ

(1) लोगों की उपभोग प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता अथवा लोगों की व्यय करने की आदतें पहले जैसी ही रहती हैं। आय में परिवर्तन होने पर आय चरों जैसे—आय के वितरण, वस्तु की कीमतों तथा जनसंख्या की वृद्धि आदि लगभग अपरिवर्तित रहते हैं।

(2) अर्थव्यवस्था में सामान्य स्थिति पाई जाती है और अत्यधिक स्फीति या युद्ध जैसे असमान्य स्थितियाँ नहीं पाई जाती हैं।

(3) स्वतन्त्र पूँजीवादी व्यवस्था पाई जाती है। उन अर्थव्यवस्थाओं में यह नियम लागू नहीं होगा जहाँ सरकार द्वारा लोगों की उपभोग प्रवृत्ति पर अंकुश लगा हो।

कीन्स के सिद्धान्त का अभिप्राय (Implications of Keyne's Psychological Law)—अधिकांश अर्थशास्त्री प्रो० कीन्स के उपभोग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को कीन्स की प्रमुख देन स्वीकार करते हैं। उपभोग क्रिया का आर्थिक विश्लेषण के क्षेत्र में एक महान अस्त्र के रूप में जाना जाता है। कीन्स के उपभोग सिद्धान्त की प्रमुख बातों को निम्नलिखित रूप से देखा जा सकता है—

<u>विनियोग का महत्व</u>—कीन्स ने आय तथा रोजगार के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए विनियोगों में वृद्धि के महत्व को स्वीकार किया है। उपभोग सिद्धान्त यह बताता है कि आय में वृद्धि के साथ उपभोग में वृद्धि की दर आय में वृद्धि की दर से कम होती है और आय तथा उपभोग में अन्तर को पाटने के लिए विनियोगों को महत्व देना चाहिए। यह सिद्धान्त बताता है कि आय में प्रत्येक वृद्धि के साथ उपभोग तथा आय का अन्तर बढ़ता जाता है और आय के उच्च स्तर को बनाये रखने के लिए अधिक से अधिक विनियोग बढ़ाने की आवश्यकता होती है यदि ऐसा नहीं होगा तो प्रभावपूर्ण माँग में गिरावट आती है जिससे अर्थव्यवस्था भी नीचे की ओर जाती है। इस प्रकार विनियोग का महत्व अधिक होता है।

<u>सामान्य अति-उत्पादन</u>—यह सिद्धान्त बताता है कि अर्थव्यवस्था में सामान्य अति उत्पादन तथा बेरोजगारी की स्थिति आ सकती है। आय में वृद्धि के साथ उपभोग में इकाई से कम वृद्धि होती है और आय से उपभोग का स्तर पिछड़ जाता है जो अन्तत: अति उत्पादन और बेरोजगारी में परिणत हो जाता है।

<u>प्रो० से के नियम का खण्डन</u>—कीन्स ने अपने उपभोग सिद्धान्त में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री प्रो० जे० बी० से के बाजार नियम कि 'पूर्ति अपनी माँग स्वयं पैदा कर लेती है' की कड़ी आलोचना की और बताया कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति इकाई से कम होती है इसलिए जितना माल उत्पादित किया जाता है उसकी सबकी माँग नहीं हो पाती और पूर्ति अपनी माँग पैदा करने में समर्थ नहीं होती इसलिए अति उत्पादन (Over production) की स्थिति पाई जा सकती है।

<u>सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता</u>—सम्पूर्ण आय का व्यय नहीं किया जाता इसलिए कोई ऐसी स्वयं चालित व्यवस्था नहीं होती जिससे कि आय तथा व्यय में बराबरी रहे इसलिए सरकार का हस्तक्षेप करना आवश्यक होता है। सरकार अपनी हस्तक्षेप की नीति द्वारा इस बात का ध्यान रखती है कि कुल प्रभावपूर्ण माँग पूर्ति से कम न होने पाए।

अति बचत —प्रो० कीन्स कहते हैं कि आय में वृद्धि के साथ उपभोग में उसी मात्रा में वृद्धि नहीं होती है इसलिए बचत का स्तर अधिक बढ़ता जाता है। धनी देशों में निर्धन देशों की अपेक्षा अधिक बचत बढ़ने का खतरा अधिक रहता है और इसके परिणाम अधिक भयंकर होते हैं।

पूंजी की सीमान्त कुशलता का गिरना—लोगों की उपभोग प्रवृत्ति, आय में वृद्धि के साथ लगभग अपरिवर्तित रहने की होती है, जिससे पूंजी की सीमान्त कुशलता (लाभ की दर गिरने की सम्भावना) में गिरावट की स्थिति दिखाई देती है। पूंजी की सीमान्त कुशलता में गिरावट को रोकने के लिए आय में वृद्धि के साथ उपभोग में वृद्धि करना जरूरी होता है। अतः विनियोग के मार्ग दर्शन के लिए उपभोग या प्रभावपूर्ण माँग का बढ़ना जरूरी है।

आय में वृद्धि—कीन्स के उपभोग का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त बताता है कि सीमांत उपभोग प्रवृत्ति इकाई से कम होती है और लोगों के पास क्रयशक्ति को बढ़ाने के लिए उनकी आय में वृद्धि करना जरूरी होता है जिसको हम थोड़ा-थोड़ा करके बढ़ा सकते हैं।

न्यून रोजगार साम्य—कीन्स ने बताया है कि यह जरूरी नहीं है कि पूर्ण रोजगार बिन्दु पर कुल माँग किया कुल पूर्ति किया के बराबर हो। पूर्ण रोजगार बिन्दु पर साम्य की स्थिति तभी होगी जबकि विनियोग की माँग बराबर हो जाएगी उस अन्तराल में जिस पर कुल आय पूर्ण रोजगार पर तथा कुल उपभोग व्यय (उसी आय पर) दोनों बराबर हो जायेंगे। कीन्स का विश्वास था कि विनियोग माँग आय की राशि और उपभोग माँग (पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर) के बीच अन्तर को भरने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। इसलिए कुल माँग किया तथा कुल पूर्ति किया सदैव ही न्यून रोजगार साम्य (पूर्ण रोजगार साम्य से नीचे स्तर पर) एक दूसरे को काटेंगे।

96195

चिरकालिक स्थिरता (Secular Stagnation)

प्रो० कीन्स की ऐसी मान्यता है कि आय में वृद्धि से उपभोग में वृद्धि इसलिए होती है कि विनियोग माँग कमजोर होती चली जाती है और अर्थव्यवस्था में ऐसी स्थिति आ जाएगी जहां पर बढ़ती हुई बचतों की निकासी के लिए या विनियोग बढ़ाने की सम्भावनाएं समाप्त हो जायेंगी। (पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए जो जरूरी होता है)। इस अवस्था को चिरकालिक स्थिरता की स्थिति कहते हैं और ऐसी स्थिति को रोकना चाहिए जिसके लिए उपयोग में स्थिरता नहीं आने देना चाहिए।

व्यापार चक्र—कीन्स ने उपभोग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से यह बताने का प्रयास किया है कि व्यापार चक्रों की स्थितियों में परिवर्तन क्यों होता है। कीन्स के विचारों से पहले व्यापार चक्र के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था परन्तु कीन्स पहला अर्थशास्त्री था जिसने बताया कि उपभोग किया के स्थिर रहने पर व्यापार चक्र में विभिन्न अवस्थाएँ कैसे आती हैं। जब व्यापार चक्र समृद्धि के उच्च स्तर पर होता है उस समय आय बढ़ने से, चूंकि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति इकाई से कम होती है जिसके कारण समृद्धि से गिरकर व्यापारी की दिशा गिरावट की ओर अग्रसर होती है। इसी प्रकार जब व्यापार चक्र निम्नतम बिन्दु पर पहुँचता है, तो लोगों की आय बहुत गिर जाती है, परन्तु लोग अपने उपभोग के स्तर को आय में गिरावट के अनुसार कम नहीं करते, तो व्यापार चक्र के ऊपर उठने का क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

उपभोग प्रवृत्ति का अर्थ (Meaning of Propensity to Consume)

आय तथा व्यय के सम्बन्ध को बताने वाली क्रिया ही उपभोग प्रवृत्ति कहलाती है। उपभोग प्रवृत्ति इस बात की ओर संकेत करती है कि आय में परिवर्तन के साथ-साथ उपभोग में परिवर्तन किस प्रकार होता है। उपभोग व्यय आय का फलन होता है अर्थात् $C = f(y)$। उपभोग फलन की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

प्रो० एफ० एस० ब्रूमैन के अनुसार— उपभोग फलन इस बात को दर्शाता है कि आय के प्रत्येक सम्भावित स्तर पर उपभोक्ता वस्तुओं तथा सेवाओं पर कितना व्यय करना चाहेंगे।[1]

प्रो० मैक्डूगल एवं डर्नबर्ग द्वारा— वह सूची जो उपभोग को उपभोग्य आय से सम्बन्धित करती है उसे उपभोग प्रवृत्ति या उपभोग क्रिया कहते हैं।[2]

प्रो० कुरीहारा के शब्दों में— वह पूर्ण सूची जो आय के विभिन्न स्तरों पर उपभोग की विभिन्न राशियों से सम्बन्धित होती है। कीन्स ने इसे ही उपभोग प्रवृत्ति अथवा उपभोग फलन कहा है।[3]

उपभोग क्रिया (Consumption Function)

उपभोग क्रिया को कीन्स ने सामान्य उपभोग प्रवृत्ति कहा है। उपभोग क्रिया या सामान्य उपभोग प्रवृत्ति को आय तथा उपभोग के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा दिखाया जाता है जिसको हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं $C = f(Y)$। विभिन्न आय के स्तरों पर उपभोग के विभिन्न स्तर होते हैं। विभिन्न आय के स्तर पर उपभोक्ता व्यय दर्शाने के लिए जो अनुसूची बनाई जाती है उसे उपभोग प्रवृत्ति अनुसूची कहते हैं। हम एक ऐसी सरल अर्थव्यवस्था की अध्ययन करेंगे जिसमें विभिन्न परिवारों की समस्त आय विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने में व्यय कर दी जाती है। आय (Y) का स्तर चाहे जो कुछ भी हो उपभोग पर (C) व्यय कर दिया जाता है अर्थात् $C = Y$। इस स्थिति को हम अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं—

अग्रांकित रेखाचित्र में दिखाया गया है कि यदि आय 100 रुपये होती है तो उपभोग भी 100 रुपये रहता है और यदि आय बढ़कर 200 रुपये हो जाती है तो उपभोग भी बढ़कर 200 रुपये हो जाता है। ऐसी स्थिति में हमने समस्त आय को उपभोग के बराबर मान लिया है।

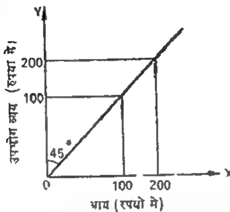
---

1 Consumption function shows what expenditure consumers will wish to make on consumers goods and services at each possible level of income' —F S Brooman

2 The schedule that relates consumption to disposable income is called the propensity to consume or the consumption function —Mc Dougall and Dernburg

3 The whole schedule relating to various amounts of consumption and various levels of income is what Keynes calls the propensity to consume or simply the consumption function —Kurihara

हम वास्तविक स्थिति पर विचार करें तो पता चलता है कि मनुष्य अपनी समस्त आय को उपभोग पर व्यय न करके केवल एक अंश को व्यय करता है और शेष का बचा



लेता है अर्थात S = Y − C । व्यय द्वारा आय के वृत्तीय प्रवाह को बनाए रखने में आय पर जो प्रभाव पड़ता है वह महत्वपूर्ण है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय का एक भाग व्यय कर लेता है तो वह दूसरे व्यक्ति की आय बन जाता है और आगे चलकर आय के वृत्तीय प्रवाह में योगदान देता है यदि वह व्यय को आय के वृत्तीय प्रवाह से हटा लेता है तो यह एक प्रकार से क्षरण (Erosion) पैदा कर देता है।

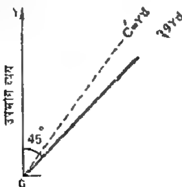
दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन उपभोग क्रिया या फलन (The Long run and Short run Consumption Function)

उपभोग क्रिया को हम दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन उपभोग क्रियाओं में बाँट सकते हैं। दीर्घकालीन उपभोग क्रिया का सम्बन्ध दीर्घकालीन आय से होता है। दीर्घकालीन उपभोग फलन का एक सरल रेखाचित्र द्वारा दिखाया जाता है जो मूल बिन्दु से गुजरती है जैसा कि निम्नांकित रेखाचित्र में दिखाया गया है।

Yd − स्वायत्त या उपभोग्य आय

C उपभोग

स्पष्टीकरण—प्रस्तुत रेखाचित्र में OC एक सीधी रेखा जो कि मूल बिन्दु O से प्रारम्भ होती है जो बताती है कि आय में वृद्धि के साथ उपभोग बढ़ता है परन्तु यह वृद्धि



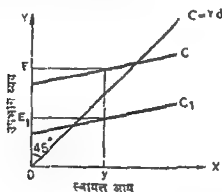
आय अनुपात की दृष्टि से एक-सी रहती है। O बिन्दु से एक आय रेखा OC' खींची गई है जो यह बताती है कि यदि उपभोक्ता अपनी सारी आय खर्च कर देगा तो स्थिति क्या होगी? OC रेखा OC' रेखा की अपेक्षा नीचे की ओर धीरे-धीरे आती है जिससे आशय यह है कि उपभोग का अनुपात आय की अपेक्षा हमेशा इकाई से कम रहता है। आय को उपभोग्य आय द्वारा दिखाया गया है।

अल्पकालीन उपभोग क्रिया या फलन (The Short-run Consumption Function)

व्यवहार में वस्तु की माँग की परिस्थितियाँ काफी स्थाई होती हैं। यदि माँग अल्पकालीन है तो इसका सबसे अधिक प्रभाव वस्तु की कीमत पर पड़ता है। इसलिए हम अल्पकालीन विश्लेषण में अपना ध्यान इस बात पर केन्द्रित करेंगे कि माँग के परिणाम का वस्तु की कीमत से साथ क्या सम्बन्ध है। उपभोग व्यय निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है—

(1) अन्य परिस्थितियों में निर्दिष्ट साधनों के अपरिवर्तित रहते हुए आय का स्तर

(2) वे सभी साधन जो यह निर्धारित करते हैं कि आय का कितना उपभोग होता है चाहे आय का विशेष स्तर कुछ भी हो।



(अल्पकालीन उपभोग फलन का एक स्थान परिवर्तन)

अल्पकाल में उपभोग में होने वाले परिवर्तन मुख्य रूप से आय में होने वाले परिवर्तनों के परिणाम होते हैं। अतः उपभोग को आय स्तर से सम्बद्ध करना और अन्य कारकों "प्राचल" (Parameters) मानना उचित होगा।

स्पष्टीकरण—प्रस्तुत रेखाचित्र में C तथा C_1 के बीच की स्थिति उपभोग और आय के बीच सम्बन्ध को बताती है। चित्र में C तथा C_1 तक वक्र की गति उस कमी को सूचित करती है जो किसी प्राचल में परिवर्तन होने के कारण उपभोग में हुई है। अतः आय स्तर OY पर उपभोग OE से गिरकर OE_1 हो जाता है। सुविधा की दृष्टि से हम यह मान लेते हैं कि आय में वृद्धि होने के साथ उपभोग में भी वृद्धि हो जाती है।

औसत तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Average and Marginal Propensity to Consume)

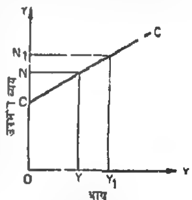
आय तथा उपभोग के सम्बन्ध को नापने के लिए हम औसत तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्तियों का उपयोग करते हैं। औसत उपभोग प्रवृत्ति एक समयावधि में कुल आय के सन्दर्भ में कुल उपभोग की स्थिति को बताती है जबकि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति आय की

वृद्धि में हुए परिवर्तन के सन्दर्भ में उपभोग में वृद्धि के परिवर्तन की व्याख्या करती है। दूसरे शब्दों में हम यह सकते हैं कि औसत उपभोग प्रवृत्ति आय के सन्दर्भ में उपभोग की दर को तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति आय के परिवर्तन के अनुपात में उपभोग में होने वाले परिवर्तन की व्याख्या करती है।

$$APC=\frac{C}{Y} \text{ तथा } MPC=\frac{\Delta C}{\Delta Y}$$

APC = औसत उपभोग प्रवृत्ति MPC = सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति
C = उपभोग Y = आय ΔC = उपभोग में होने वाली वृद्धि में परिवर्तन
Δy = आय में होने वाली वृद्धि में परिवर्तन

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि आय तथा उपभोग का सामान्य सम्बन्ध इस प्रकार का होता है कि आय में वृद्धि के साथ उपयोग में भी वृद्धि होती है परन्तु यह वृद्धि इकाई से कम होती है। इसी बात को एक रेखाचित्र द्वारा दिखाया जा सकता है—



प्रस्तुत रेखाचित्र में दिखाया गया है कि जब आय OY है तो उपभोक्ता ON उपभोग करता है यदि आय बढ़कर OY_1 हो जाती है तो उपभोग व्यय बढ़कर ON_1 हो जाता है। उपभोक्ता OC उपभोग व्यय करेगा चाहे उसकी आय शून्य ही क्यों न हो। इसका आशय यह है कि भूखों मरने से अच्छा उपभोक्ता यह समझेगा कि वह अपनी भूतपूर्व बचतों को व्यय करे अथवा अपनी सम्पत्ति को बेचेगा। आय हो या न हो परन्तु एक निम्न स्तर अर्थात् जीवित रहने के लिए जितना व्यय जरूरी है उपभोक्ता करेगा ही। CC_1 रेखा बताती है कि आय के बढ़ने के साथ साथ उपभोग व्यय भी बढ़ता जाता है। विभिन्न परिस्थितियों में उपभोग क्रिया विभिन्न रूप ग्रहण कर लेती है और रेखा चित्र का आकार भी उसी प्रकार परिवर्तित होता जाता है।

आय तथा उपभोग को सामान्य रूप से वास्तविक आय तथा वास्तविक उपभोग द्वारा दिखाया जाता है। उपभोक्ता की आय बढ़ने का प्रभाव उपभोग के स्तर पर देखने के लिए हमें वस्तु की कीमतों में होने वाले परिवर्तनों के संदर्भ में देखना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि उपभोक्ता की आय तथा कीमतें दुगनी हो जाएं तो उपभोग की मात्रा भी दुगनी हो सकती है एवं व्यय 75 प्रतिशत ही बढ़े तो हम इन दोनों स्थितियों को उपर्युक्त रेखा चित्र द्वारा नहीं दिखा सकते। इस प्रकार कीमतों में परिवर्तन होने से उपभोक्ता के उपभोग व्यय में भी परिवर्तन हो जाते हैं और इन परिवर्तनों को वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षा पृथक रूप से देखना चाहिए। बीजगणितीय भाषा में उपभोग फलन को हम अग्रलिखित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

C + C(Yd) C = कुल वास्तविक उपभोग

yd = कुल वास्तविक स्वायत्त आय

यदि उपभोग फलन रेखीय (Linear) है तो हम इस प्रकार रख सकते हैं —

$C = Co + bYd$

Co – शून्य स्वायत्त आय पर उपभोग की मात्रा

b = सीमांत उपभोग प्रवृत्ति

सीमांत तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति में सम्बन्ध (Relation between MPC and APC)

आय में वृद्धि के साथ APC तथा MPC दोनों ही गिरते हैं परन्तु MPC के गिरने की दर APC से अधिक होती है। निर्धन तथा विकासशील देशों में MPC APC से अधिक होती है। इसका कारण यह है कि धनी देशों में लोगों की विभिन्न आवश्यकताएँ पहले ही तृप्त हो चुकी होती हैं इसलिए जैसे-जैसे आय बढ़ती है उपभोग व्यय बढ़ने की अपेक्षा बचत अधिक होने लगती है। निर्धन देशों में लोगों की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है इसलिए आय वृद्धि का अधिकांश अनुपात उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है।

उपभोग क्रिया को आय के अलावा प्रभावित करने वाले अन्य तत्व (Factors Other than Income Affecting Consumption Function)

हम उपभोग राशि (Consumption Amount) तथा उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume) के मध्य अन्तर को स्पष्ट रूप में समझना चाहिए। उपभोग राशि स्थिर नहीं होती क्योंकि यह आय पर निर्भर करती है जो स्वयं परिवर्तनशील होती है। इसके विपरीत अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति प्रायः स्थिर होती है क्योंकि यह व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति पर जो कि मनुष्य का एक स्वभाव हो जाती है निर्भर करती है। केवल युद्ध अति स्फीति या अन्य आर्थिक संकटों के समय उपभोग प्रवृत्ति हो जाती है। हालांकि अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति प्रायः स्थिर रहने की प्रवृत्ति दिखलाती है परन्तु यह पूर्णतया बेलोच नहीं होती। उपभोग प्रवृत्ति में अल्पकाल में सरकार की राजकोषीय नीतियों ब्याज की दर तथा पूंजी मूल्यों (Capital Values) के कारण परिवर्तन देखे जा सकते हैं। Prof. Keynes ने कहा है कि स्वायत्त आय में से किए जाने वाले व्यय की राशि पर वस्तुनिष्ठ तत्वों (Objective Factors) तथा व्यक्तिनिष्ठ तत्वों (Subjective Factors) द्वारा बहुत प्रभाव पड़ता है। इनकी अलग-अलग चर्चा हम इस प्रकार करेंगे।

वस्तुनिष्ठ तत्व (Objective Factors)— यह तत्व निम्नलिखित प्रकार से हो सकते हैं—

(i) **समुदाय में धन तथा आय का वितरण (The Distribution of Wealth and Income in the Community)**—उपभोग प्रवृत्ति के निर्धारण में आय तथा सम्पत्ति के वितरण का प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों में APC तथा MPC दोनों ही ऊँची होती हैं अर्थात् अपनी आय के अधिक भाग को उपभोग करने की प्रवृत्ति अधिक होती है इसका कारण यह है कि निर्धन व्यक्तियों की पहले से ही बहुत सी आवश्यकताएँ असन्तुष्ट बनी रहती हैं। इसके विपरीत धनी व्यक्ति उच्च जीवन स्तर व्यतीत कर रहे होते हैं और उनकी अधिकांश आवश्यकताएँ सन्तुष्ट रहती हैं इसलिए अतिरिक्त का अधिकांश भाग वे बचा लेते हैं। इस प्रकार धन और आय के अधिक समान रूप में वितरण करने पर उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि की जा सकती है।

(ii) **उपलब्ध परिसम्पत्तियों का आकार तथा स्वरूप (The Size and Nature of Assets Held)**—एक व्यक्ति के पास दो प्रकार की परिसम्पत्तियां हो सकती हैं प्रथम नकद

परिसम्पत्ति (Liquid Assets) तथा अनकद परिसम्पत्ति (Illiquid Assets) नकद परिसम्पत्तियाँ ऐसी परिसम्पत्तियों से होता है जिनका उपयोग उपभोक्ता किसी भी समय आसानी से कर सकता है जब कि अनकद परिसम्पत्तियों का आशय जैसे— मकान भूमि या अन्य पूंजीगत वस्तुएँ आदि से होता है। अनकद परिसम्पत्तियों के बढ़ने पर उपभोग मे वृद्धि हो सकती है क्योंकि इनके धारक यह समझते है कि संकटकाल मे इन्हे बेचकर या बदल कर नकदी प्राप्त की जा सकती है।

(iii) कीमतो का स्तर (The Level of Prices)— मुद्रास्फीति तथा मुद्रा अवस्फीति (Inflation and Deflation) का प्रभाव उपभोग प्रवृत्ति पर आवश्यक रूप से पडता है। मुद्रा स्फीतिकाल मे आय मे अप्रत्याशित वृद्धि होती है इस कारण व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग व्यय करता है। साथ ही कीमतें बढने से ऋण पत्रो आदि के मूल्य गिरने लगते है। जिन व्यक्तियो के पास यह चीजें होती है वे समझते है कि इनकी लागते गिर रही है और वे बहुत बुरी स्थिति मे पहुँच गए है इसलिए इनके धारक इन ऋण पत्रो के वास्तविक मूल्य बनाए रखने के लिए कम व्यय करते है। स्फीतिकाल मे मजदूरी की अपेक्षा उच्च आय वर्ग को अधिक लाभ होते है। इसलिए स्फीति मे उपभोग गिरता अर्थात् नीचे की ओर चला जाता है जब कि अवस्फीति काल मे यह ऊपरी हट जाता है। ऐसा उच्च आय स्तरो पर विशेष रूप से होता है हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि स्फीति मे अधिकांश लोग उच्च आय समूह मे आ जाते है। अत वास्तविक रूप से वर्द्धमान कराधान से अधिक धनराशि सरकार द्वारा अधिकाश धनराशि वसूल कर ली जाती है।

(iv) प्रत्याशाएँ (Expectations)— व्यक्तियो द्वारा वस्तुओं की कीमत मे भारी परिवर्तनो का प्रभाव उपभोग क्रिया पर पडता है। यदि उपभोक्ताओ को यह पता चल जाए कि भविष्य मे वस्तुओ की कीमते बढ जायेगी अथवा वस्तुओं की पूर्ति मे कमी आ जाएगी तो उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओ से अधिक वस्तुएँ खरीदेंगे इनके इस व्यवहार से उपभोग क्रिया मे वृद्धि हो जायेगी ऐसा प्राय युद्ध छिड जाने या फिर स्फीतिक स्थितियों के कारण लगातार कीमतो मे वृद्धि की प्रवृत्ति के कारण होता है। इसके विपरीत यदि लोगों को यह आशा हो कि भविष्य मे वस्तुएँ अधिक मात्रा मे मिलेगी या वस्तु की कीमतें गिर जायेंगी तो वह थोडे समय के लिए वस्तुओ की खरीद पर रोक लगा देंगे जिससे उपभोग क्रिया मे गिरावट आ जायेगी।

(v) सरकार की नीति (Government Policy) —सरकार की राजकोषीय नीतियाँ जैसे करारोपण व्यय तथा बचत नीतियाँ उपभोग प्रवृत्ति पर प्रभाव डालती हैं। ऋणो मे थोडी छूट देने से लोगो के पास स्वायत्त आय की मात्रा बढ जाती है और लोग उपभोग पर व्यय बढा देते है। इसके विपरीत अधिक कर लगाने से स्वायत्त आय मे गिरावट आती है जिसके परिणामस्वरूप उपभोग गिर जाते है। यदि सरकार बहुत अधिक प्रगतिशील कर प्रणाली अपनाती है तो इससे आय मे वितरण की असमानताएँ कम हो जाती है तथा उपभोग प्रवृत्ति मे वृद्धि होती है। इसके अलावा किराया खरीद योजना (Hire Purchasing Scheme) तथा बैंक ऋण रियायतता द्वारा लोगो की उपभोग प्रवृत्ति बढती है। दूसरी ओर राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाण-पत्रो बचत प्रमाण पत्रो तथा अन्य सरकारी प्रतिभूतियाँ पर दरो मे छूट आदि का बचतो पर अनुकूल प्रभाव पडता है। विकासशील देशो म घरेलू बचतें पूंजी निर्माण का प्रमुख स्रोत कही जाती है।

(vi) व्यय पर निजी क्षेत्र के प्रभाव (Influence of Private Sector on Spending)— समय अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति बाजार मे पाई जाती है। विज्ञापन और प्रचार के माध्यम से निजी फर्में अपनी मँहगी वस्तुएँ उपभोक्ताओ को बेचने मे समर्थ हो जाती है,

$C = C(Y_d)$ C = कुल वास्तविक उपभोग

Y_d = कुल वास्तविक स्वायत्त आय

यदि उपभोग फलन रेखीय (Linear) है तो इसे इस प्रकार रख सकते हैं —

$$C = C_o + bY_d$$

C_o शून्य स्वायत्त आय पर उपभोग की मात्रा

b – सीमांत उपभोग प्रवृत्ति

सीमांत तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति में सम्बन्ध (Relation between MPC and APC)

आय में वृद्धि के साथ APC तथा MPC दोनों ही गिरते हैं परन्तु MPC के गिरने की दर APC से अधिक होती है। निर्धन तथा विकासशील देशों में MPC APC से अधिक होती है। इसका कारण यह है कि धनी देशों में लोगों की विभिन्न आवश्यकताएँ पहले ही तृप्त हो चुकी होती हैं इसलिए जैसे जैसे आय बढ़ती है उपभोग व्यय बढ़ने की अपेक्षा बचत अधिक होने लगती है। निर्धन देशों में लोगों की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है इसलिए आय वृद्धि का अधिकांश अनुपात उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है।

उपभोग क्रिया को आय के अलावा प्रभावित करने वाले अन्य तत्व (Factors Other than Income Affecting Consumption Function)

हमें उपभोग राशि (Consumption Amount) तथा उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume) के मध्य अन्तर को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। उपभोग राशि स्थिर नहीं होती क्योंकि यह आय पर निर्भर रहती है जो स्वयं परिवर्तनशील होती है। इसके विपरीत अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति प्रायः स्थिर होती है क्योंकि यह व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति पर जो कि मनुष्य का एक स्वभाव हो जाता है, निर्भर करती है। केवल युद्ध, अति स्फीति या अन्य आपात स्थिति के समय उपभोग प्रवृत्ति हो जाती है। हालांकि अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति प्रायः स्थिर रहने की प्रवृत्ति दिखलाती है परन्तु यह पूर्णतया स्थिर नहीं होती। उपभोग प्रवृत्ति में अल्पकाल में सरकार की राजकोषीय नीतियों, ब्याज की दर तथा पूंजी मूल्यों (Capital Values) के कारण परिवर्तन हो सकते हैं। Prof. Keynes ने कहा है कि स्वायत्त आय में से किए जाने वाले व्यय की राशि पर वस्तुनिष्ठ तत्वों (Objective Factors) तथा व्यक्तिनिष्ठ तत्वों (Subjective Factors) दोनों का ही प्रभाव पड़ता है। इनकी अलग-अलग चर्चा हम इस प्रकार करेंगे।

वस्तुनिष्ठ तत्व (Objective Factors)—यह तत्व निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं—

(i) समुदाय में धन तथा आय का वितरण (The Distribution of Wealth and Income in the Community)—उपभोग प्रवृत्ति के निर्धारण में आय तथा सम्पत्ति के वितरण का प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों में APC तथा MPC दोनों ही ऊँची होती है अर्थात् अपनी आय के अधिक भाग को उपभोग करने की प्रवृत्ति अधिक होती है इसका कारण यह है कि निर्धन व्यक्तियों की पहले से ही बहुत सी आवश्यकताएँ असन्तुष्ट बनी रहती हैं। इसके विपरीत धनी व्यक्ति उच्च जीवन स्तर व्यतीत कर रहे होते हैं और उनकी अधिकांश आवश्यकताएँ सन्तुष्ट रहती हैं इसलिए अतिरिक्त का अधिकांश भाग वे बचा लेते हैं। इस प्रकार धन और आय के अधिक समान रूप में वितरण करने पर उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि की जा सकती है।

(ii) उपलब्ध परिसम्पत्तियों का आकार तथा स्वरूप (The Size and Nature of Assets Held)—एक व्यक्ति के पास दो प्रकार की परिसम्पत्तियाँ हो सकती हैं प्रथम नकद

परिसम्पत्ति (Liquid Assets) तथा अनकद परिसम्पत्ति (Illiquid Assets) नकद परिसम्पत्तियाँ ऐसी परिसम्पत्तियों से होता है जिनका उपयोग उपभोक्ता किसी भी समय आसानी से कर सकता है जब कि अनकद परिसम्पत्तियों का आशय जैसे— मकान, भूमि या अन्य पूंजीगत वस्तुएँ आदि से होता है। अनकद परिसम्पत्तियों के बढ़ने पर उपभोग में वृद्धि हो जाती है क्योंकि इनके धारक यह समझते हैं कि संकटकाल में इन्हें बेचकर या बदले पर नकदी प्राप्त की जा सकती है।

(iii) कीमतों का स्तर (The Level of Prices)— मुद्रास्फीति तथा मुद्रा अवस्फीति (Inflation and Deflation) का प्रभाव उपभोग प्रवृत्ति पर आवश्यक रूप से पड़ता है। मुद्रा स्फीतिकाल में आय में अप्रत्याशित वृद्धि होती है इस कारण व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग व्यय करता है। साथ ही कीमतें बढ़ने से ऋण पत्रों आदि के मूल्य गिरने लगते हैं। जिन व्यक्तियों के पास यह चीजें होती हैं वे समझते हैं कि इनकी लागतें गिर रही हैं और वे बहुत बुरी स्थिति में पहुँच गए हैं इसलिए इनके धारक इन ऋण पत्रों के वास्तविक मूल्य बनाए रखने के लिए कम व्यय करते हैं। स्फीतिकाल में मजदूरी की अपेक्षा उच्च आय वर्ग को अधिक लाभ होते हैं। इसलिए स्फीति में उपभोग गिरता अर्थात् नीचे की ओर चला जाता है जब कि अवस्फीति काल में यह ऊपरी हट जाता है। ऐसा उच्च आय स्तरों पर विशेष रूप से होता है हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि स्फीति में अधिकांश लोग उच्च आय समूह में आ जाते हैं। अतः वास्तविक रूप से वर्द्धमान कराधान से अधिक धनराशि सरकार द्वारा अधिकांश धनराशि वसूल करली जाती है।

(iv) प्रत्याशाएँ (Expectations)— व्यक्तियों द्वारा वस्तुओं की कीमत में भारी परिवर्तनों का प्रभाव उपभोग क्रिया पर पड़ता है। यदि उपभोक्ताओं को यह पता चल जाए कि भविष्य में वस्तुओं की कीमतें बढ़ जायेगी अथवा वस्तुओं की पूर्ति में कमी आ जाएगी तो उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओं से अधिक वस्तुएँ खरीदेंगे इनके इस व्यवहार से उपभोग क्रिया में वृद्धि हो जायगी ऐसा प्रायः युद्ध छिड़ जाने या फिर स्फीतिक स्थितियों के कारण लगातार कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति के कारण होता है। इसके विपरीत यदि लोगों को यह आशा हो कि भविष्य में वस्तुएँ अधिक मात्रा में मिलेगी या वस्तु की कीमतें गिर जायेंगी तो वह थोड़े समय के लिए वस्तुओं की खरीद पर रोक लगा देंगे जिससे उपभोग क्रिया में गिरावट आ जायगी।

(v) सरकार की नीति (Government Policy) —सरकार की राजकोषीय नीतियाँ जैसे करारोपण व्यय तथा बचत नीतियाँ उपभोग प्रवृत्ति पर प्रभाव डालती है। करों में थोड़ी छूट देने से लोगों के पास स्वायत्त आय की मात्रा बढ़ जाती है और लोग उपभोग पर व्यय बढ़ा देते हैं। इसके विपरीत अधिक कर लगाने से स्वायत्त आय में गिरावट आती है जिसके परिणामस्वरूप उपभोग गिर जाते हैं। यदि सरकार बहुत अधिक प्रगतिशील कर प्रणाली अपनाती है तो इससे आय में वितरण की असमानताएँ कम हो जाती है तथा उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि होती है। इसके अलावा किराया खरीद योजना (Hire Purchasing Scheme) तथा बैंक ऋण रियायतों द्वारा लोगों की उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती है। दूसरी ओर राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाण पत्रों बचत प्रमाण पत्रों तथा अन्य सरकारी प्रतिभूतियों पर दरों में छूट आदि का बचतों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। विकासशील देशों में घरेलू बचतें पूंजी निर्माण का प्रमुख स्रोत कही जाती हैं।

(vi) व्यय पर निजी क्षेत्र के प्रभाव (Influence of Private Sector on Spending)— समय अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति बाजार में पाई जाती है। विज्ञापन और प्रचार के माध्यम से निजी फर्में अपनी मँहगी वस्तुएँ उपभोक्ताओं को बेचने में समर्थ हो जाती है,

जिससे उपभोग का स्तर ऊँचा हो जाता है। उदाहरणार्थ स्कूटर रंगीन टेलीविजन, कारें एयर कण्डीशनर आदि। ऋण सम्बन्धी नीतियों में समय समय पर छूट दिए जाने से भी लोग खुलकर व्यय करते है और उपभोग का स्तर ऊँचा उठता है।

(vii) अप्रत्याशित लाभ अथवा हानि (Unexpected Gains or Loss)—कभी-कभी आय में अप्रत्याशित वृद्धि या गिरावट के कारण उपभोग क्रिया प्रभावित हो जाती है। आय या लाभ में अप्रत्याशित वृद्धि होने पर उपभोक्ता सामान्य उपयोग से अधिक उपभोग करने लगता है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति को कभी अप्रत्याशित हानि उसकी आय में हो जाए तो उसके उपभोग का स्तर सामान्य उपभोग से कम हो जाता है।

व्यक्तिनिष्ठ तत्व (Subjective Factors)

प्रो० कीन्स कहते है कि लोगो की खर्च करने की प्रवृत्ति या उपभोग प्रवृत्ति पर व्यक्तिनिष्ठ तत्वो का भी प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति स्वभाव से दूरदर्शी होता है दूरदर्शिता का अंश किसी व्यक्ति में अधिक तो किसी में कम होता है। दूरदर्शिता उद्देश्य की पूर्ति के लिए अथवा भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रखी जाने वाली धनराशि (जैसे—बुढ़ापे, बीमारी दुर्घटना बच्चो की शिक्षा तथा बेरोजगारी आदि) जैसे—बच्चों के लिए सम्पत्ति को एकत्रित करना, भावी आवश्यकताओं या दुर्घटनाओं के लिए धनराशि की बचत पूँजी विनियोजन से होने वाले लाभ की कामना जितनी अधिक होगी उपभोग प्रवृत्ति में उतनी ही गिरावट आएगी।

प्रो० कीन्स ने व्यक्तिनिष्ठ तत्वों के पीछे निम्नलिखित आठ उद्देश्य बताए हैं—

(1) भविष्य की अनिश्चितताओं के लिए रक्षित कोष को रखना।

(2) भविष्य की आय तथा आवश्यकताओं के मध्य सम्बन्ध की दृष्टि से कुछ धनराशि बचाना जैसे— वृद्धावस्था पारिवारिक शिक्षा अथवा आश्रितों के भरण-पोषण के लिए आदि।

(3) ब्याज के रूप में धनराशि प्राप्त करने के लिए लोग वर्तमान उपभोग की अपेक्षा भावी उपभोग को महत्व देते हैं।

(4) भविष्य में अच्छे जीवन स्तर को व्यतीत करने की लालसा से बचत करना।

(5) स्वतन्त्रता की अनुभूति का आनन्द लेने के लिए और काम करने की शक्ति की दृष्टि बिना किसी स्पष्ट विचार या स्पष्ट विशिष्ट कार्य की इच्छाओं से।

(6) सट्टा उद्देश्य या व्यापारिक परियोजनाओं की सुरक्षा के लिए।

(7) सम्पत्ति अर्जित करने की इच्छा।

(8) विशुद्ध कंजूसी या कृपणता की सन्तुष्टि के लिए।

प्रो० कीन्स ने उपर्युक्त उद्देश्यों को सुरक्षा, दूरदर्शिता अनुमान या आकलन, प्रगतिशीलता, स्वतन्त्रता, साहसिकता, कृपणता आदि की संज्ञा दी है। उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त प्रो० कीन्स ने केन्द्रीय तथा स्वायत्त संस्थाओं या फर्मों द्वारा बचत करने के लिए निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं—

1 बाजार से ऋण या पूँजी प्राप्त करने की अपेक्षा स्वयं पूँजीगत विनियोगों की दृष्टि से।

2 तरलता के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जिससे कि तरल साधनों की सुरक्षा की जा सके और आपात स्थिति, कठिनाइयों तथा मन्दी से निपटा जा सके।

3 प्रगति के उद्देश्य की दृष्टि से।

4 आर्थिक चतुराई व उद्देश्य की दृष्टि से जिसमें कि ऋण शोधन तथा भावी सम्पत्ति की लागत को समाप्त करने के लिए व्यवस्था हो सके।

इन सभी उपयुक्त उद्देश्यों की पूर्ति की क्षमता संस्थाओं तथा संगठनों की आर्थिक समुदाय की आदतों शिक्षा रीति रिवाजों धर्म और वर्तमान नैतिक स्तर वर्तमान की आशाओं तथा भूतकालीन अनुभवों पूंजीगत वस्तुओं के पैमाने तथा तकनीक सम्पत्ति के प्रचलित वितरण व्यवस्था तथा लोगों द्वारा जीवन-स्तर व्यतीत करने आदि बातों पर निर्भर करेगा।

अल्पकाल में व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ तत्वों में अधिक परिवर्तन नहीं होते इस लिए हम उपभोग वक्र की आकृति को अपरिवर्तित मानकर चलते है।

साधारण उपभोग फलन के परिष्कार (Refinements of the Simple Consumption Function)

प्रो० कीन्स ने उपभोग फलन की धारणा निम्नलिखित पूर्व धारणाओं पर आधारित है—

(1) उपभोग विद्यमान आय का फलन होता है $C = f\ (Yt)$।

(2) उपभोग फलन आय के सम्बन्ध में परिवर्ती होता है यदि आय में कमी होगी तो व्यक्ति उसी हिसाब से उपभोग में कमी कर देंगे जिस प्रकार आय बढ़ने पर उन्होंने *उपभोग के स्तर को बढ़ा दिया था।*

(3) उपभोक्ता द्वारा व्यय करने की विधि स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होती है। वे अन्य उपभोक्ताओं के व्यय पर निर्भर नहीं करते।

प्रो० ड्यूसेनबेरी परिकल्पना (*Prof Duesenberry Hypothesis*)

सन 1957 में प्रकाशित प्रो० ड्यूसेनबेरी ने अपनी पुस्तक = Income Saving and the *Theory of Consumer Behaviour में प्रो० कीन्स का खण्डन किया और दो* मुख्य बातों को बताया जो उपभोग फलन के सम्बन्ध में पाई जाती हैं इन्हें ड्यूसेनबेरी परिकल्पना (Duesenberry Hypothesis) कहा जाता है। प्रथम उनका कहना यह है कि एक व्यक्ति का उपभोग व्यय उसकी वर्तमान आय के द्वारा ही तय नहीं होता। परन्तु भूतकाल में व्यतीत जीवन स्तर के द्वारा भी तय होता है। वे कहते हैं कि जब किसी *परिवार की आय उस नये स्तर तक पहुँचती है जिसे स्थायी माना जाता है तो परिवार* अन्ततः अपने उपभोग का समायोजन एक उच्च आय स्तर पर कर लेगा। इस बात को एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। यदि एक परिवार की दीर्घकालीन उपभोग प्रवृत्ति 7 है और स्वायत्त आय 7000 रुपये है तो वह 4900 रुपये उपभोग कर लेगा। यदि उसकी आय बढ़कर 9000 रुपये हो जाती है तो उपभोग बढ़कर 6300 रुपये हो जाएगा परन्तु यदि किसी कारणवश उस परिवार की आय गिरकर फिर 7000 रुपये रह जाती है तो परिवार अपने भूतकालीन उपभोग धनराशि 6300 रुपये को घटाकर 4900 रुपये नहीं कर पाएगा क्योंकि वह उसी जीवन स्तर को बनाए रखेगा जिसका वह पहले आदी हो चुका होगा।

प्रो० ड्यूसेनबेरी के तर्क का अर्थ यह है कि प्रो० कीन्स का यह धारणा सही नहीं है कि उपभोग विद्यमान आय का फलन ही नहीं है। वरन् यह पहले प्राप्त आय के उच्चतम स्तर का भी फलन है। वे कहते हैं कि अधिकतम आय वाले वर्ष का उपभोग वह स्तर स्थापित

करता है नियम कहलाता जाता है। अधिकतम उपभोग जितना अधिक होगा उपभोग को घटाकर उसी स्तर पर लाना उतना ही कठिन होगा।

दूसरे ही ड्यूजनबेरी ने कीन्स की इस पूर्व धारणा पर भी आक्रमण किया है कि उपभोक्ता द्वारा व्यय करने की विधि स्वतन्त्र रूप से निर्धारित होती है। उनका कहना है कि किसी परिवार का पारिवारिक व्यय या उपभोग उस परिवार की केवल स्वतन्त्र रुचियों का ही चयन नहीं है वरन उसी अथवा उच्च आय के समूह के अन्य उपभोक्ताओं की रुचियों का भी परिणाम होता है। निम्न आय वर्ग के लोगों की उपभोग क्रिया उच्च आय वर्ग वालों की उपभोग क्रियाओं द्वारा प्रभावित होती है। यदि निम्न आय वर्ग वाले उच्च आय वर्ग वालों की उपभोग वस्तुओं का उपभोग प्रारम्भ कर देते हैं तो उच्च आय वाले इन ऐसी वस्तुओं के स्थान पर नई वस्तुओं की खोज प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार उपभोग क्रिया का विस्तार होता जाता है।

परीक्षा-प्रश्न

1. उपभोग क्रिया या फलन का वर्णन कीजिए। औसत तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति से आप क्या समझते हैं और इन दोनों में क्या सम्बन्ध है?

   (Explain consumption function What do you mean by Average and Marginal Propensities to consume? What is the relationship between them?)

2. कीन्स के उपभोग के मनोवैज्ञानिक नियम तथा उसकी सीमाओं की व्याख्या कीजिए।

   (Discuss Keynes's Psychological Law of Consumption and its limitations)

3. "कीन्स का सबसे उल्लेखनीय योगदान उसकी उपभोग क्रिया की व्याख्या है।" (हैन्सन) इस कथन के आधार पर उपभोग क्रिया का समष्टि आर्थिक विश्लेषण में महत्त्व बताइए।

   ("Keynes most notable contribution was his consumption function" (Hansen) In the light of this statement bring the importance of consumption function in macro economic analysis)

4. उपभोग फलन से आप क्या समझते हैं? उपभोग फलन को निर्धारित करने वाले व्यक्तिनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ तत्वों को समझाइए।

   (What do you understand by consumption function? Explain subjective and objective factors which determine the consumption function)

5. उपभोग प्रवृत्ति से आप क्या समझते हैं? सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति में भेद कीजिए।

   (What do you understand by the consumption function? Distinguish between the Marginal propensity to consume and Average Propensity to consume)

■ टिप्पणी लिखिए—

(i) कुल माँग क्रिया तथा कुल पूर्ति क्रिया

(ii) कीन्स रोजगार मॉडल के निर्भर तथा स्वतन्त्र चर।

Write notes on —

(i) Aggregate Demand Function and Aggregate Supply Function

(ii) Dependent and Independent Variables of Keynesian Model of Employment

7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

निम्न प्रश्नों में कौन सही तथा कौन गलत है।

(i) उपभोग फलन उपभोग तथा आय में सम्बन्ध को बताता है।

(ii) कीन्स का उल्लेखनीय योगदान उनकी उपभोग क्रिया है।

(iii) औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC) एवं समयावधि में कुल आय के सन्दर्भ में कुल उपभोग की स्थिति को बताती है।

(iv) सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) आय की वृद्धि में होने वाले परिवर्तन के सन्दर्भ में उपभोग में होने वाली वृद्धि के परिवर्तनों की व्याख्या करती है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है (ii) सही है (iii) सही है (iv) सही है।

"Invetmsent is the net addition to the existing stock of real capital assets" – *Dudley Dillard*

अध्याय 7

विनियोग क्रिया

(THE INVESTMENT FUNCTION)

विनियोग का अर्थ (Meaning of Investment)

निवेश का अर्थ इसके सामान्य अर्थ से अलग होता है। साधारण बोलचाल की भाषा में निवेश का अर्थ स्टॉक तथा अंशों ऋण-पत्रों सरकारी प्रतिभूतियों तथा बाण्डों आदि के क्रय करने से होता है। परन्तु प्रो० कीन्स ने विनियोग का अर्थ कुछ व्यापक दृष्टिकोण से लिया है। निवेश व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टियों से हो सकता है। निवेश दो प्रकार का होता है। (i) वित्तीय निवेश (Financial Investment) (ii) वास्तविक निवेश (Real Investment)। जब कोई व्यक्ति या फर्म कुछ स्टॉक तथा अंश, ऋणपत्र या सरकारी प्रतिभूतियाँ या बाण्ड खरीदता है तो हम इसे वित्तीय निवेश कहते हैं। इसमें एक व्यक्ति या फर्म इन अंशों ऋणपत्रों या बाण्डों को बेचती है तो दूसरा व्यक्ति या फर्म इन्हें खरीदती है। यह तो एक प्रकार से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति स्वामित्व का हस्तांतरण होता है इसमें एक के द्वारा विनियोग या निवेश और दूसरे के द्वारा अविनियोग (Disinvestment) किया जाता है। इससे राष्ट्र की वास्तविक पूँजी के स्टाक में वृद्धि नहीं होती।

निवेश का अर्थ (Meaning of Investment)

प्रो० कीन्स ने वास्तविक विनियोग का अर्थ नये पूँजीगत पदार्थों के उत्पादन करने तथा खरीदने के लिए लिया है अर्थात् नई फर्मों के अंश, बाण्ड्स, ऋणपत्र तथा अन्य प्रतिभूतियों को खरीदने से लिया है। इसका आशय वर्तमान स्टॉक में वास्तविक पूँजी पदार्थों में वृद्धि से लिया जाता है। वास्तविक विनियोग (Real Investment) की शर्त यह है कि इस नये विनियोग नये पूँजीगत पदार्थों (Capital Assets) में वृद्धि के साथ ज्यादा रोजगार के साधन उपलब्ध हों तथा अधिक कच्चे माल का उपयोग विभिन्न फर्मों द्वारा किया जाए। प्रो० कीन्स की विचारधारा से मिलती हुई विचारधारा प्रो० डडले डिलार्ड ने विनियोगों के अर्थ के रूप में स्वीकार की है। वे कहते हैं कि "पूँजी पदार्थों के वास्तविक उपलब्ध स्टॉक में शुद्ध वृद्धि को विनियोग कहते हैं।"[1]

प्रो० पीटरसन के शब्दों में—"निवेश खर्च में उत्पादन द्वारा टिकाऊ यन्त्रों पर होने वाले व्यय तथा निर्माण कार्यों में होने वाले परिवर्तनों के व्यय शामिल होते हैं।"[2]

---

1. "Investment [redacted] the net addition to the existing stock of real capital assets." —*Dudley Dillard*
2. "Investment expenditure includes expenditure for 'producers' durable equipments new construction and the change in inventories" —*Peterson*

नियोजित तथा अनियोजित निवेश (Intended and Unintended Investment)

विनियोग का अर्थ हमें उपलब्ध स्टॉक में केवल वृद्धि से ही नहीं लगाना चाहिए वरन् निर्मित वस्तुओं तथा उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादित अन्य वस्तुओं की वृद्धि से भी लेना चाहिए। इस प्रकार विनियोगों का अर्थ पूंजीगत पदार्थों तथा नई मिलों (inventories) में वृद्धि दोनों से ही लगाना चाहिए। इस प्रकार inventories में वृद्धि नियोजित तथा अनियोजित दोनों ही तरह से हो सकती है। जानबूझकर (Intentional) उत्पादन क्षमता में वृद्धि दो कारणों से हो सकती है जैसे बिक्री में वृद्धि तथा भविष्य में कीमतों के बढ़ने की आशा के द्वारा। बिना सोचे विनियोग या अनियोजित विनियोग उस समय होता है जब बाजार की भावी अनिश्चितताओं तथा स्थितियों के कारण बिना बिके वस्तुओं का संचय हो जाता है। यदि एक व्यापारी जिसके पास 5 लाख रुपए का स्टॉक है और वह उसे बढ़ाकर 10 लाख रुपये कर लेता है तो इसका आशय यह है कि उसने अपना वास्तविक विनियोग बढ़ाकर दुगुना कर लिया है और उसने वस्तुओं की नई मांग अधिक श्रमिकों को रोज़गार तथा अन्य उत्पादक साधनों को लगाकर पैदा कर ली है। कीन्स ने नियोजित तथा अनियोजित विनियोग को कोई खास महत्व नहीं दिया है।

निवेश का महत्व (Importance of Investment)

प्रो० कीन्स ने रोजगार सिद्धान्त तथा प्रभावपूर्ण मांग के सिद्धान्त में अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति को स्थिर माना है। इसलिए आय उत्पादन तथा रोजगार के निर्धारण में विनियोगों का महत्व बहुत अधिक है। आय की मात्रा तथा उपभोग की मात्रा के बीच अन्तर को पाटने के लिये विनियोगों का होना जरूरी है। विनियोग उपभोग की अपेक्षा अधिक गतिशील चर है और आय की मात्रा को निर्धारित करने में विनियोगों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हम पहले ही यह देख चुके हैं कि जब व्यक्ति की आय बढ़ती है तो उपभोग व्यय बढ़ता है परन्तु यह वृद्धि की दर आय की दर से कम होती है अर्थात् उपभोग इकाई से कम बढ़ता है। यदि हमें बढ़ी हुई आय की दर को बनाये रखना है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वास्तविक निवेश आय और उपभोग के बराबर उसी आय में से कर देना चाहिए। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि बिना विनियोगों को बढ़ाये, आय में वृद्धि होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रो० कीन्स ने विनियोगों को आय उत्पादन तथा रोजगार के निर्धारण में महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने मन्दीकाल में निजी विनियोगों की अपेक्षा सार्वजनिक विनियोगों को बढ़ाने का सुझाव दिया है।

कुल तथा शुद्ध निवेश (Gross and Net Investment)

अर्थव्यवस्था में एक समयावधि में जो कुछ वास्तविक निवेश होता है उसे कुल निवेश की संज्ञा दी जाती है परन्तु कुल निवेश का आशय कुल उत्पादन क्षमता में वृद्धि से नहीं लेना चाहिए। परन्तु इसका एक भाग ही उत्पादन क्षमता में वृद्धि करता है और शेष भाग घिसावट के व्यय, साज-सज्जा के रख रखाव अथवा प्रतिस्थापन मांग का रूप ग्रहण कर लेता है। इसके विपरीत शुद्ध निवेश कुल निवेश का वह भाग होता है जो अर्थव्यवस्था कुल उत्पादन क्षमता में हुई शुद्ध वृद्धि का सूचक होता है।

कुल निवेश तथा शुद्ध निवेश का अन्तर स्थिर अर्थव्यवस्था के लिए सार्थक हो सकता है। स्थिर अर्थव्यवस्था में शुद्ध निवेश की समस्या नहीं होती क्योंकि ऐसी अर्थव्यवस्था में कुल उत्पादन क्षमता में वृद्धि के लिए मार्जिन नहीं रखा जाता परन्तु स्थिर अर्थव्यवस्था में उपलब्ध कुल पूंजी स्टॉक को स्थिर बनाए रखने की समस्या बनी रहती है क्योंकि यन्त्रों तथा साज-सज्जा की टूट-फूट तथा घिसावट के कारण पूंजीगत पदार्थों की मात्रा में कमी

आ जाती है। इस कमी को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था में प्रति वर्ष कुछ न कुछ कुल वास्तविक निवेश आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में कुछ निवेश शून्य होता है।

निवेश के प्रकार (Types of Investment)

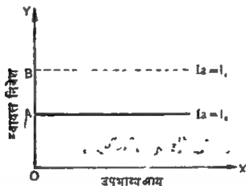
विनियोगों की एक विशेषता यह है कि इसके विभिन्न रूप होते हैं। विनियोग केन्द्र सरकार, राज्य सरकारें, स्वायत्त संस्थाओं, विभिन्न फर्मों, व्यक्तियों, निजी संस्थाओं आदि द्वारा हो सकते हैं। विनियोग व्यय प्लाट तथा मशीनों, भवन निर्माण, सार्वजनिक सेवाओं जैसे सड़कों, पुलों, रेलवे, जहाज तथा वायुयानों के निर्माण आदि के लिए हो सकता है। सामान्यतः विनियोग दो प्रकार के होते हैं—(1) स्वायत्त निवेश (Autonomous Investment) तथा (2) प्रेरित निवेश (Induced Investment)।

(1) **स्वायत्त निवेश (Autonomous Investment)**—स्वायत्त निवेश वह होता है जिसका सम्बन्ध आय तथा उत्पादन के स्तर से नहीं होता और लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाता दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि स्वायत्त निवेश समर्थ माँग (Effective Demand) में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता। स्वायत्त निवेश उत्पादन तकनीक प्रक्रिया, जनसंख्या के आकार, आविष्कार तथा सरकारी नीतियों या सुरक्षा आदि पर किया गया व्यय कहलाता है। यह आय और लाभ निरपेक्ष होता है अर्थात् आय तथा लाभ में परिवर्तनों द्वारा प्रभावित नहीं होता। सड़क, अस्पताल, अनुसन्धान तथा विकास पर किया गया व्यय स्वायत्त निवेश के उदाहरण हैं। आय में परिवर्तन होते हुए भी स्वायत्त निवेश स्थिर रह सकता है और आय स्थिर रहते हुए स्वायत्त निवेश परिवर्तित हो सकता है।

$$\text{स्वायत्त निवेश} - (IA) = I_1$$

IA = स्वायत्त निवेश

I_1 = स्थिर निवेश

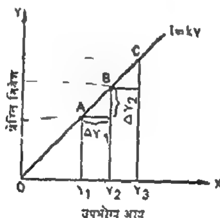


उपर्युक्त रेखाचित्र में स्वायत्त निवेश तथा उपभोग्य आय को दर्शाया गया है। चूँकि स्वायत्त निवेश आय में परिवर्तनों के कारण नहीं होते हैं इसलिए इसे X अक्ष के समानान्तर खींचा गया है। $Ia = I_1$ तथा $Ia = I_2$ वक्र से ज्ञात होता है कि उपभोग्य आय चाहे जो कुछ भी हो स्वायत्त निवेश में परिवर्तन नहीं होते। यह स्थिति OA तथा OB किसी भी वक्र द्वारा दिखाई जा सकती है।

(2) **प्रेरित निवेश (Induced Investment)**—अर्थव्यवस्था में प्रेरित निवेश की मात्रा आय तथा इसमें होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होती है। निजी क्षेत्र में साहसी या अन्य कोई फर्म उसी समय पूँजीगत का क्रय अथवा उत्पादन उस समय करेगी जब उसे अपनी वस्तुओं की भविष्य में माँग बनी रहने की आशा हो। उपभोग वस्तुओं की माँग की

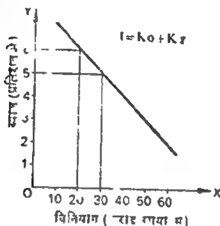
स्थिति भविष्य में क्या होगी यह उपभोक्ताओं की उपभोग्य आय द्वारा तय होगी और उपभोग्य आय स्वयं आय के स्तर तथा व्यक्तिगत करों की मात्रा द्वारा तय होते हैं और औसत उपभोग प्रवृत्ति (APC) पर निर्भर होती है। APC के स्थिर रहते हुए आय में वृद्धि होने पर कुल समर्थ मांग में भी स्थिर दर पर वृद्धि होती है। इस प्रकार आय में कमी होने पर समर्थ मांग गिर जाती है। इस प्रकार प्रेरित निवेश आय सापेक्ष (Income elastic) होता है। अल्पकाल में पूंजी उत्पादन अनुपात स्थिर होने के कारण आय तथा प्रेरित निवेश के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध होता है। प्रेरित निवेश आय में परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होता है क्योंकि कुल समर्थ मांग में वृद्धि आय में वृद्धि का परिणाम होती है।

प्रेरित निवेश की आय सापेक्षता धनात्मक होती है। प्रेरित निवेश की आय सापेक्षता शून्य तथा अनन्त के मध्य होती तथा यह सामान्य उपभोग प्रवृत्ति तथा पूंजी उत्पादन अनुपात द्वारा निर्धारित होती अर्थात् प्रेरित निवेश का आय में परिवर्तनों के सम्बन्ध में न तो पूर्णतया आय सापेक्ष होगा तथा न ही पूर्णतया आय निरपेक्ष। उपभोग्य आय में परिवर्तनों द्वारा प्रेरित निवेश में उत्पन्न परिवर्तन धनात्मक होगा अर्थात् $\frac{dIP}{dY}$ = dIP = प्रेरित निवेश dY = उपभोग्य आय में परिवर्तन। इसी बात को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा दिखाया जा सकता है



$$I = K_o + K r \text{ तथा } K^1 > 0$$

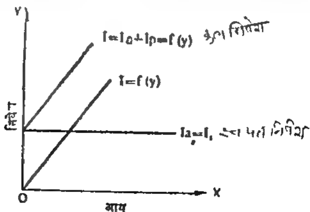
प्रस्तुत रेखाचित्र से स्पष्ट है कि जब ब्याज की दर 6% से गिरकर 5% रह जाती है तो निवेश राशि भी 20 करोड़ से बढ़कर 30 करोड़ रुपए हो जाती है। जैसे-जैसे ब्याज की दर गिरती जाएगी वैसे वैसे प्रेरित निवेश बढ़ता जाएगा।



प्रेरित निवेश आय के स्तर, आय में परिवर्तन की दर, औसत उपभोग प्रवृत्ति, लाभ इत्यादि आन्तरिक कारणों से प्रभावित होता है जबकि स्वायत्त निवेश आविष्कारों, नवीन प्रविधियों, जनसंख्या वृद्धि, युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, श्रम आन्दोलन, विकास योजनाओं, ऋतुओं आदि में परिवर्तन द्वारा प्रभावित होता है। स्वायत्त निवेश का विचार नियोजित तथा युद्ध अर्थव्यवस्थाओं में लागू होता है जहाँ निवेश लाभ के विचार से प्रभावित नहीं होता वरन् अन्य कारणों द्वारा लागू होता है।

एक अर्थव्यवस्था में कुल निवेश बराबर प्रेरित + स्वायत्त निवेश। वास्तविक कुल निवेश का कुछ भाग निजी क्षेत्र में व्यक्ति निवेश तथा कुछ भाग सार्वजनिक क्षेत्र में सरकारी निवेश के रूप में होता है। अर्थव्यवस्था में कुल निवेश की गणना करने के लिए राष्ट्र के नागरिकों तथा सरकार द्वारा विदेशों में किए गए निवेश की गणना करना अनिवार्य होता है। इस प्रकार विदेशियों द्वारा किए निवेश को कुल निवेश में से घटा देना चाहिए।

कुल निवेश अर्थात् प्रेरित निवेश + स्वायत्त निवेश को हम निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं



प्रस्तुत रेखाचित्र में OY अक्ष पर कुल निवेश (प्रेरित+स्वायत्त निवेश) तथा OX अक्ष पर उपभोग्य आय दिखाई गई है। $I_p I_p = f(y)$ वक्र प्रेरित निवेश तथा $I_1 = I_1$ वक्र स्वायत्त निवेश को व्यक्त करते हैं। $I_1 + I_p$ वक्र कुल निवेश माग को व्य करता है। कुल निवेश $I_1 + I_p$ यह व्यक्त करता है कि कुल निवेश कुल उपभोग्य आय से इस प्रकार स धनात्मक रूप स सम्बन्धित होता है कि कुल उपभोग्य आय मे वृद्धि या कमी होने से कुल निवेश म वृद्धि या कमी होती है इसका अर्थ यह है कि उपभोग्य आय म परिवतन तथा कुल निवेश म परिवतन का अनुपात धनात्मक होता है अर्थात $\frac{dI}{dY} > 0$

निवेश को निर्धारित करने वाले तत्व (Factors Determining the Investment)

अर्थव्यवस्था में निजी प्रेरित कुल निवेश प्रमुख रूप से दो तत्व निर्धारित करते हैं—(1) पूजी की सीमान्त उत्पादकता या कुशलता (Marginal Efficiency of Capital) (2) *ब्याज की दर (Rate of Interest)। जब कभी एक फर्म विनियोग करने का विचार* करती है तो या तो इसके लिए उसे वित्तीय सहायता कहा से उधार लेना होगी या फिर उसे अपने साधनों स व्यय करना होगा। पहली स्थिति में उसे ब्याज देना होगा जबकि दूसरी स्थिति म उसे धनराशि पर मिलने वाला ब्याज की राशि का त्याग करना होगा। विनियोग लाभ की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं। एक साहसी विनियोग करते समय पूजी की सीमान्त क्षमता तथा ब्याज का दर दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करता है जब तक ब्याज की दर से पूजी की सीमान्त क्षमता अधिक रहेगी तब तक विनियोग होते रहेंगे अर्थात् साहसी को लाभ मिलेगा।

वास्तव प्रेरित अर्थशास्त्र म निवेश इन्ही दोनों शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है परन्तु इन दोनों *शक्तियों का निवेश की मात्रा पर समान रूप से प्रभाव नहीं पड़ता। दोनों* म से पूजी की सीमान्त क्षमता कुल निवेश को ब्याज की दर की अपेक्षा अधिक प्रभावित करता है। ब्याज का दर म जल्दी-जल्दी परिवतन नहीं होते। निवेशों को प्रेरणा पूजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा अधिक मिलती है। पूजी की सीमान्त उत्पादकता (MEC) स्थिर रहते हुए ब्याज की दर म थोड़ी सी गिरावट से कुल निवेश बढ़ते हैं क्योंकि बैंकों तथा ऋण प्रदान करने वाली सस्थाओं से ऋण प्राप्त करना सस्ता हो जाता है। इसके विपरीत ब्याज का दर म वृद्धि होने स उत्पादन लागत म वृद्धि अथात् विनियोगों की लागत महगी हो जाती है और लाभ मार्जिन कम हो जाते हैं और साहसियों के लिए विनियोगों को करने के लिए प्रोत्साहित नहीं रहता।

प्रतिष्ठित *अर्थशास्त्रियों का मत था कि निवेश ब्याज सापेक्ष होता है जबकि प्रो०* कीन्स ने अपनी पुस्तक (General Theory) म यह बताया है कि निवेश इतना ब्याज सापेक्ष नहीं होता जैसाकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री समझते थे। प्रो० कीन्स ने कहा कि निवेश *ब्याज की अपेक्षा पूजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा अधिक प्रभावित होता है। पूजी की* सीमान्त उत्पादकता म अल्पकालीन अस्थिरता तथा चिरकालीन गतिहीनता का प्रवृत्ति पाई जाती है।

प्रो० कीन्स का कहना है कि मन्दीकाल म निवेश हेतु ब्याज की सापेक्षता बहुत कम होती है तथा धनात्मक ब्याज की दर पर अर्थव्यवस्था में बचत तथा निवेश के बीच पूर्ण रोजगार के स्तर पर म तुलन स्थापित नहीं हो सकता। कीन्स का विश्वास था कि अर्थव्यवस्था म ब्याज का दर (न्यूनतम) 2% से नीचे नहीं गिरेगा क्योंकि इस न्यूनतम

दर पर लोगो द्वारा असीमित मात्रा में मुद्रा की माँग के कारण नकदी अधिमान वक्र (Liquidity Preference Curve) पूर्णतया ब्याज से पस्त हो जाता है। ब्याज की इस दर पर निवेशकर्ता अपनी सम्पत्ति को सरकारी प्रतिभूतियों या बाण्डों में न रखकर नकदी के रूप में रखना अधिक पसन्द करेंगे। ब्याज की इस न्यूनतम दर पर पूर्ण रोजगार बचत (Full Employment Saving) पूर्ण रोजगार निवेश (Full Employment Investment) की तुलना में अधिक होगी। और इस दरार को जब तक अतिरिक्त निवेश अथवा अतिरिक्त उपभोग द्वारा नहीं पाटा जाएगा तब तक अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की प्राप्ति करना कठिन होगा।

जहाँ तक उपभोग में वृद्धि का सवाल है यह आय की मात्रा तथा औसत उपभोग प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होता है। यद्यपि निर्धनों के पक्ष में आय का पुनर्वितरण करके उपभोग में कुछ वृद्धि की जा सकती है परन्तु पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में इसकी कुछ सीमाएं होती हैं। पूर्ण रोजगार प्राप्ति के लिए कीन्स का विचार है कि व्यय बढ़ाए जाएं अर्थात् लोक कल्याणीय योजनाओं को चालू किया जाए।

दूसरा प्रमुख शक्ति जो निवेश को प्रभावित करता है वह पूंजी की सीमान्त क्षमता (MEC) कहलाती है। पूंजी की सीमान्त क्षमता पूंजी परिसम्पत्ति की वर्तमान लागत (पूर्ति मूल्य) तथा साहसियों के पूंजी परिसम्पत्ति से भविष्य में होने वाले लाभ की आशाओं पर निर्भर करता है। एक साहसी की लाभ सम्बन्धी आशाएं (Expectations) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों प्रकार की हो सकती हैं। अल्पकालीन आशाएँ साहसी तथा व्यापारियों की वर्तमान पूंजी से निकट भविष्य में होने वाली आय होती है। अल्पकालीन आशाएँ दीर्घकालीन आशाओं की तुलना में अधिक स्थिर होती हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि दीर्घकालीन आशाएं अधिक अनिश्चित होती हैं। अल्पकालीन आशाएं मूल्य लाभ माँग वेतन तथा ब्याज की दर आदि आन्तरिक कारणों द्वारा प्रभावित होती हैं। दीर्घकालीन आशाएं युद्ध जनसंख्या वृद्धि अनुसंधान एवं आविष्कार नवीन प्रक्रिया विदेशी व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथा आर्थिक स्थितियों ऋतुओं तथा सरकार कार्यों आदि अनेक बाह्य कारणों द्वारा प्रभावित होती है।

साहसी उस समय तक निवेश करेगा जब तक वह यह आशा करे कि उसे निवेश लाभप्रद होगा। यह स्थिति को ज्ञात करने के लिए निम्नलिखित समीकरण दिया जा सकता है।

$$\frac{dR}{dI} > \frac{dC}{dI}$$

अथवा
$$\frac{dR}{dI} - \frac{dC}{dI} > 0$$

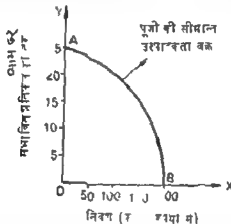
dR = आय में परिवर्तन dI = विनियोग में परिवर्तन
dC = कुल लागत में परिवर्तन।

उपर्युक्त समीकरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब फर्म के निवेश में परिवर्तन (dI) होने के लिए आय में परिवर्तन (dR) फर्म के निवेश में परिवर्तन हेतु उसकी कुल लागत में परिवर्तन (dC) की तुलना में अधिक होता है तो विनियोग होता है अन्यथा नहीं।

फर्म की दृष्टि से अतिरिक्त पूंजीगत परिसम्पत्ति की लागत मशीन की कीमत होती है तथा फर्म इसकी तुलना उस मशीन से प्राप्त होने वाली आय से करेगी। इसके साथ ही।

फम उस व्यय को भी शामिल करेगी जो उस मशीन तथा अन्य उत्पादन सज्जा की खरीदन के लिए वित्तीय संस्थाओं तथा बैंकों से प्राप्त ऋणों पर ब्याज के रूप में करना पड़ता है। एक फर्म निवेश करते समय उस विशेष बट्टा दर को ज्ञात करने का प्रयास करेगी जिस पर ऋण प्राप्त करने में मशीन तथा अन्य उत्पादन सज्जा की वर्तमान लागत उस सज्जा द्वारा विभिन्न वर्षों में प्राप्त होने वाली कुल आय के समान होगी। यदि बट्टा दर वर्तमान ब्याज की दर से अधिक है तो फर्म निवेश योजना को कार्यान्वित करके निवेश करेगी अन्यथा नहीं।

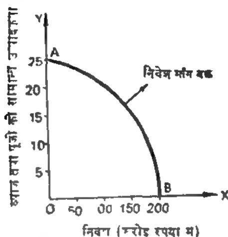
किसी भी दी हुई समयावधि में एक फर्म के सामने कई ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं जिसमें फर्म को भिन्न आय दर प्राप्त होती है। अधिक लाभ की दर की अपेक्षा कम लाभ के अवसर अधिक होते हैं। जैसे जैसे निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है वैसे वैसे लाभ की दर भी कम होती जाती है। इस स्थिति को निम्न रेखाचित्र द्वारा दिखाया जा सकता है।



प्रस्तुत रेखाचित्र में AB वक्र पूंजी सीमान्त उत्पादकता वक्र है। इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु आशान्वित लाभ दर तथा इस लाभ दर पर किए जाने वाले अधिकतम निवेश की मात्रा को सूचित करता है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का ऋणात्मक ढाल यह व्यक्त करता है कि निवेश की मात्रा तथा लाभ की दर के मध्य इस प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है कि निवेश की मात्रा में वृद्धि होने पर लाभ की दर कम हो जाती है। ऐसा प्रायः दो कारणों से हो सकता है (1) किसी भी उद्योग में निवेश में वृद्धि हो जाने से लाभ की दर में कमी हो जाती है। (2) निवेश में वृद्धि होने से पूंजी की सीमान्त उत्पादकता (MEC) गिरती है। नई इकाइयों की पूर्ति में वृद्धि होने से उनकी लागत में वृद्धि हो जाती है क्योंकि उत्पादन साधनों तथा कच्चे माल की माँग में वृद्धि से दुर्लभता सामने बढ़ जाती है।

हम जब पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात होते हुए भी ब्याज की दर ज्ञात होने से उस अधिकतम निवेश मात्रा को ज्ञात किया जा सकता है जिसे व्यवसायी वास्तविक रूप में परिणत करेगा क्योंकि निवेश उस सीमा तक होगा जहाँ MEC – Marginal Rate of Interest इसे भी अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा दिखाया जा सकता है जो उपर्युक्त रेखाचित्र की भाँति है।

प्रस्तुत रेखाचित्र में AB निवेश वक्र है। इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु निवेश की उस अधिकतम मात्रा को व्यक्त करता है जिसे साहसी भिन्न भिन्न ब्याज दरों पर नियोजित करेंगे।



परीक्षा प्रश्न

1 स्वायत्त निवेश का क्या अर्थ है? इस निवेश के अन्तर्गत किस प्रकार के निवेश आते हैं? इस निवेश का आर्थिक महत्व क्या है?

(What is meant by autonomous investment? What kind of investment fall under this category? What is the economic significance of this kind of investment?)

2 प्रेरित निवेश से आप क्या समझते हैं? पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उन तत्वों को बताइए जो प्रेरित निवेश को शासित करते हैं।

(What is meant by induced investment? Discuss those factors which govern the induced investment in a capitalist economy.)

3 विनियोग फलन से आप क्या समझते हैं? उन तत्वों की व्याख्या कीजिए जो विनियोग को प्रभावित करते हैं।

(What do you understand by investment function? Discuss those factors which determine the investment.)

4 टिप्पणी लिखिए—

(अ) कुल तथा शुद्ध निवेश (ब) स्वायत्त तथा प्रेरित निवेश (स) नियोजित तथा अनियोजित निवेश (द) निवेश को निर्धारित करने वाले कारण।

Write notes on —

(a) Gross and Net Investment (b) Autonomous and Induced Investment (c) Intended and unintended Investment (d) Factors Determining the Investment

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही है और कौन गलत है।

(i) पूंजी पदार्थों के वास्तविक उपलब्ध स्टाक में शुद्ध वृद्धि को विनियोग कहते हैं।

(ii) स्वायत्त निवेश समय मांग में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होता है।

(iii) प्रेरित निवेश की मात्रा आय तथा इसमें होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होती है।

(iv) कीन्स के अनुसार निवेश ब्याज की अपेक्षा पूंजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा अधिक प्रभावित होता है।

(v) पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में अल्पकालीन तथा चिरकालीन गतिहीनता की प्रवृत्ति पाई जाती है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) गलत है। (iii) सही है। (iv) सही है। (v) सही है।

Marginal efficiency of capital is the ratio between the prospective yield of additional capital goods and thier supply price " Kurihara

अध्याय 8

पूंजी की सीमान्त क्षमता

(MARGINAL EFFICIENCY OF CAPITAL)

पूंजी की सीमान्त क्षमता अथवा उत्पादकता कीन्सवादी अर्थशास्त्र में आय उत्पादन तथा रोजगार के स्तर का प्रमुख निर्धारक तत्व है। एक उत्पादक या फर्म के लिए पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का विशेष महत्व है। एक उत्पादक या फर्म पूंजी विनियोजन करने से पहले पूंजी से प्राप्त प्रतिफल अर्थात् पूंजी की सीमान्त उत्पादकता तथा पूंजी पूर्ति की लागत अर्थात् ब्याज की तुलना करता है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता साहसी की मनोवैज्ञानिक विचारधारा द्वारा तय होती है जिसके बारे में साहसी केवल अनुमान ही लगाता है। पूंजी की सीमान्त क्षमता या उत्पादकता उस सम्भावित लाभ की दर होती है जिसका सम्बन्ध वर्तमान में लाभ की दर से नहीं होता और जिसमें अल्पकाल में अधिक उच्चावचन देखने को मिलते हैं।

परिभाषा— विभिन्न विद्वानों द्वारा पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की परिभाषाएँ इस प्रकार दी गई हैं—

प्रो० के० कुरीहारा के अनुसार पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अतिरिक्त पूंजीगत पदार्थों की अनुमानित तथा उनकी पूर्ति कीमत के मध्य अनुपात को बताती है।[1]

प्रो० डिलार्ड के अनुसार किसी विशेष पूंजी परिसम्पत्ति की अतिरिक्त इकाई लागत पर आय की जो अधिकतम दर प्राप्त होती है उस पूंजी को सीमान्त उत्पादकता कहा जाता है।[2]

---

1 Marginal efficiency of capital is the ratio between the prospective yield of additional capital goods and their supply price

—*Kurlhara*

2 The marginal efficiency of a particular type of capital asset is the highest rate of return over cost expected from an additional unit of that type of asset —*Dudley Dillard*

प्रो० स्टोनियर तथा हेग के शब्दों में "किसी विशेष प्रकार के पूँजीगत पदार्थ की सीमान्त उत्पादकता इस बात को व्यक्त करती है कि एक साहसी एक अतिरिक्त पूँजी परिसम्पत्ति लगाकर इससे उस पर व्यय किए गए धन की तुलना में कितनी आय प्राप्ति की आशा रखता है।"[1]

पूँजी की सीमान्त क्षमता एक पूँजी पदार्थ की उस बट्टा दर को कहते हैं जिस पर एक पदार्थ की भावी प्राप्ति (Prospective Yield) का बट्टा इतना होता है कि उस पदार्थ की पूर्ति कीमत के बराबर हो जाए। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यदि प्रत्याशित वार्षिक प्राप्ति (Qs) के मूल्य का अनुमान तथा उसकी लागत का पता चल जाए तो इन दोनों के अनुपात अथवा दर को पूँजी की सीमान्त क्षमता कहा जाएगा। प्रो० कीन्स ने इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए पूँजी की सीमान्त क्षमता की परिभाषा इस प्रकार दी है। कीन्स के शब्दों में "पूँजी की सीमान्त क्षमता बट्टे की उस दर के बराबर होती है जो पूँजी परिसम्पत्तियों के जीवन काल में प्राप्त होने वाले कुल वार्षिक प्रतिफलों की मात्रा के वर्तमान मूल्य को उसकी पूर्ति कीमत के बराबर कर दे।"[2]

प्रो० कीन्स की परिभाषा को एक समीकरण द्वारा भी दिखाया जा सकता है—

पूर्ति कीमत = कटौती की गई भावी प्राप्तियाँ

Supply Price = Discounted Prospective Yields

$$\text{अथवा } Cr \text{ or } Sp = \frac{Q_1}{1+r} + \frac{Q_2}{(1+r)^2} + \frac{Q_3}{(1+r)^3} + \frac{Qn}{(1+r)n}$$

Cr अथवा Sp = पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत अथवा पुनःस्थापन लागत (Cost of replacement)

Q_1 Q_2 Q_3 Qn = प्रत्याशित वार्षिक प्राप्तियाँ (Prospective yields in various years)

r = वह बट्टा दर है जो वार्षिक प्राप्तियों के वर्तमान मूल्य को पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत के बराबर बना देता है।

व्यवहार में एक पूँजी पदार्थ के जीवन काल में तथा उससे प्राप्त होने वाली सम्भावित प्राप्ति का अनुमान लगाना कठिन होता है। परन्तु इस प्रकार के अनुमान लगाने के अलावा कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है जो एक पूँजी पदार्थ के जीवनकाल और उसमें प्राप्त होने वाली आय का अनुमान लगा सके। इतना ही नहीं उपर्युक्त समीकरण में Qs के मूल्य का अनुमान हम गतिशील समाज में नहीं लगा सकते जिसमें हम रहते हैं।

पूँजी की सीमान्त क्षमता पूँजी पूर्ति की कीमत तथा पूँजी पदार्थ से प्राप्त भावी प्राप्ति (Prospective Yields of Assets) द्वारा निर्धारित होती है जबकि ब्याज की दर

---

1 The marginal efficiency of a particular type of asset shows that an *entrepreneur expects to earn from one more asset* of that kind compared with what he has to pay to buy it — *Stonier and Hague*

2 Marginal efficiency of capital as being equal to the rate of discount which would make the present value of the series of annuities given by the return expected from the capital asset during its life just equal to its supply price —*J M Keynes*

नकदी अधिमान अनुसूची तथा चलन में मुद्रा की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। निवेशों की मात्रा में परिवर्तन पूंजी की सीमान्त क्षमता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं परन्तु ब्याज की दर को प्रभावित नहीं करते। पूंजी की सीमान्त क्षमता तथा ब्याज की दर दोनों को बराबर लाने में निवेशों की मात्रा में परिवर्तन जरूरी होते हैं।

एक समयावधि में विभिन्न निवेशों पर पूंजी की सीमान्त क्षमता भी अलग-अलग होती है। इसमें जिसकी सीमान्त क्षमता सबसे अधिक होगी यदि अतिरिक्त विनियोग उस पर किया जाय तो उस अर्थव्यवस्था की दृष्टि से वही विनियोग सबसे अधिक लाभप्रद समझा जाएगा। इसलिए यदि हमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में विनियोगों में वृद्धि करना है तो हमें ऐसी पूंजी परिसम्पत्तियों की मात्रा को बढ़ाना होगा जो अधिकतम क्षमता प्रदान कर सकें। प्रो० कीन्स ने पूंजी की सीमान्त क्षमता को पूंजी की सीमान्त उत्पादकता से अलग माना है। उनके अनुसार पूंजी की सीमान्त उत्पादकता पूंजी की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल प्राप्ति में होने वाली वृद्धि होती है। इसके विपरीत पूंजी की सीमान्त क्षमता कटौती की वह दर होती है जो पूंजी परिसम्पत्ति से प्राप्त होने वाली कुल सीमान्त आय को इसकी पुनः स्थापना लागत (Replacement Cost) के बराबर कर देती है। सीमान्त क्षमता का सम्बन्ध वर्तमान वार्षिक लाभ से नहीं वरन् प्रत्याशित भावी प्राप्तियों (Expected Prospective Yields) की विनियोग प्रेरणा के रूप में देखना चाहिए।

विनियोग मांग अनुसूची—विनियोग मांग अनुसूची एक समयावधि में विभिन्न विनियोग स्तरों पर पूंजी पदार्थ के विभिन्न सीमान्त क्षमताओं को बताती है। इस अनुसूची के आधार पर जिस वक्र का निर्माण किया जाता है उसे विनियोग मांग वक्र कहते हैं। यह वक्र बायें हाथ से दाहिने हाथ नीचे की ओर गिरता हुआ होता है जो बताता है कि जैसे-जैसे विनियोग की मात्रा में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे पूंजी की सीमान्त क्षमता में कमी होती जाती है। प्रो० कीन्स कहते हैं कि एक प्रकार की पूंजी परिसम्पत्ति (मशीन) में किसी समय विनियोग की मात्रा में वृद्धि के साथ पूंजी की सीमान्त क्षमता में गिरावट आती है ऐसा सम्भवतः दो कारणों से होता है—(1) जैसे ही उस सम्पत्ति की पूर्ति बढ़ेगी उसमें भावी प्राप्ति गिरेगी, (2) ऐसी सम्पत्ति की उत्पत्ति की सुविधाओं पर अधिक दबाव बढ़ने से इसकी पूर्ति कीमत भी बढ़ेगी।

विनियोग मांग अनुसूची
(Investment Demand Schedule)

विनियोग करोड़ रुपयों में	पूंजी की सीमान्त क्षमता का वार्षिक प्रतिशत
100	15
200	12
300	10
400	8
500	5

विनियोग मांग सूची रोजगार के स्तर को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण होती है क्योंकि यह ब्याज की दर में परिवर्तन होने से विनियोग की मात्रा या राशि परिवर्तन को व्यक्त करती है। हालांकि प्रो० कीन्स ने ब्याज की दर को विनियोग की मात्रा से स्वतन्त्र माना है जबकि पूंजी की सीमान्त क्षमता विनियोग की मात्रा का फलन होती है अर्थात् MEC = f (I)। जितनी पूंजी की सीमान्त क्षमता में लोच जितनी अधिक होगी, ब्याज की गिरती हुई दर पर उतना ही विनियोग की मात्रा में वृद्धि होगी। इसी प्रकार जितनी पूंजी की सीमान्त क्षमता में लोच कम होगी उतनी ही कम विनियोगों में वृद्धि एवं

गिरती हुई ब्याज की दर पर होगी। विनियोग मांग अनुसूची की स्थिति और उसका स्वरूप विभिन्न जटिल कारणों पर निर्भर करेगी जो कि प्रत्येक साहसी के अपने-अपने अलग अनुमानों तथा पुनरीक्षण द्वारा शासित होंगे। एक उद्योग निवेश या एक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की विनियोग मांग सूची का निर्माण करना कठिन होता है। MEC की मांग अनुसूची कम लोचपूर्ण होती है न कि अधिक लोचपूर्ण। ब्याज की दर में परिवर्तन नये विनियोगों को अधिक प्रभावित नहीं कर पाते वरन् विनाश या वृद्धि तथा तकनीकी प्रगति से सम्बन्धित तत्व विनियोगों की मात्रा को ब्याज की दर की अपेक्षा अधिक प्रभावित करते हैं।

पूँजी की सीमान्त क्षमता को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों तत्व प्रभावित करते रहते हैं—

(I) पूँजी की सीमान्त क्षमता को प्रभावित करने वाले अल्पकालीन तत्व

1. उपभोग प्रवृत्ति—अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति के ऊपर जाने की प्रवृत्ति होती है इसलिए इसका पूँजी की सीमान्त क्षमता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बढ़ने से आंशिक रूप से पूँजीगत वस्तुओं की मांग बढ़ती है।

2. मांग, लागत तथा कीमतों का स्वभाव—यदि लागतों के बढ़ने की प्रवृत्ति बनी रहती है तो एक उत्पादन को विनियोगों से प्राप्त होने वाली प्रतिफल की दर में गिरावट आएगी और पूँजी की सीमान्त क्षमता गिरेगी। भविष्य में कीमतों तथा मांग के गिरने की प्रवृत्ति से भी पूँजी की सीमान्त क्षमता में गिरावट आती है। इसके विपरीत लागतों में गिरावट, कीमतों तथा मांग में वृद्धि की आशा होने पर पूँजी की सीमान्त क्षमता बढ़ेगी।

3. आय में परिवर्तन—पूँजी की सीमान्त क्षमता आय में अल्पकाल में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होती है। आय में परिवर्तन लाभ तथा हानि में अप्रत्याशित परिवर्तन, करों में छूट आदि द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। आय में वृद्धि से पूँजी की सीमान्त क्षमता बढ़ेगी और आय में गिरावट होने से MEC गिरेगी।

4. नकद सम्पत्तियों में परिवर्तन—यदि एक साहसी के पास नकद सम्पत्तियाँ अधिक हैं तो विनियोगों से मिलने वाले लाभ को प्राप्त करने के लिए जब कभी भी उसे अच्छे अवसर दिखाई देंगे तो वह इनका लाभ उठाएगा और MEC बढ़ेगी इसके विपरीत यदि उसके पास नकद सम्पत्तियाँ (Liquid Assets) नहीं हैं तो वह लाभपूर्ण पूँजी विनियोजनों के अवसरों का लाभ नहीं उठा सकेगा।

5. वर्तमान प्रतिफल की दर—पूँजीपति पूँजी विनियोजन इस आशा से करते हैं कि *उनके विनियोजन से प्राप्त प्रतिफल की दर अच्छी रहेगी और वर्तमान में लागू प्रतिफल* की दर से कम नहीं होगी जिस पर कि विनियोग हो रहे हैं। इसलिए वर्तमान प्रतिफल की दर पूँजी विनियोजन के लिए जरूरी होती है।

6 प्रत्याशाएँ—पूँजी की सीमान्त क्षमता एक साहसी या उत्पादक की प्रत्याशाओं पर भी निर्भर करती है और यह प्रत्याशाएँ आशावान और निराशाजनक (Pessimistic and *Optimistic*) दोनों ही प्रकार की होती हैं। *आशावादिता की स्थिति में पूँजी,* विनियोजन से प्राप्त प्रतिफल को आवश्यकता से अधिक अनुमान लगाया जाता है जिससे MEC बढ़ती है जबकि निराशावादिता की स्थिति में जरूरत से कम प्रतिफल प्राप्त होने की धारणा रहती है इसलिए MEC गिरती है।

(II) पूँजी की सीमान्त क्षमता को प्रभावित करने वाले दीर्घकालिक तत्व

MEC को प्रभावित करने वाले प्रमुख *दीर्घकालिक तत्व* निम्नांकित बताए जा सकते हैं—

1. जनसंख्या का स्वरूप—जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती है वैसे-वैसे बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए विभिन्न सार्वजनिक सेवाओं, भवनों, उपभोक्ता वस्तु उद्योगों आदि की माँग बढ़ती है और इनके लिए पूंजी विनियोजन बढ़ता है इसलिए MEC भी बढ़ती है क्योंकि इन सबका मिला-जुला प्रभाव सभी क्षेत्रों में माँग में वृद्धि के रूप में होता है।

2. उत्पादन विधियों को अपनाना—उत्पादन के क्षेत्र में नवीन तकनीकी विधियों विशेष रूप से पूंजी लगाने वाले क्षेत्रों या ऐसे क्षेत्रों में जहाँ लागत गिराने के प्रयास बने रहे, विनियोग बढ़ते हैं और MEC बढ़ती है। वर्तमान समय में उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों सीमेण्ट, लोहा, गैस, कपड़ा, ओटोमोबाइल (कार, स्कूटर, मोटरसाइकिल) आदि के उद्योगों के क्षेत्रों में तकनीकी प्रगति ने इन क्षेत्रों में पूंजी विनियोजन को बढ़ाने में सहायता दी है।

3. पूंजी साधनों की पूर्ति—पूंजी साधनों की पूर्ति बनी रहने पर ही उत्पादन तकनीक, बाजार के विस्तार, जनसंख्या वृद्धि आदि की माँग को पूरा किया जा सकता है। यदि वर्तमान मशीनों तथा विभिन्न उत्पादन के प्लाण्टों की क्षमता से ही उपर्युक्त बढ़ती हुई माँग को पूरा किया जा सके तो पूंजी निवेश नहीं बढ़ेंगे अन्यथा निवेश बढ़ेंगे और MEC भी बढ़ेगी।

आशंसाएँ तथा पूंजी की सीमान्त क्षमता (Expectations and Marginal Efficiency of Capital)

पूंजी की सीमान्त क्षमता के दो प्रमुख निर्धारक तत्व होते हैं—(1) पूर्ति कीमत अथवा लागत (2) भावी प्राप्तियाँ या प्रतिफल (Prospective Yield or Return)। अल्पकाल में पूर्ति कीमत या लागत स्थिर रहती है इसलिए MEC पर भावी प्राप्ति या प्रतिफल का प्रभाव अधिक होता है। भावी प्राप्तियाँ अनिश्चित होती हैं। भावी प्राप्तियाँ विनियोजकों की आशंसाओं पर निर्भर करती हैं। एक विनियोजक या पूंजी विनियोजन करते समय वर्तमान प्राप्ति अथवा आय की अपेक्षा भावी प्राप्तियों अथवा आय को अधिक महत्त्व देता है।

एक साहसी के लिए भावी प्राप्तियों का सम्बन्ध अपने पूंजी पदार्थ के उत्पाद को बेचने से प्राप्त होने की आशा होती है। यह आशंसाएँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं—(1) अल्पकालीन आशंसाएँ, (2) दीर्घकालीन आशंसाएँ। अल्पकालीन आशंसाओं का सम्बन्ध एक साहसी को अपने कारखाने के प्लाण्ट की उत्पादन क्षमता से अथवा उसकी बिक्री से होता है। ऐसी स्थिति में वर्तमान प्लाण्ट की क्षमता को स्थिर मान लिया गया है। जबकि दीर्घकालीन आशंसाओं का सम्बन्ध नए निवेशों से प्राप्त प्लाण्ट की क्षमताओं में परिवर्तन अथवा नए प्लाण्ट को स्थापित करने से बिक्री अथवा उत्पादन से होता है। इन दोनों आशंसाओं को हम पृथक्-पृथक् रूप से निम्न प्रकार से रख सकते हैं—

1. **अल्पकालीन आशंसाएँ (Short-term Expectations)**—दीर्घकालीन आशंसाओं की अपेक्षा अल्पकालीन आशंसाएँ अधिक स्थिर होती हैं क्योंकि यह वर्तमान तत्वों पर आधारित होती हैं। वर्तमान में बीते हुए समय की घटनाएँ आने वाले समय के लिए एक अच्छा और सुरक्षित मार्ग दर्शक हो सकती हैं। इन आशंसाओं से तात्पर्य वर्तमान इकाइयों के उत्पादन एवं बिक्री से होता है जिनके बारे में कुछ निश्चित अनुमान लगाए जाते हैं। अल्पकालीन आशंसाओं में सतत् होने का गुण अधिक पाया जाता है क्योंकि बहुत सी स्थितियाँ जो वर्तमान उत्पादन को प्रभावित करती हैं, लगभग स्थिर रहती हैं। अल्पकालीन आशंसाओं को पिछले अनुभवों के आधार पर नियन्त्रित किया जा सकता है। चूंकि अल्पकालीन आशंसाएँ अधिक स्थिर होती हैं इसलिए यह विनियोगों में उच्चावचनों को व्यक्त करने में असमर्थ होती हैं।

2 दीर्घकालीन आशंसाएँ (Long term Expectations)—दीर्घकालीन आशसाएँ भावी प्राप्तियो से सम्बन्धित होने के कारण, अल्पकालीन आशसाओ की अपेक्षा पूर्णतया अनिश्चित होती है। इसलिए एक अर्थव्यवस्था मे कुल विनियोग तथा कुल रोजगार होने वाले उच्चावचनो को व्यक्त करने मे यह अधिक महत्वपूर्ण होती है। इसका कारण मे यह है कि हम यह नही कह सकते कि आने वाले चार वर्षों की आर्थिक क्रियाओं की ...तिशीलता या प्रवृत्ति पिछले चार-पाँच वर्षों की आर्थिक क्रियाओ की भाँति होगी जबकि हम अल्पकालीन आशसाओ के बारे मे अधिक निश्चित भविष्यवाणी कर सकते है। जैसा कि विदित है कि दीर्घकाल मे सभी तत्व परिवर्तनशील हो जाते है उदाहरणार्थ दीर्घकाल मे एक कारखाने के स्वरूप उसके उत्पाद की कीमत तथा उत्पादन की मात्रा सभी मे परिवर्तन हो सकते है। एक फर्म या उत्पादन की इकाई मे स्थापित मशीन तथा कारखाने के सम्भावित जीवनकाल, उसे कार्यशील रखने की लागत, उत्पादन प्रणाली मे परिवर्तन उपभोक्ताओ की रुचियो, प्रभावपूर्ण माँग मे परिवर्तन, मजदूरी स्तर निर्यात की स्थिति प्रतियोगिता की स्थिति, सकटकालीन परिस्थितियो तथा भावी राजनैतिक तथा अन्य आर्थिक शक्तियाँ आदि ऐसे तत्व है जिनके बारे मे कोई निश्चित भविष्यवाणी करना सम्भव नही होता। दीर्घकाल मे अनिश्चितताओ के कारण विनियोगकर्त्ता उन्ही तत्वो को देखते है जिनके बारे मे वे अधिक आशावान और विश्वस्त होते है। इसलिए दीर्घकालीन आशसाएँ विनियोजको के विश्वास द्वारा शासित होती है। भविष्य मे विश्वास जितना अधिक निश्चित होगा विनियोग उतना ही अधिक और लाभपूर्ण समझा जायेगा। इसलिए विनियोगो मे उच्चावचन, दीर्घकाल मे साहसी के विश्वास पर निर्भर करते है। विनियोग मे अधिकता के बाद निराशावादिता तथा मदी की स्थिति आती है जिसमे टिकाऊ पदार्थों मे विनियोग गिरते है।

पूंजी की सीमान्त क्षमता के विचार की आलोचना (Criticism of the Concept of Marginal Efficiency of Capital)

प्रो० कीन्स के पूंजी की सीमान्त क्षमता का विचार आलोचनाओं से मुक्त नही है। प्रो० सालनियर तथा हैनसिट इस विचारधारा के प्रमुख आलोचक है—

(1) प्रो० सालनियर (Prof Saulnier) ने अपनी पुस्तक Contemporary Monetory Theory (1947) मे कीन्स के इस विचार की आलोचना करते हुए कहा है कि MEC को विश्लेषणात्मक अध्ययन का तब तक एक अस्त्र नही मानना चाहिए जब तक कि हम वितरण के सिद्धान्त का पूरा स्वरूप और विभिन्न उत्पादक साधनो का अशदान न मालूम हो।[1] वे आगे कहते है कि कीन्स ने पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना की है और उन तत्वों की ओर ध्यान नही दिया है जो कि अपूर्ण प्रतियोगिता बाजार के लिए जरूरी होंगे है। बाजार की वास्तविक स्थिति अपूर्ण प्रतियोगिता की होती है। कीन्स के विनियोग क्रिया के विश्लेषण को MEC तथा ब्याज की दर से सम्बद्ध किया है क्योंकि उन्होंने मजदूरी को श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर माना है। यदि मजदूरी से सम्बन्धित इस मान्यता को हम छोड दे तो मजदूरी दर भी विनियोग क्रिया के सिद्धान्त का एक आवश्यक अग बन जाती है।

(2) प्रो० सालनियर कहते है कि प्रो० कीन्स ने MEC के विचार को सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ मे देखा है। उचित यह होता कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के लिए MEC का विचार अलग-अलग होता है। इस तत्व का हमारी जैसी अपूर्ण प्रतियोगिता बाजार की व्यवस्था मे विशेष महत्व है।[2]

---

1 R J Saulnier "Contemporary, Monetary Theory" (1947) pp 340-41.
2 *Ibid*

(3) प्रो० कालनियर कहते हैं कि कीन्स विश्लेषण इस बात का उल्लेख करता है कि कुल विनियोग माँग अनुसूची का निर्धारण किस प्रकार होता है। यह इस बात को नही बताता कि पूंजी की उत्पादकता परिवर्तन कैसे होते हैं। पूंजी के अलावा अन्य साधनों के स्थिर रहने पर पूंजी की सीमान्त क्षमता (MEC) में कैसे परिवर्तन होगा। न ही इसमें इस बात पर ध्यान दिया गया है कि पूंजी तथा अन्य साधनों के परिवर्तनशील होने पर MEC में किस प्रकार परिवर्तन होगा।

प्रो० कालनियर कहते हैं कि कीन्स विश्लेषण उन बचतों तथा अबचतों (Economies and Diseconomies) की व्याख्या नही करता जो कि विनियोग माँग अनुसूची की आकृति प्रभावित करती है। प्रो० कालनियर का कहना है कि कीन्स विश्लेषण न ही पूर्ण है और न ही उन तत्वो की सतोषजनक व्याख्या करता है जो पूंजी की उत्पादकता को निर्धारित करते है।

(4) प्रो० हैजलिट (Prof Hazlitt) कहते है कि कीन्स ने MEC शब्द विभिन्न अर्थों में लिया है कि इसके सही अर्थ का ज्ञान यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। प्रो० कीन्स ने MEC शब्द का कोई निश्चित अर्थ नही बताया है। कीन्स के समय MEC शब्द के साथ सीमान्त उत्पादकता आय उपयोगिता आदि शब्दों के उपयोग का भी चलन था। परन्तु कीन्स ने इन सब शब्दों में सबसे अधिक अस्पष्ट शब्द पूंजी की सीमान्त क्षमता (MEC) का उपयोग ही किया। यदि वे इसके स्थान पर अन्य किसी शब्द का उपयोग अपने विश्लेषण मे करते तो वह काफी आलोचनाओं से बच सकते थे।

प्रो० कीन्स ने ब्याज की दर के महत्व को अस्वीकार करते हुए कहा था कि पूंजी की सीमान्त क्षमता का महत्व हमारे जैसे प्रावैगिक समाज में है जबकि ब्याज की दर की धारणा स्थिर समाज के लिए महत्वपूर्ण है। कीन्स के इस प्रकार से सोचने का कोई औचित्य नही है। इस मान्यता के मानने का अर्थ यह होगा कि साहसी केवल भावी प्रत्याशाओं (Expectations) द्वारा ही प्रभावित होते है जबकि ऋण पूर्ति करने वाला वर्ग ऐसी प्रत्याशाओं द्वारा प्रभावित नही होता। कीन्स ने इसके लिए कुछ नही कहा है।

परीक्षा प्रश्न

1. पूंजी की सीमान्त क्षमता का क्या अर्थ है ? रोजगार के सिद्धान्त में इस विचार की भूमिका का परीक्षण कीजिए।

   (What is meant by marginal efficiency of capital ? Examine the role of this concept in the theory of Employment)

2. उन अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन तत्वों की व्याख्या कीजिए जो विनियोग की सीमान्त क्षमता अथवा पूंजी की सीमान्त क्षमता को प्रभावित करते हैं।

   (Explain the short-run and long-run factors which affect the marginal efficiency of investment or the marginal efficiency of capital)

3 विनियोग माँग अनुसूची से आप क्या समझते हैं ? पूंजी की सीमान्त क्षमता को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिए।

   (What do you understand by Investment Demand Schedule ? Discuss the factors that influence the marginal efficiency of capital)

से हम इस बात से परिचित हैं कि गुणक (गुणक) वह अनुपात है जो राष्ट्रीय आय में वृद्धि और विनियोग में वृद्धि के परिमाणात्मक सम्बन्ध को बताता है जिससे आय में वृद्धि होती है।

बीजगणित की भाषा में विनियोग $k = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$ k = गुणक

ΔY = राष्ट्रीय आय में वृद्धि ΔI = विनियोग में वृद्धि।

इसी बात को गणित की भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि अर्थव्यवस्था में विनियोग 10 करोड़ रुपए का किया जाए और उससे राष्ट्रीय आय में 50 करोड़ रुपए की वृद्धि हो तो गुणक 50/10 = 5 होगा। गुणक का मूल्य 5 गुना होगा अर्थात् $k = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$

or $k = \frac{50}{10}$ = 5। गुणक का मूल्य सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume or MPS) के आधार पर गुणक को ज्ञात कर सकते हैं।

प्रो० कीन्स के बाद आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने गुणक को अपने अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनाया। इनमें प्रो० फ्रिज मैकलप, गार्डनर एक्ले रिचार्ड गुडविन तथा प्रो० एल० एस० शैकल (Prof Fritz Machlup, Gardner Ackley Richard Goodwin and Prof G L S Shacle) आदि विद्वानों ने अपने लेखन कार्यों द्वारा गुणक सिद्धान्त से सम्बन्धित अनेक विवादास्पद समस्याओं का अध्ययन किया।

प्रो० काह्न की व्याख्या—प्रो० काह्न ने रोजगार गुणक का विचार दिया अर्थात् उन्होंने इस बात का पता लगाया कि विनियोग में वृद्धि होने से रोजगार में कितने गुना वृद्धि होती है। प्रो० काह्न के रोजगार गुणक के विचार से प्रो० कीन्स ने आय गुणक का विचार प्राप्त किया अर्थात् प्रारम्भिक निवेश से आय में कितनी गुना वृद्धि होती है। प्रो० कीन्स ने General Theory में निवेश गुणक को k का नाम दिया है और इसको परिभाषित इस तरह किया है: "गुणक हमको बताता है कि जब कुल निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है तो उस वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल आय में वृद्धि होती है जो कुल निवेश में हुई वृद्धि का k गुना होती है।"[1] प्रो० काह्न के रोजगार गुणक को k' द्वारा व्यक्त किया जाता है। यदि निवेश में ΔIw मात्रा से वृद्धि होती है और उसके परिणामस्वरूप निवेश उद्योगों में प्राथमिक रोजगार की मात्रा में ΔN_2 की वृद्धि होती है तो कुल रोजगार की मात्रा में होने वाली वृद्धि ΔN प्राथमिक रोजगार की मात्रा में हुई वृद्धि ΔN_2 का k गुना होगी अर्थात् $\Delta N = K' \Delta N_2$।

K तथा K' के मध्य परस्पर समानता होना जरूरी नहीं है क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि भिन्न उद्योगों में कुल पूर्ति वक्रों के आकार इस प्रकार के होंगे कि रोजगार वृद्धि तथा मांग वृद्धि के मध्य भिन्न उद्योगों में समान अनुपात होगा। निवेश गुणक, जो निवेश में हुए आरम्भिक परिवर्तन तथा इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप आय में हुए कुल परिवर्तन का

1. Let us call k the investment multiplier. It tells us that when there is increment of aggregate investment, income will increase by an amount which is k times of the increment of investment."

"General Theory" p 115. —*Keynes*

अनुपात है अर्थात् $\frac{\Delta Y}{\Delta I}$, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) से इस प्रकार से सम्बन्धित होता है कि MPC जितनी अधिक ऊँची होगी गुणक k उतना ही अधिक ऊँचा होगा इसके विपरीत MPC कम होने पर गुणक भी कम होगा।

गुणक (Multiplier)

गुणक प्रत्यक्ष रूप से सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) द्वारा निर्धारित होता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का अर्थीय मूल्य ज्ञात होने पर गुणक के अर्थीय मूल्य को बीजगणितीय भाषा में निम्नलिखित सूत्र द्वारा ज्ञात कर सकते हैं—

$$k = \frac{1}{1-\frac{\Delta C}{\Delta Y}} \quad \text{अथवा} \quad \frac{1}{1-MPC}$$

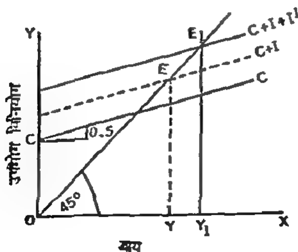
$$\text{चूंकि} \quad \frac{\Delta C}{\Delta Y} = MPC$$

उपर्युक्त समीकरण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुणक का अर्थीय मूल्य एक में से MPC के अर्थीय मूल्य घटाने के बाद प्राप्त शेषफल का उल्टा होता है उदाहरणार्थ यदि

MPC 0.8 है तो गुणक का अर्थीय मूल्य $\frac{1}{1-0.8}$ अथवा $\frac{1}{2}=5$ होगा।

गुणक का आकार सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) द्वारा परिवर्तित होता रहता है। जितनी सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ऊँची होगी गुणक उतना ही अधिक होगा। इसके

गुणक को हम निम्न रेखाचित्र द्वारा भी प्रस्तुत कर सकते हैं—



इसके विपरीत MPC जितनी नीची होगी गुणक उतना ही कम होगा। सिद्धान्त रूप से गुणक का मूल्य हमेशा एक से अनन्त (Infinite) तक हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से गुणक का

मूल्य एक से कम नहीं होगा क्योंकि आय में वृद्धि के साथ उपभोग में वृद्धि अवश्य होती है अर्थात जैसे-जैसे व्यक्ति की आय बढ़ेगी उसके उपभोग का स्तर पहले की अपेक्षा अधिक होगा जिसका आशय यह है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति कभी भी शून्य नहीं होती है व्यवहारिक रूप से देखा जाता है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 1/3 से 9/10 की सीमा के भीतर ही रहती है इसलिए गुणक सामान्यतया 1·5 से 10 के बीच में ही रहता है। प्रो० कीन्स ने गुणक का वास्तविक मूल्य लगभग 3 के बराबर आँका है जो व्यापार चक्र की भिन्न अवस्थाओं के साथ परिवर्तित होता रहता है। कीन्स कहते हैं कि गुणक बहुत अधिक नहीं होता इसलिए अर्थव्यवस्था को मन्दी से उबारने के लिए विनियोग में थोड़ी सी वृद्धि से काम नहीं चलेगा।

उपरोक्त रेखाचित्र में CC उपभोग वक्र दिखाया है जबकि OY अक्ष पर उपभोग तथा विनियोग और OX अक्ष पर आय की मात्रा दिखाई गई है। सभी आय के स्तरों पर हमने MPC को ·5 माना है। YE रेखा सन्तुलन आय स्तर को बताती है। किन्हीं कारणों से यदि विनियोग C+I में बढ़कर C+I+I' हो जाता है तो नया साम्य बिन्दु E_1 प्राप्त होता है अर्थात् E_1Y_1 रेखा नये सन्तुलन आय स्तर को बताती है जो कि पुरानी आय के स्तर से अधिक है अर्थात् YY_1 मात्रा में अधिक है। यह YY_1 मात्रा C+I तथा C+I+I' के बीच की दूरी की दुगनी है। इससे यह बात सामने आती है कि यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 0·5 है गुणक 2 होगा अर्थात विनियोग में आरम्भिक वृद्धि जितनी होगी आय उसकी दुगनी मात्रा में बढ़ेगी।

गुणक को हम सीमान्त बचत प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Save or MPS) द्वारा भी ज्ञात कर सकते हैं। सीमान्त बचत प्रवृत्ति अतिरिक्त आय ΔY तथा अतिरिक्त उपभोग ΔC के अन्तर $\Delta Y - \Delta C$ तथा अतिरिक्त आय का अनुपात होती है। MPS को निम्न सूत्र द्वारा दिखा सकते हैं—

$$MPS \left(\frac{\Delta S}{\Delta Y} \right) = \frac{\Delta Y - \Delta C}{\Delta Y}$$

$$= \frac{\Delta Y}{\Delta Y} - \frac{\Delta C}{\Delta Y}$$

$$= 1 - \frac{\Delta C}{\Delta Y}$$

MPS द्वारा गुणक ज्ञात करने के लिए सामान्यतः यह सूत्र प्रयोग में लाया जाता है

$k = \frac{1}{S}$ अथवा $k = \frac{1}{MPS}$ गुणक तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध होता है कि यदि MPS ऊँची होगी तो गुणक कम होगा और MPS नीची होगी तो गुणक अधिक होगा। उदाहरणार्थ यदि MPS $\frac{1}{S} = 0·2$ है तो गुणक 5 होगा इसके विपरीत यदि MPS 4/5 है अर्थात् 0·8 है तो गुणक 1·25 होगा। इस प्रकार यदि किसी समय हमें सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) पता हो तो गुणक आसानी से ज्ञात किया जा सकता है।

उपरोक्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुणक का अंकीय मूल्य $1 - \frac{\Delta C}{\Delta Y}$ *के अंकीय मूल्य का उल्टा होता है। निम्नलिखित समीकरणों द्वारा यह सिद्ध* किया जा सकता है कि कुल वास्तविक आय कुल उपभोग व्यय तथा कुल निवेश व्यय का योग होती है।

$$Y = C + I \qquad \text{....(1)}$$

उपभोग तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बताती है कि कुल उपभोग तथा कुल आय के मध्य स्थिर सम्बन्ध होता है विशेषतौर पर अल्पकालिन स्थितियों में। यह सम्बन्ध धनात्मक होता है अर्थात् आय में वृद्धि के साथ-साथ उपभोग में भी वृद्धि होती है परन्तु यह इकाई से कम होता है अर्थात् जितनी मात्रा में आय बढ़ती है उतनी मात्रा में उपभोग नहीं बढ़ता उदाहरणार्थ यदि आय में 100 रुपये की वृद्धि होती है तो उपभोग व्यय 100 रुपये से कम होगा। MPC को C द्वारा व्यक्त करने पर कुल उपभोग तथा कुल आय द्वारा निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं—

$$C = CY \qquad \text{.. (2)}$$

समीकरण (1) में C के स्थान पर CY लिखने पर एक नया समीकरण बनता है जो समीकरण नम्बर 3 कहलाता है--

$$Y = CY + I \qquad (3)$$
$$Y - CY = I$$
$$Y(1 - C) = I$$
$$Y = \frac{I}{1 - C}$$

इसमें C का अंकीय मूल्य एक से कम तथा शून्य से अधिक है।

अब हम यह मान लें कि कुल निवेश में ΔI की वृद्धि होती है तो इसके फलस्वरूप कुल आय में समान मात्रा में वृद्धि हो जायगी क्योंकि कुल निवेश आय के दो अंगों में से एक है। इस नई कुल आय को हम Y_1 द्वारा व्यक्त कर सकते हैं इसके लिए निम्नलिखित समीकरण होगा—

$$Y_1 = CY_1 + I + \Delta I \qquad \text{....(4)}$$
$$= \frac{I + \Delta I}{1 - C} \qquad \text{....(5)}$$

यह ज्ञात करने के लिए कि कुल निवेश में ΔI राशि की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में कुल आय में कुल कितनी वृद्धि हुई है हमको नई (अधिक) आय में से पुरानी (कम) आय को घटाना होगा। इसके लिए हम निम्न समीकरण द्वारा लिख सकते हैं—

$$Y_1 - Y = \Delta Y = \frac{I + \Delta I}{1 - C} - \frac{I}{1 - C} \qquad \text{....(6)}$$

$$\triangle Y = \frac{I + \triangle I - I}{1 - C} \quad (7)$$

$$= \frac{\triangle I}{1 - C} \triangle I - \frac{1}{1 - C} \quad (8)$$

उपर्युक्त समीकरणों से यह सिद्ध होता है कि कुल आय में हुई कुल वृद्धि ($\triangle Y$) कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि ($\triangle I$) का $\frac{1}{1-C}$ गुना होती है परन्तु $\frac{1}{1-C}$ गुणक (k) है। इस प्रकार कुल आय में हुई वृद्धि कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि का गुणक गुना होती है अर्थात् $\triangle Y = \triangle Ik$

$$= \frac{\Delta Y}{\Delta I} = k$$

उपर्युक्त निष्कर्ष के सम्बन्ध में केवल एक ही मान्यता है और वह यह कि उपभोग (C) अथवा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) का अंकीय मूल्य धनात्मक तथा इकाई से कम (एक से कम) होता है।

गुणक क्रिया (Multiplier Function)

कुल आय में वृद्धि जो कुल निवेश में हुई प्रारम्भिक वृद्धि का गुणक गुना होती है हम किस प्रकार प्राप्त करते हैं इसके लिए हम गुणक को दो प्रकार से व्यक्त करते हैं।

(1) एककालिक गुणक (Simultaneous Multiplier)

(2) अवधि गुणक (Period Multiplier)

(1) **एककालिक गुणक** (Simultaneous Multiplier)—एककालिक गुणक की व्याख्या इस मान्यता पर आधारित है कि कुल निवेश, कुल उपभोग तथा कुल आय में एक साथ परिवर्तन होते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कुल आय तथा कुल निवेश में एक ही काल में परिवर्तन होते हैं। कुल आय = कुल उपभोग + कुल विनियोग होता है अर्थात्

$$Y = C + I$$

वास्तविक बचत और वास्तविक निवेश बराबर होते हैं और इस कारण कुल निवेश में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप कुल वास्तविक बचत में भी वृद्धि होनी चाहिए। अर्थव्यवस्था में कुल बचत राशि कुल आय राशि तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति (MPS) द्वारा निर्धारित होती है। इस कारण अधिक वास्तविक बचत राशि को प्राप्त करने के लिए कुल वास्तविक आय में इतनी वृद्धि होना अनिवार्य है कि सीमान्त बचत प्रवृत्ति के स्थिर रहते हुए कुल बचत में कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि ($\triangle I$) के समान मात्रा में वृद्धि हो सके। इसी बात को एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है माना कि सीमान्त बचत प्रवृत्ति 0 25 है अर्थात् सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) 0 75 है। यदि कुल निवेश में एक करोड़ रुपये की वृद्धि होती है तो समस्त आय में 4 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी क्योंकि

$k = \frac{1}{1 - MPC}$ or $\frac{1}{MPS}$ $k = \frac{1}{25} = 4$ गुना अर्थात् 4 करोड़ (MPS द्वारा)

अथवा $k = \frac{1}{1-MPC} = \frac{1}{1-75} = \frac{1}{25} = 4$ गुना अर्थात् 4 करोड रुपय।

आय इससे कम वृद्धि होने पर समस्त बचत मात्रा म एक करोड रुपय की वृद्धि नहीं होगी। इस प्रकार यदि MPC अथवा MPS किसी एक अवधि म ज्ञात है तो सन्तुलन आय का ज्ञात किया जा सकता है जो कुल निवेश म किसी दी हुई राशि की वृद्धि क परिणामस्वरूप प्राप्त होगी।

एककालिक गुणक सिद्धान्त की आलोचनायें
(Criticism of Simultaneous Multiplier Principle)

एककालिक गुणक सिद्धान्त की व्याख्या भी अर्थशास्त्र क अन्य सिद्धान्ता की तरह आलोचनाओ म मुक्त नहीं है। इस विश्लेषण की आलोचनाएँ निम्न तथ्यो के आधार पर की जाती है—

(1) आलोचको का कहना है कि कुल निवेश तथा कुल उपभोग म एक साथ परिवर्तन नहीं होत। वास्तविकता यह है कि जब कुल निवेश म वृद्धि होती है तो इससे लोगो की कुल आय म वृद्धि होने क परिणामस्वरूप उपभोग की मात्रा म वृद्धि होन म थोडा समयान्तर देखन को मिलता है। यदि हम यह मान भी लें कि दोनो म अर्थात् निवेश तथा उपभोग म समान्तर नहीं है तो भी उपभोग वस्तु उद्योग का विकास एक साथ सम्भव नहीं होता अर्थात् आय मे साथ वृद्धि होन पर उपभोक्ता वस्तुओ की उपलब्धि म थोडा समय लगता है।

(2) एककालिक विश्लेषण स्थिर विश्लेषण है क्योकि यह उस भाग का अध्ययन नहीं करता जिससे एक स तुलन आय दूसरी सन्तुलन आय को प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध म प्रो० हबरलर (Prof Haberler) का कहना है कि प्रो० कीन्स का गुणक सिद्धान्त सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) का दूसरा नाम मात्र ही है और कुछ नहीं। इसी प्रकार प्रो० हाट (Prof Hart) न कीन्स क गुणक क विचार को गाडी के पाँचवे पहिए की सज्ञा दी है अर्थात् इसे अनावश्यक बताया है।

II अवधि गुणक (*Period Multiplier*)—*अवधि गुणक का विचार* इस मान्यता पर आधारित है कि कुल निवेश म वृद्धि द्वारा कुल आय तथा कुल उपभोग वृद्धि होनी तो अवश्य है परन्तु इसम कुछ समय लगता है। इसी बात को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि किसी दी हुई समयावधि (t) म होन वाला उपभोग व्यय (ct) अन्य बातें समान रहन पर पूर्ववर्ती समयावधि (t1) म प्राप्त आय Yt—1 द्वारा निर्धारित होता है अर्थात्

$$Ct = f(Yt-1)$$

किसी प्रथम समयावधि की कुल आय दूसरा समयावधि म कुल उपभोग को निर्धारित करती है। अवधि गुणक निम्नलिखित मान्यताओ पर आधारित है जैसे—

(1) कुल निवेश म केवल एक बार वृद्धि होती है।

(2) कुल निवेश म जो आरम्भिक वृद्धि होती है वह आन वाली (पश्चावर्ती) समयावधियो मे निरन्तर होती रहती है।

(3) कुल निवेश म जो वृद्धि होती है वह कुल निवेश के उस भाग से सम्बद्ध होता है जिसे स्वायत्त निवेश कहते है।

प्रथम स्थिति जिसम कुल निवेश म केवल एक बार अथवा एक समयावधि म वृद्धि होती है। यह वृद्धि प्रारम्भिक समयावधि I स लेकर अन्तिम समयावधि t तक अनन्

समयावधियों में होगी। कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि तथा गुणक के गुणनफल के बराबर होगी। दूसरी स्थिति का आशय यह है कि समयावधि t में सन्तुलन आय निवेश में वृद्धि होने के पूर्व समयावधि में आय के स्तर को प्राप्त हो जायेगी। इसी बात को हम एक उदाहरण एवं तालिका द्वारा दिखा सकते हैं। माना कि किसी समय सीमांत उपभोग प्रवृत्ति (MPC) 0 75 है और आरम्भिक निवेश 100 करोड रुपए है तो गुणक 4 होने पर t समयावधि बाद कुल आय में 400 रुपए की राशि की वृद्धि हो जायेगी।

तालिका

आरम्भिक निवेश वृद्धि का उपभोग तथा आय पर प्रभाव

(करोड रुपये में)

समयावधि	कुल निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि	कुल उपभोग में हुई वृद्धि $\frac{\Delta C}{\Delta Y}=0.75$	प्रत्येक अवधि में कुल आय (ΔY) में वृद्धि	कुल आय में हुई सचीय वृद्धि
1	100 करोड रुपये	0	100	100
2	" "	75	75	175
3	" "	56 35	56 25	231·25
4	" "	42 19	42 19	273 44
5	" "	31 65	31 65	305 09
6	" "	23 73	23 73	328 82
7	" "	17 79	17·19	346 61

उपर्युक्त तालिका वर्णित स्थिति में यह मान्यता मानी गई है कि कुल निवेश में आरम्भिक वृद्धि केवल एक बार आरम्भिक अवधि में होती है तथा उसको पश्चावर्ती अवधियों में दुहराया नहीं जाता। परन्तु यदि स्वायत्त निवेश (Autonomous Investment) समयावधि (t) ΔI राशि की वृद्धि जारी रखी जाए तो अन्त में t समयावधि में समस्त आय में निवेश में हुई वृद्धि के गुणक (k) गुना वृद्धि होगी। विभिन्न अवधियों में आय वृद्धि की प्रक्रिया उस समय तक विद्यमान रहेगी जब तक t समयावधि के अन्त में कुल वृद्धि होती है वह निवेश वृद्धि गुणक के समान (100 × 4=400 करोड रुपये) होगी।

एककालिक तथा अवधि गुणक में अवधि गुणक महत्वपूर्ण विचारा जाता है क्योंकि यह हमारा ध्यान निवेश तथा उपभोग के मध्य उपस्थित उस परस्पर सम्बन्ध की ओर केन्द्रित करता है जो अर्थव्यवस्था में अनेक व्यक्तियों के व्यवहार तथा निर्णयों का परिणाम होते हैं। यह हमें उन शक्तियों के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्रदान कराता है जो निवेश व्यय में वृद्धि होने के समय अर्थव्यवस्था में सक्रिय रूप में उपस्थित रहती हैं।

गुणक में सामयिक परिवर्तन—गुणक में होने वाले परिवर्तन सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) में परिवर्तनों से सम्बद्ध होते हैं। दीर्घकाल में उपभोग तथा आय के मध्य आनुपातिक सम्बन्ध पाया जाता है जबकि अल्पकाल में ऐसा नहीं होता है। व्यापार चक्र काल में कुल आय में वृद्धि तथा गिरावट के साथ उपभोग में समानुपात में वृद्धि तथा गिरावट न होने के कारण सीमांत उपभोग प्रवृत्ति (MPC) में भी परिवर्तन होते रहते हैं। व्यापार चक्र की चेतना तथा अभिवृद्धि की अवस्थाओं में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में गिरावट होने के कारण गुणक में भी गिरावट आ जाती है। मन्दन की अवस्था में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती

हुई होने के कारण गुणक में भी वृद्धि हो जाती है तथा आरम्भिक मंदी प्रचण्ड मंदी का रूप धारण कर लेती है।

गुणक के प्रभाव में क्षति (Leakages in Multiplier Effect)

अभी तक हमने देखा कि जब समुदाय को नई आय प्राप्त होती है वह सारा की सारी उपभोग व्यय के लिए व्यय नहीं की जाती है। उसका एक भाग बचा लिया जाता है अर्थात् उपभोग नहीं किया जाता है इसी को क्षति (Leakage) की संज्ञा दी जाती है। इस क्षति का प्रभाव यह होता है कि यह राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि को सीमित करता है। यदि सम्पूर्ण आय जो अर्जित की जाती है उसका उपभोग कर लिया जाय अथवा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) इकाई के बराबर है तो निवेश में थोड़ी मात्रा में वृद्धि पूर्ण रोजगार लाने में सफल हो सकती है और उसके बाद स्फीतिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जायेंगी। व्यवहारिक रूप से यह देखा जाता है कि समस्त आय उपभोग नहीं की जाती अर्थात् MPC इकाई से कम होती है जिसके परिणामस्वरूप प्रारम्भिक निवेश से होने वाली आय में वृद्धि लगातार गिरती जाती है और अंत में कुल आय में वृद्धि की दर सीमित हो रहती है। गुणक की क्षति निम्न रूपों द्वारा हो सकती है

(i) **आयात तथा निर्यात (Import and Expert)**—आयात अधिक करने से गुणक में कमी आती है जबकि निर्यात अधिक होने से गुणक में वृद्धि होती है। ऐसा प्राय अल्पकाल में होता है। दीर्घकाल में ऐसा होता है कि आयातों में वृद्धि के परिणामस्वरूप निर्यातक देशों की आय बढ़ जाती है और इस बढ़ी हुई आय का उपयोग धीरे धीरे आयात करने वाले देशों की वस्तुओं की माँग बढ़ाता है और जिसका आयात करने वाले देश की आय पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसका प्रभाव तब सीमित हो जाएगा जबकि निर्यातक देश अपने यहाँ विदेश से होने वाले आयातों को सीमित कर दे या उस पर रोक लगा दे।

(ii) **कीमत स्फीति (Price Inflation)**—जिस समय तक देश में उत्पादक साधन बेरोजगार रहेंगे उस समय तक निवेशों में जो भी वृद्धि होगी उससे अर्थव्यवस्था का विस्तार होगा और यह प्रवृत्ति उस समय तक लागू रहेगी जब तक पूर्ण रोजगार का बिन्दु प्राप्त नहीं कर लिया जाता। जैसे ही पूर्ण रोजगार का बिन्दु या उसके निकट की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी वैसे ही नये निवेशों की कीमत बढ़ेगा साथ ही उत्पत्ति के साधनों की लागतें भी बढ़ जायेंगी क्योंकि उत्पत्ति के साधनों की कमी आ जाएगी अथवा उपलब्ध नहीं होंगे और उपभोक्ता तथा विनियोग उद्योगों दोनों में ही इन साधनों की माँग बढ़ेगी और उनकी कीमत बढ़ेगी। इस प्रकार बढ़ी हुई आय का एक भाग उपभोग आय तथा रोजगार बढ़ाने के स्थान पर कीमतों को बढ़ाने में व्यय हो जायगा। इस प्रकार कीमत स्फीति का चक्र बना रहेगा। ऐसी स्थिति में गुणक गिरेगा क्योंकि कीमतों में वृद्धि वास्तविक कुल उपभोग को बढ़ने नहीं देगा।

(iii) **पुराने ऋणों की अदायगी (Payment of Old Loans)**—कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि उपभोक्ता को नई आय प्राप्त होती है उसका एक हिस्सा वह बैंकों या व्यक्तिगत फर्मों से लिए गए पुराने ऋणों को चुकाने में चला जाता है और उपभोग की स्थिति में गिरावट आने से गुणक में भी गिरावट आती है।

(iv) **सीमान्त बचत प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Saving)**—सीमान्त बचत प्रवृत्ति ऊँची होने पर गुणक में गिरावट आती है। ऐसा प्राय उस समय देखने को मिलता है जब लोगों में तरलता पसन्दगी ऊँची होती है और लोग नकद कोषों को अपने पास रखना अधिक अच्छा समझते हैं।

(v) वित्तीय विनियोग (Financial Investment)—जब नई आय का उपभोग उपभोक्ता वस्तुओं पर न करके प्रतिभूतियों तथा बाण्डों (Securities and Bonds) पर अथवा पुराने स्टॉकों को खरीदने में व्यय किया जाता है तो इससे उपभोग के स्तर में गिरावट आती है और गुणक भी गिरता है।

गुणक की आलोचना (Criticism of Multiplier)

गुणक सिद्धान्त की विशेष तौर पर प्रो० कीन्स के गुणक विचार की विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा कड़ी आलोचना की गई है। प्रो० हैबरलर (Prof. Haberler) ने अपने एक लेख 'Mr Keynes Theory of Multiplier : A Methodological Criticism" (1936 में प्रकाशित) कीन्स के गुणक सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि यह पूर्व घोषित सत्य की परिभाषा करना है। यह (गुणक) एक सन्तुलन से दूसरे सन्तुलन अथवा इन दोनों के बीच सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) की व्याख्या नहीं करता यह तोय हुले कही हुई बातों का कथन मात्र है। यदि गुणक के विचार को एक विशेष समय में राष्ट्रीय आय के आकलन के लिए प्रयोग में लाया जाय तो यह सम्भव होना चाहिए कि विभिन्न समयों में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति या सीमान्त बचत प्रवृत्ति के स्वभाव से सम्बन्धित उचित परिकल्पनाएँ मानी जाएँ, यदि ऐसा नहीं है तो गुणक का कोई महत्व नहीं होगा। गुणक कोई स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नहीं किया जाता। गुणक के मूल्य को ज्ञात करने के लिए हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि कुल कितनी आय गुणक द्वारा सृजित की गई है तब हमें इसे निवेश से भाग देना होगा। प्रो० हैबरलर कहते हैं कि यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि विनियोग में वृद्धि (ΔI) इतनी गुना गुणक है जो कुल आय में परिवर्तन के बराबर होना चाहिए। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि

$\Delta I \times \dfrac{\Delta Y}{\Delta I} = \Delta Y$। कीन्स के गुणक विचार को पूर्ववर्ती कथन की आलोचना से यदि हमें मुक्त करना है तो हमें अल्पकाल में सीमान्त उपभोग तथा सीमान्त बचत प्रवृत्तियों के सामान्य व्यवहार की व्याख्या करनी होगी।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि प्रो० ए० जी० हार्ट (Prof. A. G. Hart) ने कीन्स के गुणक विचार को गाड़ी के पाँचवें पहिये की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त प्रो० हेनरी हैज़लिट (Prof. Henry Hazlitt) का कहना है कि यह कीन्सवादी प्रणाली का ऐसा विचित्र विचार है जिसको कीन्स समर्थकों द्वारा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है जो एक कोरी कल्पना है। ऐसा कोई कारण नहीं है जो यह सोचने पर मजबूर करे कि गुणक नाम की भी कोई चीज है। वे कहते हैं कि सामाजिक आय, उपभोग, विनियोग तथा रोजगार की मात्रा के बीच न तो कोई संक्षिप्त, पूर्व निर्धारित और स्वचालित सम्बन्ध होता है। वे आगे कहते हैं कि गुणक का विचार अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी होने की कल्पना करता है। वे कहते हैं कि कीन्स का यह सोचना कि बेरोजगारी एक सामान्य घटना है और पूर्ण रोजगार एक विशेष घटना है, भ्रामक विचार है। कीन्स की गुणक सम्बन्धी यह भी मान्यता त्रुटिपूर्ण है कि समुदाय की आय को एक भाग का उपभोग नहीं किया जाता और उसको संचित कर लिया जाता है और इसके किसी भाग का विनियोग नहीं किया जाता। परन्तु उनका यह विचार पहले कहे हुए बचत के इस विचार से मेल नहीं खाता कि बचत एवं विनियोग बराबर ही नहीं होते वरन् समरूप (Identical) होते हैं। बचत एवं विनियोग तभी समान हो सकते हैं जबकि उपभोग पर न खर्च किया हुआ धन विनियोजित कर दिया जाए। वे कहते हैं कि गुणक का विचार बचत तथा विनियोग की असमानता सम्बन्धी समस्या की ओर संकेत करता है।

किया जाता। गुणक अनैच्छिक बेरोजगारी की मान्यता मानकर चलता है अर्थात मजदूरों या व्यवसायी जनसंख्या को प्रचलित मजदूरी की दरों पर काम उपलब्ध नहीं होता। अनैच्छिक बेरोजगारी के होने पर विनियोग में वृद्धि करने से रोजगार उत्पादन तथा आय बढ़ने की सम्भावनाएं आती रहती हैं। यदि अनैच्छिक बेरोजगारी व्याप्त है तो थोड़ी-सी धनराशि का विनियोग करने से वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग बढ़ती है फलस्वरूप रोजगार का स्तर भी बढ़ता है।

एक अर्द्ध विकसित देश में अनैच्छिक बेरोजगारी बहुत थोड़ी मात्रा में पायी जाती है। जो भी बेरोजगारी पायी जाती है वह छिपी हुई बेरोजगारी (Disguised Unemployment) होती है। अधिकतर लोग या तो खेती के काम में या किन्हीं घरेलू उद्योगों या कार्यों में लगे रहते हैं और इनकी संख्या इन कार्यों में इनकी मांग से अधिक है। उन्हें इन कार्यों में जो कुछ वेतन या मजदूरी के रूप में प्राप्त होती है वह उन्हें उतनी ही सन्तुष्टि प्रदान करता है जितना कि उन्हें प्रचलित मजदूरी प्राप्त होती। अधिक मजदूरी का प्रलोभन ही उन्हें वर्तमान काम से विमुख कर सकता है दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि प्रचलित मजदूरी पर अतिरिक्त श्रम की पूर्ति नहीं होता है। इस प्रकार अर्द्ध विकसित देश में व्यावहारिक स्थिति यह है कि अनैच्छिक बेरोजगारी की उपलब्धि न होने के कारण गुणक अधिक प्रभावी नहीं होता। भारत जैसे देश में संयुक्त परिवार प्रणाली तथा अल्प बेरोजगारी तथा मौसमी बेरोजगारी आदि के कारण भी गुणक का महत्व अधिक नहीं है। इसके अलावा गुणक सिद्धान्त की एक अन्य मान्यता है कि उत्पादन अच्छी मात्रा में लोचपूर्ण होता है। अर्द्ध विकसित देशों में विकसित देशों की अपेक्षा उत्पादन में लोचता नहीं पायी जाती। अर्द्ध विकसित देशों में कुल उत्पादन का एक बड़ा भाग कृषि क्षेत्र में प्राप्त होता है और कृषि क्षेत्र में उत्पादन तुलनात्मक दृष्टि से बेलोचदार होता है। दूसरी ओर औद्योगिक क्षेत्र में कुशल मजदूरों, पूंजी, कच्चा माल आदि अन्य पूरक कारणों के द्वारा उत्पादन में बेलोचता दिखाई देती है। अर्द्ध विकसित देशों में श्रमशक्ति की बहुलता का उपयोग उत्पादन को बढ़ाने में उपयुक्त कारणों के द्वारा सीमित होता है और गुणक का प्रभाव मौद्रिक आय के क्षेत्र में दिखाई देता है वास्तविक आय और रोजगार के क्षेत्र में नहीं। इसकी तुलना में एक विकसित देश में उत्पादन लोचपूर्ण होता है। मंदी काल में श्रम क्षेत्र में बेरोजगारी ही नहीं दिखाई देती परन्तु अन्य पूरक साधनों की भी कमी रहती है। ऐसी दशा में मांग में थोड़ी वृद्धि होने से (अतिरिक्त विनियोग के कारण) उत्पादन की मात्रा बढ़ती है और आय में वृद्धि वास्तविक आय में वृद्धि करती है। जैसे जैसे अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की ओर उन्मुख होती है वास्तविक आय और मौद्रिक आय में अन्तर बढ़ता जाता है जैसे ही पूर्ण रोजगार के बिन्दु की प्राप्ति हो जाती है गुणक प्रभाव की स्थिति विकसित देशों में भी अर्द्ध-विकसित देशों की तरह हो जाती है।

निष्कर्ष – गुणक सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। विश्वव्यापी तीसरे दशक की मन्दी के समय सार्वजनिक निर्माण कार्यों के पक्ष में प्रस्तुत तर्क गुणक पर आधारित थे। सन् 1934 ई० में अमरीका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने न्यू डील योजना की घोषणा की थी वह भी गुणक पर आधारित थी। उस समय 300 मिलियन डालर राशि के प्रति माह व्यय करने से कुल राष्ट्रीय आय में चार गुना वृद्धि गुणक प्रभाव के कारण हो सकने की उम्मीद थी।

गुणक का व्यावहारिक महत्व भी होता है। गुणक हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करता है कि विनियोग में हुई आरम्भिक वृद्धि कुल आय में कुल विनियोग की तुलना से अधिक होती है। गुणक के प्रभाव के कारण अर्थव्यवस्था में आर्थिक नीतियों के निर्माताओं को काफी सहायता मिलती है। गुणक उनके लिए मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है। मंदी के समय अर्थव्यवस्था को इससे उबारने में मदद मिलती है। मंदी में विनियोग राशि में वृद्धि करना अर्थव्यवस्था के लिए लाभदायक होता है।

गुणक सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि यह स्थिर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति की मान्यता पर आधारित है। इसके अलावा गुणक प्रेरित निवेश की ओर ध्यान नहीं देता। गुणक सिद्धान्त स्वायत्त निवेश में हुई वृद्धि के फलस्वरूप केवल उपभोग व्यय में वृद्धि पर ध्यान केन्द्रित करता है। वास्तविकता यह है कि उपभोग व्यय में वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रेरित निवेश में जो वृद्धि होती है उसकी उपेक्षा करता है। कुल मिलाकर गुणक सिद्धान्त का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्व होता है। अन्य सिद्धान्तों की भाँति यह विचार भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है।

परीक्षा प्रश्न

1. गुणक से आप क्या समझते हैं? इसकी आलोचनाओं को बताइए।

   (*What do you understand by Multiplier? Discuss its criticisms.*)

2. आर्थिक विश्लेषण तथा आर्थिक नीति में गुणक के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

   (Explain the importance of Multiplier in economic analysis and economic policy.)

3. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि कीन्स का गुणक एक अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्था वाले देश में लागू नहीं होता।

   (Do you agree with this view that Keynes Multiplier does not operate in an under developed economy?)

4. **टिप्पणी लिखिए—**

   (i) एककालिक तथा अवधि गुणक

   (ii) गुणक के प्रभाव में क्षति

   Write notes on

   (i) Simultaneous and Period Multiplier

   (ii) Leakages in Multiplier Effect

5. **वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)**

   निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही और कौन गलत है।

   (i) गुणक वह अनुपात है जो विनियोग में परिवर्तन द्वारा आय में परिवर्तन को बताता है।

   (ii) गुणक का अधिकतम मूल्य एक में से MPC के अधिकतम मूल्य घटाने से प्राप्त होता है।

   (iii) गुणक को MPC तथा MPS दोनों के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

   (iv) गुणक अर्द्ध विकसित देश में पूर्णरूप से लागू होता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) सही है। (iii) सही है। (iv) गलत है।

any increase in final demand will give rise to an additional demand for capital goods several times larger than that new final demand

—*F A Von Hayek*

The acceleration principle serves as useful tool for business cycle analysis and as a helpful guide to business cycle policy

—*Kurihara*

अध्याय 11

त्वरक

(ACCELERATOR)

त्वरक के विषय में चर्चा हालांकि कीन्स से पहले तथा बाद में काफी हो गई है परन्तु कीन्स ने अपनी पुस्तक General Theory में त्वरक सिद्धान्त की यदाकदा चर्चा की है। सबसे पहले त्वरक सिद्धान्त की व्याख्या का सम्बन्ध प्रो० जे० एम० क्लार्क (Prof J M Clark)[1] से जोड़ा जाता है प्रो० क्लार्क ने ही त्वरक विचार को महत्त्व दिया। अर्थशास्त्रियों की रुचि इस सिद्धान्त में और तब जागृत हुई जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि त्वरक सिद्धान्त का कीन्स के उपभोग क्रिया के साथ अध्ययन करने पर यह सिद्धान्त एक स्व-जनित चक्रीय प्रक्रिया के घटित होने की व्याख्या कर सकता है। प्रो० क्लार्क के बाद त्वरक सिद्धान्त को विकसित और परिष्कृत करने में कुछ अर्थशास्त्रियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जैसे हैरॉड हिक्स हेयक हैन्सन हैबरलर गुडविन कुजनेट्स किवका कालडार फ्रिश फेलनर मैथ्यूज रॉबर्टसन तथा सैम्युलसन आदि।

त्वरक का अर्थ (*Meaning of Accelerator*)

गुणक स्वायत्त निवेश में हुई वृद्धि के परिणामस्वरूप उपभोग व्यय में वृद्धि के माध्यम द्वारा समस्त आय में हुई वृद्धि का वर्णन करता है जबकि त्वरक सिद्धान्त कुल उपभोग में वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल निवेश में होने वाली वृद्धि की व्याख्या करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वायत्त निवेश में आरम्भिक वृद्धि होने से समस्त आय में हुई कुल वृद्धि को ज्ञात करने के लिए गुणक तथा त्वरक के सम्मिलित प्रभावों को ज्ञात करना आवश्यक है क्योंकि आय में हुई वृद्धि गुणक व त्वरक का सम्मिलित परिणाम होता है।

---

1 जॉन मॉरिस क्लार्क ने सन् 1917 में Journal of Political Economy नामक पत्रिका में अपने लेख द्वारा व्यापार चक्र की समस्याओं के रूप में त्वरक सिद्धान्त का विश्लेषण किया था। सन् 1934 में प्रो० रेगनर फ्रिश ने अपने एक लेख में त्वरक की सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला। प्रो० हिक्स ने व्यापार चक्र गुणक तथा त्वरक की संयुक्त कार्यवाही का फलन बनाकर त्वरक सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

इन दोनों के अध्ययन को एक साथ करने का लाभ यह है कि हम यह मालूम होता है कि स्वायत्त निवेश में हुई आरम्भिक वृद्धि अथवा कमी होने के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रभाव होते हैं।

त्वरक सिद्धान्त निवेश पर कुल उपभोग व्यय में हुए परिवर्तनों के प्रभाव की व्याख्या करता है। त्वरक प्रेरित तथा उपभोग निवेश की व्याख्या करता है तथा बताता है कि वह निवेश जिसके परिणामस्वरूप गुणक क्रियाशील होता है स्वायत्त अथवा उपभोग निर्धारित निवेश होता है। त्वरक तथा गुणक की सम्मिलित क्रियाओं को हम निम्न रूप में समझ सकते हैं—

स्वायत्त निवेश में → कुल आय में → कुल उपभोग में → प्रेरित निवेश में
वृद्धि ΔIa → वृद्धि ΔY → वृद्धि ΔC → वृद्धि ΔIp

त्वरक सिद्धान्त बताता है कि अर्थव्यवस्था में कुल निवेश का वह भाग अर्थात् प्रेरित निवेश उपभोग वस्तुओं की माँग में होने वाले परिवर्तन को बताता है। प्रो० वान हेयक ने त्वरक की व्याख्या इस प्रकार की है "साधारणतया किसी दी हुई अन्तावधि में उपभोग वस्तुओं की किसी दी हुई मात्रा का उत्पादन करने के लिए कई गुना अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ने के कारण उपभोग वस्तुओं की माँग में किसी दी हुई मात्रा में वृद्धि होने के फलस्वरूप पूँजी वस्तुओं की माँग में नई उपभोग माँग की तुलना में कई गुना वृद्धि होगी।"[1]

त्वरक तथा गुणक में अन्तर

जैसा कि हम जानते हैं गुणक विनियोग में परिवर्तन के परिणामस्वरूप आय तथा रोजगार की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों को बताता है जबकि त्वरक उपभोग में परिवर्तन द्वारा विनियोग पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या करता है। गुणक सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर रहता है जबकि त्वरक मशीनों तथा औजारों के टिकाऊपन पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि गुणक मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर तथा त्वरक तकनीकी तत्त्वों पर निर्भर करता है। वास्तव में देखा जाय तो यह अन्तर केवल सैद्धान्तिक प्रतीत होता है। त्वरक भी अपने मौलिक और आन्तरिक रूप में मनोवैज्ञानिक है परन्तु इस क्रियाशीलता का पक्ष इसे अधिक तकनीकी स्वरूप प्रदान कर देता है। त्वरक के द्वारा हम निवेश पर उपभोग के विकास की गति को दिखाते हैं जबकि गुणक बढ़े हुए निवेश के प्रति उपभोग की प्रतिक्रिया को बताता है। इस प्रकार गुणक और त्वरक दोनों ही विचार धाराओं में अन्तर है।

त्वरक की क्रियाशीलता (Working of Accelerator)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है त्वरक सिद्धान्त मशीनों तथा औजारों के टिकाऊपन तथा पूँजीगत साधनों पर निर्भर करता है। एक उदाहरण और तालिका द्वारा त्वरक सिद्धान्त की क्रियाशीलता को स्पष्ट किया जा सकता है। हम यह मानकर चलते हैं कि 200 करोड़ की अन्तिम वस्तुओं के लिए हम 100 करोड़ पूँजीगत वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है और पूँजीगत वस्तु का जीवन काल 10 वर्ष है और इनमें से 10 प्रतिशत को प्रतिवर्ष पुनर्स्थापित करना पड़ता है।

---

1 F. A. Von Hayek—Profit, Interest and Investment, pp 18

त्वरक तालिका

(करोड रुपयों में)

समयावधि	अन्तिम वस्तुओं का उत्पादन	पूंजीगत वस्तुओं की आवश्यकता	नई पूंजीगत वस्तुओं की आवश्यकता	पुनर्स्थापित	कुल नई पूंजीगत वस्तुओं की आवश्यकता
1	1 000	500	0	50	50
2	1 200	600	100	50	150
3	13 00	650	50	60	110
4	13 00	650	0	65	65
5	12 00	600	—50	65	15
6	11 00	550	—50	60	10
7	1 000	500	—50	55	5
8	900	450	—50	50	0

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि प्रथम समयावधि में 1000 करोड रुपये की निर्मित वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए 500 करोड रुपये के पूंजीगत माल की आवश्यकता होती है चूंकि हम यह पहले ही मान चुके हैं कि प्रत्येक वर्ष 10 प्रतिशत पूंजीगत माल को पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता होती है इसलिए 500 करोड रुपए के पूंजीगत माल में से 50 करोड के पूंजीगत माल अथवा मशीनों की आवश्यकता होगी। दूसरी समयावधि में हम देखते हैं कि अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन की माँग में वृद्धि 1000 से 1200 करोड रुपये यानि 200 करोड रुपए की अतिरिक्त माँग को पूरा करने के लिए हमें 100 करोड रुपये की मशीनों तथा औजारों (पूंजीगत माल) की आवश्यकता होती है। अर्थात् कुल पूंजीगत वस्तुओं की माँग 500 करोड रुपये से बढकर 600 करोड रुपये हो जाती है और कुल नई पूंजीगत वस्तुओं की माँग 50 करोड से बढकर 150 करोड रुपये हो जाती है इसका अर्थ यह है कि दूसरी समयावधि में 20 प्रतिशत उत्पादन बढाने के लिए 200 प्रतिशत पूंजीगत माल की आवश्यकता होती है। तीसरी समयावधि में स्थिति भिन्न हो जाती है अन्तिम वस्तुओं का उत्पादन 100 करोड रुपये से बढता है अर्थात् समयावधि नम्बर दो की अपेक्षा इसमें केवल 8 प्रतिशत की वृद्धि होती है (1200 करोड से बढकर 1300 करोड रुपये) जबकि कुल नई पूंजीगत वस्तुओं की आवश्यकता में 26 67 प्रतिशत की कमी आ जाती है (150 करोड से गिरकर 110 करोड ही रह जाता है) इसका कारण यह है कि अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में पहले जो 200 करोड रुपये की वृद्धि की कुल मात्रा थी वह आगे आने वाली अवधि में जारी नहीं रखी गई। चौथी समयावधि में अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में तीसरी समयावधि के बराबर 1300 करोड रुपये का उत्पादन किया गया है केवल पुनर्स्थापन के अलावा अन्य पूंजीगत माल की आवश्यकता नहीं होगी। इस समयावधि में कुल नवीन पूंजीगत वस्तुओं की आवश्यकता 110 करोड रुपये से घटकर केवल 65 करोड रुपये ही रह जाती है अर्थात् पूंजीगत वस्तु उद्योग में उत्पादन में 40 प्रतिशत से कुछ अधिक की गिरावट आती है। इसी प्रकार अन्य आने वाली समयावधियों में अर्थात् 5, 6, 7 व 8 में समयावधि 4 की अपेक्षा गिरावट आती जाती है और अन्तिम समयावधि अर्थात् समयावधि 8 में समयावधि प्रथम की अपेक्षा 100 करोड की अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में गिरावट आ जाती है और पूंजीगत वस्तुओं के उद्योग का पतन प्रारम्भ हो जाता है।

उपर्युक्त तालिका में एक महत्त्वपूर्ण सामान्य बात यह सामने आती है कि जैसे-जैसे अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे पूँजीगत वस्तु उद्योग में भी प्रगति होती जाती है। जैसे ही अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में गिरावट आती है वैसे ही पूँजीगत वस्तु उद्योग को हानि होती जाती है और गिरावट की दर इसी प्रकार बनी रहे तो फिर पूँजीगत वस्तु उद्योग पतन के कगार पर पहुँच जाता है। इस प्रकार मंदी का युग प्रारम्भ हो जाता है अन्तिम वस्तुओं के उत्पादन में थोड़ी वृद्धि से पूँजीगत वस्तु उद्योग के विस्तार की सम्भावनाएँ बढ़ जाती है। यही विस्तार प्रभाव (Magnifying Effect) आर्थिक उतार चढ़ाव के लिए उत्तरदायी होता है। इस प्रकार त्वरक सिद्धान्त व्यापार चक्र के समय अर्थव्यवस्था में व्याप्त कारणों की शक्तिशाली व्याख्या करता है। त्वरक सिद्धान्त से हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि हम अपनी अर्थव्यवस्था को तेजी से आगे ले जाना है तो हम धीमी गति की अपेक्षा तेजी से अर्थव्यवस्था का कार्य संचालन करना चाहिए। मंदी की स्थिति से निपटने के लिए हम तेजी से अपनी गतिविधियों को बढ़ाना होगा। प्रो० सैम्युलसन (Prof Samuelson) का इस सम्बन्ध में कहना है कि यदि व्यापारिक क्षेत्र में उतार-चढ़ाव होते है तो त्वरक सिद्धान्त इसमें और तेजी लाकर व्यापार चक्रों की क्रियाशीलता बढ़ा देता है। यदि देश में जनसंख्या वृद्धि तथा तकनीकी प्रगति के कारण अर्थव्यवस्था विकसित हो रही है तो त्वरक सिद्धान्त की भूमिका उत्साहवर्द्धक होती है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप पूँजी का व्यापक उपयोग होता है जिससे निवेश माँग में वृद्धि होती है और अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है।

त्वरक सिद्धान्त की शक्ति दो तत्वों पर प्रमुखतः निर्भर करती है (i) पूँजी उत्पादन अनुपात अथवा पूँजी गुणांक (Capital Output Ratio or Capital Coefficient (ii) पूँजीगत साधनों का टिकाऊपन (Durability of the Capital Equipment)। पूँजी-उत्पादन का अनुपात जितना अधिक होगा निवेश की वृद्धि भी उतनी अधिक होगी। उपभोग में वृद्धि होने पर निवेश में कम वृद्धि होगी। इस प्रकार पूँजीगत साधनों का टिकाऊपन या जीवन जितना अधिक होगा त्वरक का मूल्य भी उतना अधिक होगा तथा त्वरक के प्रभाव भी उतने ही अधिक दिखाई देंगे। यदि मशीनों या पूँजीगत साधनों का टिकाऊपन कम है तो त्वरक का मूल्य कम होगा और त्वरक के प्रभाव भी कम होंगे।

त्वरक सिद्धान्त की सीमाएँ (Limitations of Acceleration Principle)

अन्य आर्थिक सिद्धान्तों की भाँति त्वरक सिद्धान्त की भी कुछ सीमाएँ है जो निम्न प्रकार से बताई जा सकती है—

(1) **उपभोक्ता वस्तु उद्योग में अतिरिक्त क्षमता का अभाव**—त्वरक सिद्धान्त उस समय हमारा साथ नहीं देता जबकि उपभोक्ता वस्तु उद्योग में अतिरिक्त क्षमता विद्यमान रहती है क्योंकि ऐसी स्थिति में उपभोक्ता वस्तुओं की माँग बढ़ने पर प्रेरित निवेश को बढ़ावा नहीं मिलेगा क्योंकि इस बढ़ी हुई माँग की पूर्ति उपलब्ध अतिरिक्त उत्पादन क्षमता से पूरा किया जा सकेगा। अतिरिक्त समय तथा अतिरिक्त काम की पारियों (Shifts) द्वारा बढ़ी हुई माँग की पूर्ति की जा सकेगी। ऐसा प्रायः व्यापार चक्र की चेतना अवस्था (Recovery or Revival Phase of Trade Cycle) में दिखाई देता है। उन उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता दिखाई देती है अथवा साहसी ऐसे उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता बनाए रखते हैं जिन उद्योगों की वस्तु की माँग में उच्चावचन अथवा उनके उत्पाद की माँग में परिवर्तन होते रहते है। त्वरक सिद्धान्त की क्रियाशीलता के सम्बन्ध में हम यह मानकर चलते हैं कि अतिरिक्त क्षमता उपलब्ध नहीं है और सभी पूँजीगत साधनों का उपयोग पूर्ण रूप में हो रहा है तथा अतिरिक्त कार्य (Overtime) तथा अतिरिक्त पारियों (Additional Shifts) में काम

करने की सम्भावना नहीं है। इसका आशय यह है कि अतिरिक्त क्षमता के अभाव में ही त्वरक सिद्धान्त कार्य करता है।

(2) **निवेश वस्तु उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता**—एक अन्य सिद्धान्त भी यह है कि निवेश वस्तु उद्योग अथवा पूंजीगत वस्तु उद्योग में अतिरिक्त क्षमता पाई जाती है यदि यह अतिरिक्त क्षमता पूंजीगत माल उद्योग में नहीं हो तो पूंजीगत साधनों (मशीनों) की व्युत्पन्न मांग (Derived Demand) में वृद्धि होने पर उनकी पूर्ति बढ़ाना सम्भव नहीं होगी। यदि यह अतिरिक्त क्षमता पूंजीगत वस्तु उद्योगों में उपलब्ध नहीं होगी तो इनकी मांग बढ़ने पर इनका उत्पादन सम्भव नहीं होगा और इनकी मांग को पूरा करने में कुछ समय लगेगा। इस बीच अर्थात् मांग में वृद्धि हेतु पूर्ति में वृद्धि के बीच के समय में पूंजीगत वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायेंगे और त्वरक सिद्धान्त लागू नहीं होगा।

(3) **मांग का स्वभाव**—त्वरक सिद्धान्त लागू होने की एक शर्त यह है कि उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में होने वाली वृद्धि स्वभाव से स्थाई प्रकृति की हो। यदि ऐसा नहीं होगा तो त्वरक सिद्धान्त लागू नहीं होगा। यदि मांग में होने वाली वृद्धि अस्थाई है तो पूंजी विनियोजक उपभोक्ता वस्तु में होने वाली इस प्रकार की अस्थाई वृद्धि के परिणामस्वरूप पूंजीगत माल को बढ़ाने में रुचि नहीं लेंगे। चूंकि पूंजीगत माल में टिकाऊपन का गुण होता है साथ ही इसके लिए अच्छी धनराशि की आवश्यकता होती है इसलिए वस्तु का निर्माता तब तक इसको खरीदने में रुचि नहीं लेगा जब तक उसे यह विश्वास न हो जाए कि उपभोक्ता वस्तुओं की मांग अल्पकालिक नहीं है। यदि निर्माता यह समझता है कि मांग लगातार बनी रहेगी तभी वह पूंजीगत माल अथवा मशीनों में पूंजी लगायेगा। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि त्वरक सिद्धान्त की क्रियाशीलता तात्कालिक तथ्यों पर ही केवल आधारित नहीं होती वरन् भविष्य में होने वाली लाभ की दर पर भी निर्भर करती है।

(4) **पूंजी उत्पादन का स्थिर अनुपात**—त्वरक सिद्धान्त की एक अन्य मान्यता यह है कि उपभोक्ता वस्तु के उत्पादन तथा उन्हें उत्पादित करने वाले पूंजीगत साधनों के बीच अनुपात स्थिर होता है। वास्तविकता यह है कि यह अनुपात स्थिर नहीं रहता। हमारे गतिशील समाज में उत्पादन के क्षेत्र में नई तकनीकी प्रगति एवं आविष्कारों के कारण पूंजीगत साधन अधिक व्यापक रूप से कार्य करते हैं जिससे कि प्रत्येक पूंजीगत साधन की उत्पादन क्षमता में वृद्धि की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। इसके अलावा भविष्य में व्यापारियों को मजदूरी, ब्याज तथा मांग की सम्भावनाओं के कारण पूंजी—उत्पादन अनुपात में परिवर्तन होते रहते हैं। पूंजी-उत्पादन अनुपात जितना अधिक होगा त्वरक सिद्धान्त भी उतना अधिक प्रभावी होगा।

(5) **साधनों की पूर्ति लोचता**—त्वरक की एक अन्य मान्यता यह है कि साधनों की पूर्ति लोचपूर्ण होना चाहिए। पूंजीगत माल अथवा मशीनों को उत्पादित करने वाले उद्योगों की क्षमता ऐसी हो जिससे कि इनका उत्पादन बढ़ाया जा सके और इनकी आवश्यकता के समय अधिक मशीनों की पूर्ति हो सके। निवेश उद्योगों में प्रसार की क्षमता बनी रहनी चाहिए अर्थात् निवेश उद्योगों में पूर्ण रोजगार की स्थिति न पाई जाए। एक बार जब पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त कर लिया जाए तो फिर ऐसे उद्योगों में किसी भी प्रकार का प्रसार नहीं होना चाहिए। ऐसे उद्योगों में पूर्ण रोजगार का बिन्दु प्राप्त कर लेने के बाद त्वरक सिद्धान्त लागू नहीं होगा।

(6) **साख की लोचपूर्ण पूर्ति**—साख और मुद्रा की लोचपूर्ण पूर्ति त्वरक सिद्धान्त के लागू होने के लिए आवश्यक होती है। जब कभी भी प्रेरित निवेश की स्थिति हो तो मुद्रा तथा साख की पूर्ति निवेश उद्योगों के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए। साख

और मुद्रा की दरें ऊँची होगी तो इससे ब्याज की दर में वृद्धि होगी जिससे कि निवेश की मात्रा घटेगी जो आगे चलकर निवेशों को निरुत्साहित करेंगे। त्वरक के स्वतन्त्र और निर्बाध रूप से कार्य करने के लिए यह जरूरी है कि विनियोग के लिए पर्याप्त धनराशि उपलब्ध होना चाहिए। यदि निवेश हेतु पर्याप्त धनराशि उपलब्ध नहीं होगी तो त्वरक सिद्धान्त सफलतापूर्वक कार्य नहीं करेगा।

(7) **उत्पादन के टिकाऊ साधनों की उपस्थिति**—त्वरक सिद्धान्त की एक अन्य मान्यता यह है कि उत्पादन के टिकाऊ साधनों की उपलब्धता होनी चाहिए। निवेश वस्तुओं में टिकाऊपन का गुण पाए जाने पर ही त्वरक सिद्धान्त लागू होगा।

त्वरक सिद्धान्त का महत्व (Importance of the Principle of Acceleration)

त्वरक सिद्धान्त इतना महत्वपूर्ण है कि इसको अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने मान्यता प्रदान की है। त्वरक सिद्धान्त के महत्व को निम्न तथ्यों से आँका जा सकता है—

(1) **आय संरचना को समझाने में सहायक**—त्वरक सिद्धान्त की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह सिद्धान्त आय सरचना की प्रक्रिया को समझने में हमारी सहायता करता है। गुणक सिद्धान्त हमको बताता है कि जैसे-जैसे निवेश की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे लोगों की आय और रोजगार की मात्रा बढ़ती जाती है परन्तु हमें गुणक सिद्धान्त के परिणामों से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। यदि हम आय पर निवेश की वृद्धि के कुल परिणाम या प्रभाव को जानना चाहते हैं तो हमें त्वरक के प्रभाव पर भी विचार करना चाहिए। आय में वृद्धि होने के परिणाम स्वरूप उपभोग के स्तर में वृद्धि होती है जो अन्तत भावी निवेश को प्रेरणा देती है और इस प्रकार गुणक क्रिया के प्रारम्भ होने से कुल आय में वृद्धि होने के बाद आय सरचना की प्रक्रिया का दूसरा चक्र त्वरक सिद्धान्त की क्रियाशीलता के कारण प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार त्वरक आय सरचना की वास्तविकता को समझाने में बड़ा सहायक होता है।

(2) **व्यापार चक्रों की प्रकृति समझाने में सहायक**—त्वरक की एक विशेषता यह है कि यह व्यापार चक्र की प्रकृति को समझने में सहायक होता है। व्यापार चक्रों के घटित होने पर उपभोग वस्तु उद्योग की अपेक्षा निवेश वस्तु उद्योग म उतार-चढ़ाव की गति तेज होती है। यदि उपभोग वस्तुओं के उद्योगों में जरा सा भी परिवर्तन होगा तो इनमें निवेश वस्तुओं के उद्योगों में भारी परिवर्तन होंगे। इसलिए व्यापार चक्रों की स्थिति में निवेश उद्योगों में भारी परिवर्तन होने से बचाने के लिए प्रयत्न करने चाहिए।

(3) त्वरक सिद्धान्त हमें बताता है कि पूँजीगत वस्तुओं की माँग को एक निर्धारित स्तर पर बनाए रखने के लिए उपभोग को एक निश्चित स्तर पर बनाए रखना जरूरी होता है।

(4) त्वरक सिद्धान्त हमें बताता है कि मंदी के घटित होने का प्रमुख कारण उपभोग म गिरावट का आना होता है। मंदी के समय उपभोग का स्तर काफी गिर जाता है, इसलिए अर्थव्यवस्था से मंदी उबारने के लिए उपभोग के स्तर को ऊँचा उठाने के सभी प्रयास करना चाहिए।

(5) त्वरक सिद्धान्त व्यापार चक्र के विश्लेषणात्मक अध्ययन में अपना महत्व रखता है।

• त्वरक सिद्धान्त यद्यपि महत्वपूर्ण है परन्तु इसकी मान्यताएँ इस सिद्धान्त का किसी प्रत्यक्ष मॉडलों में व्यक्त करने में बाधा उपस्थित करती हैं। त्वरक सिद्धान्त की कुछ मान्यताएँ जैसे अतिरिक्त क्षमता का अभाव, माँग म अस्थाई वृद्धि पूँजीगत वस्तुओं के प्रति उपभोक्ता वस्तुओं का निश्चित अनुपात, निरन्तर बदलाव की माँग आदि हमारे वास्तविक [illegible] नहीं देती। यदि हम वास्तविक मान्यताओं के आधार पर [illegible]

है जो निवेश वृद्धि के फलस्वरूप होने वाली आय वृद्धि के लिए उत्तरदायी होती है जबकि त्वरक सिद्धान्त बताता है कि उपभोग मे परिवर्तन किस प्रकार विनियोगो मे परिवर्तन लाते हैं। यदि हमे आय संरचना प्रक्रिया का पूरा चित्र देखना है तो हमे गुणक तथा त्वरक दोनो ही के प्रभावो को देखना होगा।

गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया के प्रभावो का अध्ययन उपयोगी ही नही वरन् रोचक भी है। प्रारम्भिक निवेश के राष्ट्रीय आय पर पडने वाले प्रभावो को देखने एव उनको नापने के लिए हमे गुणक तथा त्वरक दोनो सिद्धान्तो को मिला देना चाहिए। निवेश मे होने वाला परिवर्तन राष्ट्रीय आय को पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित करता है जिससे उपभोग का स्तर भी परिवर्तित हो जाता है। उपभोग मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप निवेश परिवर्तित होता है इस प्रकार कारण तथा परिणाम के सम्बन्धो का एक चक्र पूरा हो जाता है। निवेश आय तथा आय पुन निवेश को प्रभावित करती है और जिससे गुणक तथा त्वरक क्रिया प्रति क्रिया द्वारा आय मे उच्चावचन जो होते हैं उसे निम्न तालिका द्वारा दिखा सकते है

तालिका (करोड रुपयो मे)

समयावधि (Period)	स्वायत्त निवेश (Autonomous Investment)	उपभोग मे वृद्धि (Increase in consumption) $\Delta c/\Delta y = 0\ 5$	प्रेरित निवेश (Induced Investment) $\Delta k/\Delta y = \alpha = 2$	आय मे कुल वृद्धि 2+3+4
1	2	3	4	5
0	0	0	0	0
1	100	0	0	100
2	100	50	100	150
3	100	125	150	375
4	100	187 5	125	412 5

नोट—अवधि नम्बर तीन के प्रेरित निवेश जानने के लिए तो अवधि नम्बर 2 की उपभोग प्रवृत्ति को अवधि नम्बर 3 की उपभोग प्रवृत्ति मे से घटा देना चाहिए। (125—50=75) जो कुछ आयेगा उसे 2 से गुणा करने पर अवधि नम्बर 3 का प्रेरित निवेश मालूम किया जा सकता है (75×2=150) इसी प्रकार से अन्य समयावधियों के प्रेरित निवेश को ज्ञात किया जा सकता है। आय मे कुल वृद्धि को Column नम्बर 2+3+4 के योग द्वारा मालूम किया जा सकता है। याद रहे स्वायत्त निवेश अपरिवर्तित रहेगा। उपरोक्त सारणी मे MPC = $\frac{1}{2}$ = 0 5 तथा त्वरक सह-गुणांक (Coefficient) = 2 माना है।

उपर्युक्त सारणी मे 100 करोड रुपये का स्वायत्त निवेश आने वाले समय मे जुड जाता है जो आगे के समयावधियो मे निरन्तर बना रहता है। प्रथम समयावधि मे 100 करोड रुपये का स्वायत्त निवेश 100 करोड रुपये द्वारा बढ जाता है और इस काल मे उपभोग मे वृद्धि शून्य दिखाई गई है। इस निवेश वृद्धि का परिणाम दूसरी समयावधि मे उपभोग मे वृद्धि 50 करोड रुपये की लाता है क्योकि MPC = 0 5 अथवा 1/2 है। त्वरक का मूल्य 2 होने के कारण दूसरी समयावधि मे प्रेरित निवेश 100 करोड हो जाएगा और कुल आय मे वृद्धि 150 करोड रुपये होगी। इसी प्रकार तीसरी समयावधि मे 150 करोड प्रेरित निवेश कुल आय मे 375 करोड रुपये की वृद्धि करता है। आगे आने वाली समयावधियो मे भी इसी प्रकार आय मे होने वाले परिवर्तन निर्धारित किए जाते है।

परस्पर क्रिया का महत्त्व (Importance of the Interaction)

गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया का विचार भी काफी महत्त्वपूर्ण है। गुणक तथा त्वरक सिद्धान्त की परस्पर क्रियाओं द्वारा व्यापार चक्र का निरूपणात्मक अध्ययन सम्भव हुआ है। गुणक तथा त्वरक के परस्पर प्रभाव की अनुपस्थिति में व्यापार चक्र का आकार साधारण हुआ होता और इनका नियन्त्रण करना भी सरल होता। प्रो० कुरीहारा ने कहा है कि यह गुणक विश्लेषण के साथ साथ जो कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के विचार पर आधारित है त्वरक सिद्धान्त व्यापार चक्र विश्लेषण और व्यापार चक्र की नीति के लिए एक सहयोगी मार्ग दर्शक तथा एक उपयोगी अस्त्र के रूप में हमारी सेवा करता है।[1]

परीक्षा-प्रश्न

1. त्वरक सिद्धान्त को परिभाषित कीजिए। इसकी कार्य विधि सीमाएँ तथा महत्व बताइए।
   (Define the Principle of acceleration Give its working limitations and Significance)
2. त्वरक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा इसकी मान्यताएँ बताइए। क्या आप इस बात से सहमत हैं कि यह सिद्धान्त कम विकसित देशों में कार्य नहीं करता?
   (Explain the principle of acceleration and pointout its assumptions Do you agree with the view that it does not operate in less developed countries ?
3. टिप्पणी लिखिए—
   (i) गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया।
   (ii) त्वरक सिद्धान्त की आलोचनाएँ।
   Write notes on —
   (i) Interaction of Multiplier and Accelerator
   (ii) Criticism of the Principle of Acceleration

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

4. निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही तथा कौन गलत है।
   (i) त्वरक सिद्धान्त मूल उपभोग में वृद्धि के परिणामस्वरूप पूँजी निवेश में होने वाली वृद्धि की व्याख्या करता है।
   (ii) यह कहना गलत है कि व्यापार चक्र गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया द्वारा घटित होते हैं।
   (iii) त्वरक प्रकृति दो तत्वों पर निर्भर करता है। (i) पूँजी गुणक तथा (ii) पूँजीगत साधनों का टिकाऊपन।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है (ii) गलत है। (iii) सही है।

---

[1] "It is in conjunction with the multiplier analysis based on the concept of the marginal propensity to consume that acceleration principle serves as a useful tool for business cycle analysis and as a helpful guide to business cycle policy
Monetary Theory and Public Policy P 234 — K K Kurihara

> Money can be defined as anything that is generally acceptable as a means of exchange (i e as a means of settling debts) and that at the same time acts as a measure and as a store of value' —G Crowther
>
> Money is any thing that passes freely from hand to hand as medium of exchange and is generally received in final discharge of debts —Ely

अध्याय 12

मुद्रा की परिभाषा एवं कार्य

(DEFINITION AND FUNCTIONS OF MONEY)

मुद्रा क्या है ? (What is Money ?)

प्रो० क्राउथर ने मुद्रा को मानव जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण आविष्कार की संज्ञा दी है। प्रो० क्राउथर का कहना है कि मुद्रा मानव आविष्कारों में एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। प्रत्येक ज्ञान की शाखा में कोई न कोई मौलिक खोज होती है। जिस प्रकार यन्त्रशास्त्र में पहिया, विज्ञान में अग्नि तथा राजनीतिशास्त्र में मत आविष्कारों के सूचक हैं ठीक इसी प्रकार से अर्थशास्त्र में भी मनुष्य के सामाजिक अस्तित्व के सम्पूर्ण व्यापारिक क्षेत्र में मुद्रा वह महान आविष्कार है जिस पर अन्य सभी आविष्कार आधारित है।

मानव सभ्यता के विकास के साथ मुद्रा का इतिहास जुड़ा है। आरम्भ से लेकर वर्तमान समय तक मुद्रा के स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन होते आये हैं। मुद्रा की गणना उन वस्तुओं में की जाती है जिनको किसी एक परिभाषा द्वारा व्यक्त करना एक दुष्कर काम है।

मुद्रा की परिभाषा (Definition of Money)

मुद्रा जहाँ मानव जीवन के लिए अति आवश्यक एवं अद्वितीय है वहाँ दूसरी ओर इसकी परिभाषा के सम्बन्ध में काफी वाद विवाद रहा है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा के विभिन्न गुणों को ध्यान में रखकर मुद्रा की पृथक पृथक परिभाषाएँ दी गई हैं। वास्तविकता यह है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण एवं अपनी सुविधानुसार मुद्रा की परिभाषा देने का प्रयास किया है। मुद्रा की इतना अधिक परिभाषाएँ दी गई हैं कि अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के समक्ष यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि कौनसी

ऐसी मुद्रा की परिभाषा है जो अपने आप में पूर्ण एवं उपयुक्त हो। मुद्रा की परिभाषाओं के विभिन्न वर्गीकरणों से हम मुद्रा की एक उपयुक्त परिभाषा ढूंढने में सफल हो सकते हैं।

हम इन परिभाषाओं को, जो विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार दी गई हैं, अध्ययन की सुविधा के लिये निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

वर्णनात्मक अथवा कार्यवाहक परिभाषाएँ
(Descriptive or Functional Definitions)

जिन परिभाषाओं में मुद्रा के कार्यों का वर्णन किया गया है उनको वर्णनात्मक परिभाषाएँ कहते हैं। इनमें मुख्य निम्न हैं —

(क) 'मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे।"[1] —फ्रान्सिस वाकर

(ख) "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय के साधन (अर्थात् ऋणों के निपटाने के साधन) के रूप में सामान्यतः स्वीकार्य होती है तथा साथ ही मूल्य के मापक और संचय के आधार का कार्य करती है।"[2] —क्राउथर

(ग) "वर्तमान में मुद्रा, प्रत्येक व्यवहार में, केवल शर्तों को निर्धारित नहीं करती बल्कि विनिमय में माध्यम का कार्य भी करती है·········यह एक माप या मूल्य का प्रमाप के रूप में कार्य करती है जिसकी सहायता से अन्य वस्तुओं की तुलना की जा सकती है।"[3] — क्राउथर

(घ) 'यदि कोई वस्तु-विशेष मूल्य निर्धारित करने, वस्तुओं अथवा सेवाओं का आदान-प्रदान करने तथा अन्य मौद्रिक कार्य करने के लिये सामान्य रूप से काम में लायी जाती है तब वह मुद्रा है चाहे उसकी वैधानिक और भौतिक विशेषताएँ कुछ भी हों।"[4] —ह्विटलसी

(ङ) मुद्रा वह है जो मूल्य का मापक और भुगतान का साधन हो।"[5] —कॉलबोर्न

---

1. "Money is that money does."
   Money in Relation to Trade & Industry. —*Francis A. Walker*
2. "Money can be defined as anything that is generally acceptable as a means of exchange (i e as a means of settling debts) and that at the same time acts as measure and as a store of value"
   An Outline of Money. —*G. Crowther*
3. "In every transaction money, now not only fixes the term. But mediates in the exchange....... It acts as a yard-stick or standard measure of value to which all other things can be compared."
   An Outline of Money. —*G. Crowther*
4. 'If a particular unit is commonly employed to state values, exchange goods and services or perform other money functions, then it is money whatever its legal or physical characteristics"
   — *Whittlesey.*
5. "Money may be defined as the means of valuation and of payment
   - *Coulbom*

प्रो० नैप और हार्ट्रे सिगरेट व सीपियों आदि तो क्या, वे तो गाय पशु और बैंकों को भी मुद्रा के अन्तर्गत गणना करने को तैयार नहीं थे क्योंकि, शासकीय शक्ति के अभाव में, इनको लेने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता।

आलोचना

यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित है। कॉलबोर्न (Coulborn) के अनुसार यह परिभाषाएँ 'मुद्रा से सम्बन्धित वकीलों के दृष्टिकोण' (Lawyers Veiw of Money) हैं। वास्तविकता यह है कि विनिमय एक ऐच्छिक कार्य है, और यदि यह क्रिया केवल शासकीय दबाव के अन्तर्गत की जाय तो सच्चे अर्थों में इसे विनिमय कहा जाता है। प्रो० नैप के देश जर्मनी में सन् 1920 के बाद प्रथम महायुद्ध के दुष्परिणामों के कारण, जैसा हुआ कि मार्क' की जन स्वीकृति समाप्त हो गई और वह विनिमय का व्यावहारिक माध्यम न रहा। 1944 में हंगरी में उसकी मुद्रा पेन्गोस (Pengos) के साथ भी यही हुआ और लोगों ने उसको विनिमय में लेने से अस्वीकार कर दिया, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् चीन' में भी वहाँ की मुद्रा कानूनी मान्यता होते हुए भी प्रचलन से हट गयी। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुद्रा के लिए राज्यशक्ति नहीं वरन् सर्वग्राह्य का गुण होना जरूरी है। यदि जनता का विश्वास किसी मुद्रा में से हट जाए तो राज्य कितने ही कठोर नियम क्यों न बना ले, उसे सभी के द्वारा स्वीकार कराने में सक्षम नहीं हो सकता।

सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ
(Definitions based on General Acceptability)

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि सर्वग्राह्यता या सामान्य स्वीकृति मुद्रा का एक विशेष गुण है। इसी तथ्य पर बल देने के लिये अनेक अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषित किया है जिनमें से मुख्य निम्न हैं—

(क) "मुद्रा में वे सब वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं जो किसी समय अथवा स्थान में बिना सन्देह या विशेष जाँच-पड़ताल के वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने और व्यय चुकाने के साधन के रूप में साधारणतः प्रचलित होती हैं।"[1]

(ख) "मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण और मूल्य-सम्बन्धी अनुबन्धों को पूर्ण किया जाता है, और जिसमें सामान्य क्रय-शक्ति संचित की जाती है।"[2] —कीन्स

(ग) "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो।"[3] —सेलिगमैन

(घ) "मुद्रा वह वस्तु है जिसे माल के भुगतान, अथवा व्यापारिक दायित्व के

---

1 "Money includes all those things which are (at any given time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses" —*Prof. Marshall*

2. "Money itself is that by delivery of which debt-contracts and price-Contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held" —*Keynes*

3. "Money is one thing that possesses general acceptability" —*Saligmen*

भुगतान के रूप में विस्तृत रूप से स्वीकार किया जाता है।'[1] —रॉबर्टसन

(च) मुद्रा कोई भी वह वस्तु हो सकती है जो सामान्यतः विनिमय माध्यम तथा मूल्य-मापक के रूप में समाज में स्वीकार की जाती है।"[2] —केण्ट

(छ) मुद्रा कोई भी ऐसी वस्तु हो सकती है जिसका विनिमय के माध्यम के रूप में, स्वतन्त्रतापूर्वक हस्तान्तरण होता है, और जो ऋणों के अन्तिम भुगतान के लिए सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है।"[3] —एली

(ज) मुद्रा कहलाने के लिए किसी भी वस्तु को विस्तृत क्षेत्र में, विनिमय माध्यम के रूप में, स्वीकृत होना आवश्यक है, जिसका अर्थ यह है कि भारी संख्या में लोग उसे वस्तुओं तथा सेवाओं के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार हैं।"[4] —पीगू

आलोचना

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि ये परिभाषाएँ इस तथ्य पर बल देती हैं कि नित्य प्रति के लेन-देन क्रय-विक्रय तथा ऋणों के भुगतान के लिए निस्संकोच रूप से स्वीकार की जाने वाली वस्तुओं को मुद्रा कहते हैं। 'परन्तु इन परिभाषाओं में भी एक कमी' है। ये केवल वर्तमान पर ही बल देती हैं जबकि मुद्रा को तीनों कालों—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—में स्वीकृत व ग्राह्य होना चाहिए। क्योंकि कीन्स व रोबर्टसन जैसे अनेक अर्थशास्त्री मुद्रा को 'ऋण सम्बन्धी सौदे (Debt Contract) व व्यापारिक दायित्व (Business Contracts) मानते हैं। इन परिभाषाओं में सबसे बड़ी कमी यह है कि ये मुद्रा के सब ही आवश्यक कार्यों पर (जिन पर सामान्य स्वीकृति आधारित या जिनसे प्रभावित होती है) समान रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है। मुद्रा की ऐसी परिभाषा होनी चाहिए जिसमें मुद्रा के समस्त कार्यों और उसके स्वरूप का वर्णन किया गया हो। सम्भवतः मुद्रा की यह परिभाषा हो सकती है—

"मुद्रा वह पदार्थ है जिसको जनता भूत वर्तमान तथा भविष्य के भुगतानों के लिए ऋण-रूप से स्वीकार करती है और शासकीय मान्यता प्राप्त होने के साथ-साथ यह मूल्य मापक व मूल्य-संचय भी होती है।"

मुद्रा की परिभाषा से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टिकोण
(Different Views Regarding Definition of Money)

मुद्रा की जो परिभाषाएँ संग्रहीत की गई हैं उनके अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कुछ परिभाषाएँ बहुत व्यापक हैं तथा अन्य कुछ परिभाषाएँ बहुत संकुचित हैं।

---

1. 'D H Robertson defines money as "Anything which is widely *accepted in payment for goods, or in discharge of other kinds of* business obligations" —*Robertson*
2. 'Money is anything that is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value —*Kent*
3. Money is anything that passes freely from hand to hand as medium of exchange and is generally received in final discharge of debts" —*Ely*
4. "In order of anything to be classed as money, it must be accepted fairly widely as an instrument of exchange, which means that a good number of people are ready to accept it in payment for goods and services provided by them." —*Pigou*

साधनों के उत्पादन के लिए खेती खरीदना, लाभ अर्जित करने की दृष्टि से ऋण-पत्र अथवा प्रतिभूतियों को खरीदना इत्यादि। वह लोग जो इन परिसम्पत्तियों में धन नहीं लगाते और भविष्य की अनिश्चितताओं के कारण अपने धन को मुद्रा के रूप में संचित रखते हैं जिससे आवश्यकता पड़ने पर वह इस धन का उपयोग आसानी से तथा इच्छानुसार कर सकें। भावी प्रत्याशाओं का हमारे वर्तमान निर्णयों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। लोग परिसम्पत्तियों की अनवरत प्रवृत्ति के कारण मुद्रा में अपने धन को संचित रखते हैं।

(ब) भावी भुगतानों का आधार (Standard of Deferred Payments)—मुद्रा की सामान्य स्वीकृति और जनता के विश्वास के कारण मुद्रा ने भविष्य के भुगतानों की सुविधा प्रदान की है। अब कुछ स्थितियों में सौदे वर्तमान में किए जाते हैं और उनका भुगतान भविष्य में किया जाता है। इस प्रकार वर्तमान में औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में साख की सुविधा प्रदान करके इसने विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि हम मुद्रा को वर्तमान आर्थिक प्रगति की आधारशिला कहें तो अनुचित न होगा। मुद्रा समाज में वर्तमान भुगतानों को तो सम्पन्न करती है साथ में भावी भुगतानों का आधार भी है। मुद्रा एक ऐसी वस्तु बन गई है जिसमें भविष्य में होने वाले भुगतानों का हिसाब किताब रखा जाता है। जिससे कि ऋणी तथा ऋणदाता दोनों में से किसी को हानि न हो। आधुनिक युग में अधिकांश लेन-देन व्यापारिक क्षेत्र में स्थगित भुगतानों के रूप में होता है जिससे मुद्रा के इस कार्य का महत्व और भी अधिक हो गया है।

(स) क्रय शक्ति का हस्तांतरण (Transfer of Value)—मुद्रा ने क्रय शक्ति के हस्तांतरण की सुविधा प्रदान की है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को यह अन्तरण कार्य मुद्रा ने ही सम्भव बनाया है। इस कार्य को सम्पन्न करके मुद्रा ने विनिमय को व्यापक बनाया है। यदि मुद्रा में क्रय शक्ति के हस्तान्तरण की सुविधा न होती तो समाज की आर्थिक प्रगति का चक्र भी रुक गया होता। वर्तमान समय में साख मुद्रा तथा बैंकिंग सुविधाएँ, उद्योग, तथा व्यापार और यातायात के साधन उपलब्ध न हुए होते तो समाज प्रगति नहीं कर सकता था।

मुद्रा तथा साख मुद्रा ने मूल्य अंतरण को एक स्थान से दूसरे स्थान करके तथा एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित करके मनुष्य को बहुत बड़ी असुविधाओं से बचा दिया है। उदाहरणार्थ यदि एक व्यक्ति कुछ धनराशि का अंतरण कानपुर से बम्बई करना चाहता है तो वह व्यक्ति कानपुर की किसी बैंक में वह धनराशि जमा करके बैंक ड्राफ्ट बनवा कर अथवा चैक द्वारा भेज सकता है और बम्बई में प्राप्तकर्ता व्यक्ति को वह धनराशि मिल जाएगी। ड्राफ्ट बनवाने में उसे बहुत थोड़ा-सा शुल्क ही देना पड़ता है। यदि भुगतान चैक के द्वारा किया जाता है तो चैक भुनाने में थोड़ी सी धनराशि ही व्यय करनी पड़ेगी। इसी प्रकार एक व्यक्ति नकद धनराशि के लेन-देन की असुविधा से बचने के लिए बैंक द्वारा भुगतान लेते और देते रहते हैं। इस प्रकार क्रय शक्ति के हस्तान्तरण की यह सुविधा एक स्थान से दूसरे स्थान पर भारी धनराशि को ले जाने के जोखिम से मुक्ति प्रदान करती है। व्यापारिक क्षेत्र और विकसित देशों में ऐसे भुगतान करने की एक परम्परा-सी बन गई है। यह कार्य मुद्रा ने ही सम्भव बनाया है।

(3) मुद्रा के आकस्मिक कार्य—मुद्रा के आकस्मिक कार्य निम्न प्रकार से वर्णित किए जाते हैं

(अ) साख का आधार (Basis of Credit)—मुद्रा ने साख का आधार बनकर देश की बैंकिंग, व्यापारिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों की अभूतपूर्व सहायता की है। आज हम मुद्रा से अधिक साख मुद्रा को महत्व देने लगे हैं। विकसित देशों में तो साख-मुद्रा का प्रचलन

बहुत अधिक बढ़ गया है। आज के युग में बैंक अपनी प्राथमिक जमाओं से कहीं अधिक धनराशि की साख मुद्रा निर्गमित करके व्यापारिक तथा औद्योगिक क्रियाओं के विस्तार और उन्हें सुविधापूर्वक सम्पन्न करने में बहुत ही सहायक सिद्ध हुए हैं। आज स्थिति यह है कि यदि साख मुद्रा के सृजन में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित हो जाता है तो हमारी अर्थव्यवस्था तात्कालिक रूप से प्रभावित होती है आज विभिन्न देशों में राष्ट्रीयकृत बैंक सरकार द्वारा चलाई जाने वाली विभिन्न प्रगतिशील और कल्याणकारी योजनाओं के लिए पर्याप्त मात्रा में धनराशि जुटाकर अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। जो साख-मुद्रा हमारे लिए आज इतनी अधिक महत्वपूर्ण हो चुकी है उस साख-मुद्रा का आधार वैधानिक मुद्रा ही है।

(ब) सामाजिक आय का वितरण (Distribution of Social Income)—वर्तमान पेचीदा अर्थव्यवस्था में मुद्रा सामाजिक आय की उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के मध्य बँटवारा करने का सर्वोत्तम पैमाना है। उत्पत्ति के प्रत्येक साधन का उसकी योग्यता और श्रम के आधार पर मुद्रा के रूप में मूल्यांकन करके भुगतान किया जा सकता है। वर्तमान समय में सभी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाता जिसमें बहुत से मनुष्य सहयोगी उत्पादन के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार जो भी उत्पादन होता है उसमें असंख्य लोगों का योगदान होता है और उसका वितरण भी सभी साधनों के मध्य होना चाहिए। सभी उत्पत्ति के साधनों की योग्यता और कुशलता एक-सी नहीं होती और न ही उनका उत्पादन स्तर एक-सा होता है। मुद्रा के उत्पत्ति के साधनों के मध्य उत्पादन के बँटवारे की इस जटिल समस्या का समाधान कुशलपूर्वक किया है। सामूहिक रूप से उत्पादित वस्तु को बाजार में बेचकर एक उत्पादक द्वारा उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के मध्य बाँट दिया जाता है और सामूहिक उत्पादन से प्राप्त आय का बँटवारा आसानी से हो जाता है। मुद्रा ने सहयोगी साधनों के मध्य सामाजिक आय के वितरण को सरल बनाकर समाज में बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली को प्रोत्साहन प्रदान किया है।

(स) सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादकता में समानता का आधार—(Basis of Equalising Marginal Utility and Marginal Productivity)—मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं और उनके पास साधन सीमित होते हैं। एक उपभोक्ता की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य के सामने सीमित साधनों के कुशलतम प्रयोग से इन आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार की जाय जिससे कि प्रत्येक मनुष्य को अधिकतम सन्तुष्टि के लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। यह उस समय सम्भव हो सकता है कि विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय की जाने वाली अंतिम इकाई से सीमान्त उपयोगिता समान हो जाए। मुद्रा ने उपभोक्ता को द्रव्य रूपी इकाईयों द्वारा सीमान्त उपयोगिता की समानता का माप सम्भव बनाया है और उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि का लक्ष्य अपने सीमित साधनों द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की प्राथमिकताएँ निर्धारित करके तथा उनकी मात्रा के उपयोग द्वारा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार एक उत्पादक के लिए भी उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के आदर्शतम अनुपात का लक्ष्य प्राप्त करने में मुद्रा सहायता प्रदान करती है। एक उत्पादक उत्पत्ति के साधनों पर व्यय की जाने वाली अन्तिम इकाई से उत्पत्ति के साधनों की सीमान्त उत्पादकता में समानता स्थापित करके न्यूनतम लागत का लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

(द) पूँजी को सामान्य रूप प्रदान करने का आधार (Basis of Pr..viding General form of Capital)—मुद्रा ने सभी प्रकार की पूँजी तथा सम्पत्ति को सामान्य रूप प्रदान किया है। अब लोग मुद्रा के रूप में बचत करके अपनी भावी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। मुद्रा में गतिशीलता तथा नकदी प्रवृत्ति के कारण मुद्रा को किसी भी

पदार्थ में परिवर्तित किया जा सकता है। जिस प्रकार हम पानी को हरे या लाल बर्तन में रखें, पानी उसी रंग का रूप ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार मुद्रा भी उस वस्तु का रूप धारण कर लेती है जिसमें हम उसे बदलना चाहते हैं अर्थात् मुद्रा द्वारा हम अपनी इच्छानुसार वस्तु को क्रय कर सकते हैं। मुद्रा में संचित धन तथा पूंजी को किसी भी कार्य के उपयोग में लाया जा सकता है।

(4) मुद्रा के अन्य कार्य—कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के वर्णित उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ और कार्य भी बतलाए हैं जो निम्न प्रकार से हैं :—

(अ) तरल सम्पत्ति का रूप (Form of Liquid Wealth)—प्रो० जे० एम० कीन्स (Prof J M Keynes) ने मुद्रा के इस कार्य को विशेष महत्व दिया है। प्रो० कीन्स का कहना है कि मुद्रा मनुष्य के पास उपलब्ध सम्पत्ति का सबसे तरल रूप है। प्रत्येक व्यक्ति तथा फर्म की अपनी कुछ परिसम्पत्तियाँ होती हैं जिनमें मुद्रा सर्वोत्तम परिसम्पत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति तथा फर्म अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की समय-समय पर पूर्ति के लिए अन्य परिसम्पत्तियों के बजाय मुद्रा में संचित करना उचित समझता है। भविष्य अनिश्चित होता है और इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति में दूरदर्शिता का गुण होता है। भविष्य की अनिश्चितता तथा दूरदर्शिता की मात्रा को देखते हुए व्यक्ति अपनी आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी आय के कुछ भाग को नकद मुद्रा के रूप में रखता है। इस प्रकार वह इस नकदी से अर्थात् मुद्रा रूपी तरल परिसम्पत्ति से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होता है। तरल मुद्रा के बजाय वह अपनी आय को किसी अन्य परिसम्पत्ति में रखे तो आवश्यकता पड़ने पर वह अन्य परिसम्पत्ति को बेचकर मुद्रा में परिवर्तित करके ही अपनी आवश्यकता की वस्तु क्रय कर सकता है। ऐसा करने में उसे तात्कालिक रूप से अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने में कठिनाई का अनुभव होगा। इसलिए मुद्रा रूपी तरल द्रव्य द्वारा वह अपनी आकस्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से कर सकता है और अपने भविष्य को सुरक्षित कर सकता है।

(ब) भुगतान क्षमता का सूचक (Guarantor of Solvency)—मुद्रा के इस कार्य का उल्लेख विशेष रूप से प्रो० आर० पी० केण्ट (Prof R P Kent) ने किया है। वह कहते हैं कि मुद्रा समाज में व्यक्तियों को ऋण भुगतान करने की शक्ति प्रदान करती है। एक व्यक्ति उसी समय तक ऋण चुकाने में समर्थ हो सकता है जब तक उसके पास मुद्रा है। जब कभी भी मुद्रा रूपी परिसम्पत्ति व्यक्ति या फर्म के पास समाप्त हो जाती है तो वह व्यक्ति या फर्म का दिवाला निकल जाता है। यही कारण है कि व्यक्ति या फर्म अपनी भुगतान करने की क्षमता बनाए रखने के लिए अपनी आय अथवा साधनों का एक भाग नकदी के रूप में रखना पसंद करते हैं।

नहीं हो सके हैं क्योंकि मुद्रा को किसी वस्तु में किसी समय परिवर्तित किया जा सकता है जबकि अन्य किसी वस्तु में आसानी से बदल पाना कठिन कार्य है। मुद्रा ने मनुष्य को इस प्रकार अपने आर्थिक निर्णयों को क्रियान्वित करने में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है। मुद्रा के उपर्युक्त कार्यों को हम निम्न चार्ट द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं—

मुद्रा के कार्य का वर्गीकरण (I)

प्राथमिक कार्य | गौण कार्य | आकस्मिक कार्य | अन्य कार्य

विनिमय का माध्यम | मूल्य का मापक

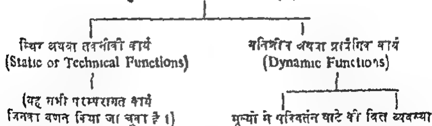
मूल्य संचय का आधार | भावी भुगतानों का आधार | क्रय शक्ति का हस्तांतरण

साख का आधार | सामाजिक आय का वितरण | सीमान्त उपयोगिताओं तथा सीमान्त उत्पादकता में समानता का आधार | पूंजी को सामान्य रूप प्रदान करने का आधार

तरल सम्पत्ति का रूप | भुगतान क्षमता का सूचक | इच्छा का वाहक

मुद्रा के कार्यों का एक अन्य वर्गीकरण अथवा पॉल इंजिग, (Paul Finzig) का वर्गीकरण

मुद्रा के कार्य का वर्गीकरण (II)



मुद्रा के स्थिर तथा गतिशील कार्यों का वर्गीकरण प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पॉल इंजिग (Paul Einzig) ने किया है। उन्होंने मुद्रा के स्थिर कार्यों का अर्थ उन सभी कार्यों से लिया है जो अर्थव्यवस्था का संचालन तो करते हैं परन्तु उसको गति प्रदान नहीं करते। इन कार्यों में मुख्य रूप से वे विनिमय का माध्यम, मूल्य मापक, स्थगित भुगतानों का मान मूल्य संचय के कार्य आते हैं। इनके अतिरिक्त वे सभी कार्य भी शामिल किये जा सकते हैं जिन्हें मुद्रा पहले से करती आ रही है।

मुद्रा के प्रावैगिक या गतिशील कार्यों में ऐसे कार्यों को स्थिर किया जाता है जो अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करते हैं। इन कार्यों में मुख्य रूप से मूल्य स्तर को प्रभावित करना एवं घाटे की वित्त व्यवस्था रूपी कार्य आते हैं।

(1) **मूल्यों में परिवर्तन** (Changes in the Value)—वर्तमान गतिशील अर्थव्यवस्था में मुद्रा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य मूल्य स्तर को प्रभावित करना है। अर्थव्यवस्था में उतार-चढ़ाव अर्थात् मुद्रा एवं स्फीति काल में मुद्रा अर्थव्यवस्था को समुचित गति प्रदान करती है। जब अर्थव्यवस्था में मंदी का वातावरण उत्पन्न होता है तो सरकार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके पूँजी विनियोजन को बढ़ाती है तथा बैंकों द्वारा उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को सस्ती साख उपलब्ध कराती है। इसका मिला-जुला परिणाम यह होता है कि वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग बढ़ जाती है। उत्पादन तथा रोजगार का स्तर बढ़ता है परिणामस्वरूप समाज की सम्पूर्ण आय बढ़ती है। वस्तुओं और सेवाओं की माँग समाज में प्रभावपूर्ण माँग को बढ़ाती है जिससे मूल्य स्तर बढ़ता है। मूल्यों में बढ़ोत्तरी साहसियों को पूँजी विनियोजन बढ़ाने में सहायक होती है। इसके विपरीत मुद्रा स्फीति काल में मुद्रा की मात्रा तथा ऋण प्रदान प्रवृत्ति को सकुचित करने मूल्यों में थोड़ी गिरावट वस्तुओं की माँग बढ़ाने में सहायक होती है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन अर्थव्यवस्था को वांछित दिशा में गतिमान करते हैं।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि मूल्यों में स्थायित्व अर्थव्यवस्था के लिए जरूरी है परन्तु मूल्यों में परिवर्तन एक निश्चित सीमा तक ही होने देना चाहिए। सरकार को इस दिशा में सर्वदा सचेत रहना चाहिए कि मूल्य न तो इतने बढ़ने पाएँ और न ही कम हो जिससे कि अर्थव्यवस्था में असतुलन की स्थिति न आने पाए।

(2) **घाटे की वित्त व्यवस्था**—पॉल इजिग ने मुद्रा के गतिशील कार्य में घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा घाटे के बजट को भी महत्वपूर्ण माना है। वर्तमान समय में सरकार के दायित्व एवं कार्य इतने बढ़ गये हैं कि वह अपनी आय स्रोतों से इनको पूरा करने में समर्थ नहीं होती सरकार या तो देश के केन्द्रीय बैंक से रकम उधार लेकर या फिर घाटे के बजट बनाकर अतिरिक्त मुद्रा की निकासी का कार्य करती है। सरकार की योजनाओं को समय से पूरा करने के लिए तथा अन्य विकास कार्यों के लिए धन की व्यवस्था करती है। इस दिशा में देश का केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक तथा अन्य ऋण प्रदान करने वाली संस्थाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

अर्थव्यवस्था में मुद्रा के कार्यों के उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मुद्रा समाज के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मुद्रा के बिना आधुनिक युग में मनुष्य के लिए सभ्य जीवन बिताना सम्भव नहीं है। मुद्रा का उपयोग मानव सभ्यता के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है।

परीक्षा-प्रश्न

1 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्यों की व्याख्या कीजिए और एक विकासशील *अर्थव्यवस्था में प्रावैगिक कार्यों का महत्व स्पष्ट कीजिए।*

(Discuss the static and dynamic functions of money and indicate the importance of the letter in a developing economy)

2 मुद्रा के कार्य बताइए। कागजी मुद्रा यह कार्य कहाँ तक कर पाती है ?

Define the functions of money How far does paper money perform them well.)

3 मुद्रा के मुख्य, गौण तथा आकस्मिक कार्यों का वर्णन कीजिए।
(Discuss the main secondary and contingent functions of money)

4 मुद्रा वही है जो मुद्रा का काम करती है। व्याख्या कीजिए।
(Money is what money does Discuss)

[संकेत—सरकारी तथा बैंक द्वारा मुद्रा की व्याख्या कीजिए। मुद्रा के कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।]

5 मुद्रा के काय बताइए। कागजी मुद्रा यह काम कहाँ तक कर पाती है ?
(Define the functions of money How far does the paper money perform them well ?)

[संकेत—सबसे पहले मुद्रा के कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए तत्पश्चात् बताइए कि वर्तमान समय में संसार के प्राय सभी देशों में कागजी मुद्रा ही अपनाई गई है। यह मुद्रा भली प्रकार संसार की सेवा कर रही है। परन्तु ऐसी मुद्रा के पीछे बहुमूल्य धातुओं के कोष के अभाव में मुद्रा की पूर्ति में तेजी से वृद्धि हुई है तथा मुद्रा के मूल्य में तेजी से गिरावट आई है जिससे तीसरी दुनियाँ के देशों में साधन विहीन या अल्प साधन वाले व्यक्तियों के लिए काफी आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ी हैं।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

6 निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही तथा कौन गलत है

(i) मुद्रा मानव आविष्कारों में एक महत्वपूर्ण आविष्कार है।

(ii) मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा मूल्य मापन का काय सदैव एक साथ सम्पन्न करती है।

(iii) मुद्रा ने सभी प्रकार की पूंजी तथा सम्पत्ति को एक सामान्य रूप प्रदान किया है।

(iv) मुद्रा के स्थान पर अन्य कोई वस्तु व्यक्ति का इच्छा का वाहक नहीं हो सकती।

(v) मुद्रा को किसी वस्तु में किसी समय परिवर्तित किया जा सकता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) गलत है। (iii) सही है। (iv) सही है। (v) सही है।

"Money is the pivot around which the whole economic science clusters." —*Prof. Marshall*

अध्याय 13

मुद्रा का चक्राकार प्रवाह एवं महत्व

(CIRCULAR FLOW AND IMPORTANCE OF MONEY)

मुद्रा का चक्राकार प्रवाह (Circular Flow of Money)

मुद्रा की चक्राकार प्रवाह की विशेषता के कारण एक अर्थव्यवस्था में द्राव्यिक भुगतानों का क्रम निरन्तर बना रहता है। जब उपभोक्ता बाजार में उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं को क्रय करते हैं तो उनका भुगतान वह मुद्रा के रूप में करते हैं और यह मुद्रा फुटकर वस्तु विक्रेताओं तथा सेवामालिकों के पास पहुँचती है। फुटकर विक्रेता इस मुद्रा को थोक व्यापारियों अथवा विक्रेताओं को देते हैं जिनसे कि वह यह वस्तुएँ क्रय करके लाए थे और थोक विक्रेता इन उपभोग्य वस्तुओं के निर्माताओं अथवा उत्पादकों को देते हैं। निर्माता अथवा उत्पादकों को जो इस प्रकार से मुद्रा इकाइयाँ प्राप्त होती हैं वे पुनः इनको उत्पत्ति के साधनों में पारिश्रमिक के रूप में जैसे मजदूरी, लगान अथवा किराया, ब्याज, वेतन तथा लाभ के रूप में बाँट देते हैं। उत्पादकों को जो आय प्राप्त होती है उसका कुछ हिस्सा सरकार के पास करों के रूप में चला जाता है और चक्राकार गति में से बाहर आ जाता है शेष भाग को उत्पत्ति के साधनों को प्राप्त होता है वही चक्राकार गति का हिस्सा बनकर समाज में आर्थिक क्रियाओं के रूप में निरन्तर गतिमान रहता है।

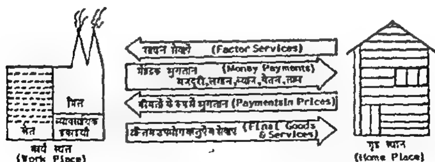
सरकार को जो आय होती है वह उसके द्वारा विभिन्न सेवाओं तथा सुविधाओं के रूप में, जैसे प्रशासनिक व्यय, प्रतिरक्षा व्यय, सामाजिक कल्याण सेवाओं और सुविधाओं पर व्यय तथा अन्य कल्याणकारी योजनाओं पर व्यय कर दिया जाता है और पुनः चक्राकार गति में शामिल हो जाता है। इसके अलावा जब सरकार की आय से उसके व्यय की पूर्ति नहीं होती तो वह नई मुद्रा की निकासी तथा बचतों को बढ़ाती है और नये विनियोगों को करती है। इस प्रकार पूँजी निर्माण तथा नई मुद्रा फिर से चक्राकार गति में शामिल हो जाती है। मुद्रा की इस चक्राकार गति में उच्चावचन अर्थव्यवस्था को अस्थिरता प्रदान करते हैं इसलिए इस चक्राकार गति को सन्तुलन (Equilibrium) में रहना जरूरी होता है जब-जब इस गति में असन्तुलन उत्पन्न हुआ है तब-तब अर्थव्यवस्था में अस्थिरता एवं अर्थव्यवस्था का वातावरण दिखाई दिया है। विश्व-व्यापी तीसा की मन्दी इस प्रकार की अस्थिरता का ज्वलन्त उदाहरण है। तीसा की मन्दी ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा तथा पूँजी बाजार को अस्त-व्यस्त कर दिया था। चारों ओर बेरोजगारी, अति उत्पादन,

बाजारों में स्टॉकों में वृद्धि, उपभोग में गिरावट तथा निर्धनता का वातावरण छा गया था। दुनियाँ के अधिकांश देश मन्दी से प्रभावित थे। प्रथम विश्व युद्ध काल में जर्मनी में मुद्रा की चक्राकार गति में तेजी हो जाने से वहाँ अति स्फीति (Hyper Inflation) की स्थिति उत्पन्न हो गई थी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मुद्रा की चक्राकार गति में बिना कोई परिवर्तन हुए अर्थव्यवस्था असन्तुलन की स्थिति में पहुँच जाती है। ऐसा प्रायः प्राकृतिक प्रकोपों जैसे बाढ़, सूखा, भूकम्प आदि के समय दिखाई देता है।

द्रव्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा की चक्राकार गति से हमारे जीवन की प्रगति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमें यह मालूम होना चाहिए एक व्यक्ति की दोहरी भूमिका होती है। एक उपभोक्ता के रूप में वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग करता है और उसका दूसरा रूप उत्पत्ति के साधन के रूप में वस्तुओं तथा सेवाओं की निरन्तर पूर्ति बनाए रखना होता है। हम यह भली-भाँति जानते हैं कि हम सभी उपभोक्ता भी हैं साथ ही साथ उत्पत्ति के साधन भी। उपभोक्ता की दृष्टि से हम भोजन, वस्त्र तथा मकान की भौतिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करते हैं। एक कार्यरत व्यक्ति की भाँति हम सभी उत्पत्ति के साधन भी हैं और सरकारी कार्यालयों कारखानों, विद्यालयों, निजी क्षेत्र व अन्य किसी न किसी व्यवसायों में विभिन्न रूप में सेवाएँ प्रदान करते हैं और अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति बनी रहती है। हमें अपनी सेवाओं के बदले में सेवायोजकों से द्रव्य आय प्राप्त होती है जिसको हम विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय करके अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाते हैं और अपनी आय के शेष भाग को द्रव्य के रूप में संचित करके भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए छोड़ देते हैं।

जिस समय अर्थव्यवस्था में मुद्रा का आगमन होता है तो इसके फलस्वरूप एक लेन-देन कार्य दूसरे लेन-देन कार्य को जन्म देता है। उत्पादन सेवाओं की गति का क्रम गृहस्थान (Home Place) से कार्य स्थान (Work Place) जैसे कारखाने, खेत व्यावसायिक इकाइयों आदि की ओर होता है।



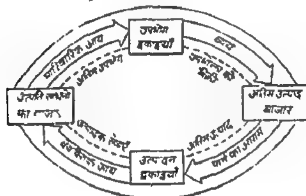
चित्र—(A)

उपर्युक्त चित्र में दिखाया गया है कि हम, अपनी साधन सेवाएँ खेतों, कारखानों अथवा किसी व्यावसायिक इकाइयों आदि में प्रदान करते हैं और इन इकाइयों की आय उत्पत्ति के साधनों को मजदूरी, लगान, ब्याज, वेतन तथा लाभ के रूप में मौद्रिक भुगतानों

के रूप में दे दी जाती है। जिनको पुनः कार्यस्थलों के उत्पाद की कीमतों के रूप में दे दिया जाता है और अन्तिम उपभोक्ता वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। उपभोग वस्तुओं तथा सेवाओं की गति कार्यस्थल से घर की ओर होती है जबकि मुद्रा की गति का क्रम घर से कार्यस्थल की ओर होता है। एवं उत्पादन उत्पत्ति साधनों की सेवाओं को घर से सीधे प्राप्त न करके साधन बाजार (Factor Market) जहाँ यह साधन अपनी सेवाएँ अर्पित करते हैं प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार उपभोक्ता उपभोग्य वस्तुओं (Consumer Goods) को कार्य स्थान से सीधे प्राप्त न करके वरन् बाजार (Commodity Market) से जहाँ वस्तुएँ बिक्री हेतु प्रस्तुत की जाती हैं प्राप्त करते हैं।

मुद्रा के चक्राकार प्रवाह की स्थिति को निम्नलिखित रेखाचित्र B द्वारा दिखाया जा सकता है।

मुद्रा का चक्राकार प्रवाह



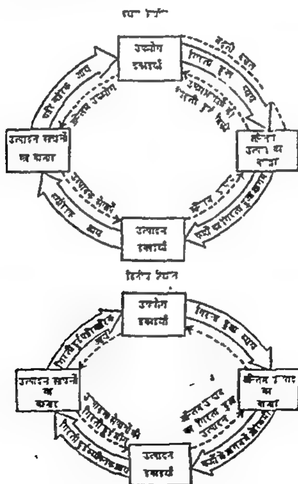
चित्र—(B)

मुद्रा अर्थव्यवस्था में दो विपरीत दिशाओं में कभी समाप्त न होने वाली लगातार धाराएँ विद्यमान रहती हैं। इसमें से एक धारा ऐसी वस्तुओं तथा सेवाओं की होती है जो अर्थव्यवस्था में व्यक्तियों की उत्पादन क्रियाओं का परिणाम है और दूसरी धारा का सम्बन्ध उन मौद्रिक भुगतानों से होता है जिसका उदय उस समय होता है जबकि अपनी सेवाओं के बदले में उत्पत्ति के साधनों को मौद्रिक पारिश्रमिक मिलता है। स्पष्ट है कि उत्पत्ति के साधनों को जो आय प्राप्त होती है उसका उपयोग वे खाद्यान्न कपड़ा तथा अन्य उपभोग वस्तुएँ (Consumer Goods) बाजार से खरीदने में व्यय करते हैं। बाजार के दुकानदार (फुटकर तथा थोक व्यापारी) कारखानों या उत्पादन केन्द्रों से वस्तुओं को प्राप्त करते हैं और उपभोक्ताओं तथा फैक्ट्री के बीच एक मध्यस्थ (Mediator) के रूप में कार्य करते हैं।

मुद्रा अर्थव्यवस्था में जब इस प्रकार की दोनों विपरीत धाराओं में परस्पर समानता रहती है तभी अर्थव्यवस्था में स्थिरता का वातावरण पाया जाता है। जिससे आय तथा उत्पादन दोनों ही में स्थिरता पाई जाती है। यदि अर्थव्यवस्था में मुद्रा के प्रवाह (Circulation of Money) में वृद्धि हो जाती है तो यह जरूरी नहीं है कि जिस अनुपात में मुद्रा

प्रवाह में वृद्धि हुई है उसी अनुपात में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि हो जाए। ऐसी स्थिति को स्फीतिक स्थिति (Inflationary Stage) कहते हैं अर्थात् देश का कीमत-स्तर ऊँचा उठने लगता है। इसके विपरीत यदि मुद्रा प्रवाह में कमी हो जाए तो यह जरूरी नहीं है कि उसी अनुपात में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में कमी आ जाए। ऐसी अवस्था मुद्रा संकुचन अथवा अवस्फीति (Deflation) की होती है इसमें कीमतों में गिरावट, बेरोजगारी और न्यून उपभोग की स्थिति दिखाई देती है। अर्थव्यवस्था मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन जैसी दोनों बुराइयों से तभी बची रह सकती है जबकि मुद्रा तथा वस्तुओं की विपरीत धाराओं की गति सन्तुलन में रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा चलन में उपलब्ध रहे।

अर्थव्यवस्था में जिस समय तक सन्तुलन बना रहता है उस समय तक आर्थिक क्रियाएँ, जैसे उत्पादन तथा उपभोग का क्रम भी सुचारु रूप में बना रहता है। परन्तु जैसे



चित्र (C)
मुद्रा के चक्राकार प्रवाह की स्थितियाँ

ही मुद्रा की चक्राकार गति में बाधा उत्पन्न हो जाती है समस्त अर्थव्यवस्था लड़खड़ा जाती है। मुद्रा की गति में बाधा के लिए प्रमुख रूप से दो कारण उत्तरदायी होते हैं। प्रथम तो यह बाधा आवश्यक रूप से मुद्रा में कमी तथा दूसरे आवश्यक रूप से मुद्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप दिखाई देती है। जब बैंक साख निर्माण कम करने लगते हैं, पूँजी विनियोजन उत्साहवर्द्धक नहीं होता तथा लोगों की बचतें बढ़ने तथा उपभोग घटने की प्रवृत्ति दिखलाता है तो अर्थव्यवस्था मन्दी के चक्र में फँस जाती है अर्थात् मुद्रा की चक्राकार गति में अधिक कमी आ जाती है। मन्दी के समय समर्थ माँग (Effective Demand) में कमी आ जाती है। लोगों द्वारा अधिक बचत की जाने लगती है। इससे उत्पादकों की आय में गिरावट होती है और मुद्रा की चक्राकार गति में बाधा उत्पन्न हो जाती है जैसा कि उपरोक्त चित्र की प्रथम अवस्था से स्पष्ट होता है।

अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता वर्ग द्वारा अपने व्यय में कटौती करने के कारण कुल समर्थ माँग (Effective Demand) में कमी आ जाती है। समर्थ माँग में गिरावट का असर रोजगार के स्तर तथा व्यक्तिगत आय पर पड़ता है। इसके कारण अर्थव्यवस्था में अवस्फीतिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस बात को उपर्युक्त चित्र में द्वितीय अवस्था के अन्तर्गत दिखाया गया है। जब लोग अपनी वर्तमान आय की तुलना में व्यय अधिक करने लगते हैं तब अर्थव्यवस्था में स्फीतिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मुद्रा की गति के आकार में वृद्धि हो जाती है जिससे कीमतों, रोजगार तथा व्यक्तिगत आय के आकार में वृद्धि हो जाती है और कुछ समय बाद अर्थव्यवस्था में सचयी स्फीति की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

सन्तुलन की समस्या (The Problem of Equilibrium)

जैसा कि हमने देखा कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की दो धाराएँ विपरीत दिशाओं में निरन्तर बहती रहती हैं। इन दोनों धाराओं के प्रवाह को सन्तुलन में रखना एक कठिन कार्य होता है। अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं के आकार तथा प्रकार में लगातार परिमाणात्मक तथा गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं उदाहरण के तौर पर समस्त ऊनी वस्त्र जिसका उत्पादन साल भर होता रहता है उसकी ऊन भेड़ों से लगभग एक ही समय प्राप्त की जाती है। हालांकि ऊनी कपड़े का निर्माण ऊनी वस्त्र उद्योग में साल भर होता रहता है परन्तु ऊनी वस्त्रों की माँग केवल जाड़ों में ही होती है। उपभोक्ता वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग में मौसमी परिवर्तन जो अर्थव्यवस्था में दिखलाई देते हैं वे मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की धाराओं के प्रवाह में असन्तुलन उत्पन्न करते रहते हैं। उपभोक्ताओं की मनोवृत्तियों तथा तकनीकी विकास एवं प्रगति के कारण कुछ वस्तुओं की माँग जो पहले शून्य थी आज काफी अधिक दिखाई देती है। उदाहरण के तौर पर टेलीविजन तथा आटोमोबाइल उद्योग के उत्पादों की माँग में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। किसी आर्थिक संकट या प्राकृतिक प्रकोपों के कारण बहुत सी उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में अचानक वृद्धि देखी जा सकती है क्योंकि उपभोक्ता की ऐसी स्थिति में यह मनोवृत्ति हो जाती है कि शायद भविष्य में इन वस्तुओं की उपलब्धि हो या न हो। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अथवा स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता बनी रहती है जिसके कारण उत्पादक उन्हीं वस्तुओं को बनाते हैं जिनकी माँग उपभोक्ता करें या फिर अपने उत्पादकों के आन्तरिक तथा बाह्य गुणों में परिवर्तनों के द्वारा उपभोक्ताओं को अपनी वस्तुओं को खरीदने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। उपभोक्ता भी अपने व्यय को स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं उनके इस व्यवहार से अर्थव्यवस्था में कुछ वस्तुओं की माँग बढ़ती है तो कुछ की माँग बिल्कुल ही समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार हमने देखा कि प्राकृतिक तथा मनुष्यकृत उपभोक्ता के व्यवहार औद्योगिक विकास आदि के कारण वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रवाह में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था को सन्तुलन में रखने के लिए यह जरूरी है कि मुद्रा के लिए मुद्रा के चक्राकार प्रवाह में परिवर्तन तथा वस्तुओं और सेवाओं के प्रवाह में होने वाले परिवर्तनों में समायोजन बना रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि देश के मुद्रा अधिकारी को मुद्रा की पूर्ति में समय समय पर इस प्रकार परिवर्तन करने चाहिए जिससे कि वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन उपभोग तथा वितरण में परिवर्तन होने पर उस दिशा में मुद्रा की पूर्ति भी परिवर्तित रहे। उदाहरणार्थ उत्पादन में वृद्धि होने पर मुद्रा की पूर्ति बढ़े और कमी होने पर मुद्रा की पूर्ति में भी कमी हो। ऐसा उसी स्थिति में सम्भव होगा जबकि मुद्रा के प्रवाह का आकार सरकारी नियन्त्रण में हो। मुद्रा के प्रवाह का आकार दो बातों पर निर्भर करता है प्रथम मुद्रा की पूर्ति पर दूसरे मुद्रा के वेग पर। मुद्रा की पूर्ति पर सरकार का नियन्त्रण होता है और सरकार को अर्थव्यवस्था की आवश्यकता को ध्यान में रखकर इसमें समय समय पर परिवर्तन करने चाहिए। जबकि मुद्रा का वेग या प्रचलन वेग कभी स्थिर नहीं रहता और इसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा के प्रचलन वेग को मुद्रा की मात्रा उपभोग प्रवृत्ति नकद सौदों की प्रवृत्ति तरलता पसन्दगी साख सुविधाएँ आय की भुगतान की अवधि तथा भावी कीमत अनुमान आदि जैसे तत्व प्रभावित करते रहते हैं। मुद्रा की पूर्ति किसी समय 10 000 करोड रुपये है और उसका औसत प्रचलन वेग 5 है अर्थात् एक रुपया प्रति वर्ष पाँच रुपये की वस्तुओं तथा सेवाओं के भुगतान में प्रयोग में लाया जाता है तो अर्थव्यवस्था में 10 000 × 5 = 50,000 करोड रुपये का वर्ष भर में वस्तुओं तथा सेवाओं के भुगतान करने के लिए प्रयोग में लाया गया है। यदि अगले वर्ष मुद्रा की पूर्ति दस हजार करोड रुपये से बढ़कर बीस हजार करोड रुपये हो जाती है और इसके प्रचलन वेग में कोई परिवर्तन नहीं होता। एक साल करोड रुपये का व्यय कीमतों के दुगने होने पर ही सम्भव होगा। यदि हम कीमतों को स्थिर रखना है तो हम मुद्रा की पूर्ति तथा इसके प्रचलन वेग पर नियन्त्रण रखना होगा।

सरकार तथा गति का आकार—उपर्युक्त मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की गतियों के आकार में हमने सरकारी हस्तक्षेप की उपेक्षा की है। वास्तविकता यह है कि सरकार अपनी आर्थिक नीतियों द्वारा अर्थव्यवस्था में उपभोग तथा उत्पादन के स्तर को प्रभावित करती रहती है जिससे रोजगार तथा आय के स्तर भी प्रभावित होते हैं। समय-समय पर सरकार द्वारा घोषित उसकी मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियाँ मुद्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की गतियों के आकार तथा उनके प्रवाह पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं।

सरकार को विभिन्न प्रकार की सेवाएँ, सुविधाएँ, कल्याणकारी योजनाएँ तथा अन्य कई प्रकार के काम करने पड़ते हैं जिनमें मुद्रा की गति प्रभावित होती है। सरकार अपने व्यय की पूर्ति के लिए जनता से विभिन्न प्रकार के कर तथा शुल्क आदि वसूल करती है। जब सरकार भिन्न कार्यों को करने के लिए जनता से कर वसूल करती है तो मुद्रा की मात्रा की गति कर तथा भुगतान के रूप में जनता की ओर से हटकर सरकारी कोष की ओर होती है। जब सरकार करों की आय को विभिन्न प्रकार की सार्वजनिक सेवाओं जैसे सड़कों, पुलों, विद्यालयों के निर्माण, प्रशासनिक सेवाओं, स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा अन्य विकास की योजनाओं पर व्यय करती है उस स्थिति में मुद्रा की गति सरकार की ओर से हटकर जनता की ओर श्रमिकों की मजदूरी, कर्मचारियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों के वेतन, ऋणदाताओं को ब्याज, सड़कों तथा विभिन्न सार्वजनिक योजनाओं को पूरा करने वाले ठेकेदारों के भुगतान तथा अन्य क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों और विभिन्न प्रतिष्ठानों के रूपरखाव आदि पर व्यय कर दी जाती है। जब सरकारी व्यय

उसकी आय से अधिक हो जाता है तब अर्थव्यवस्था में मुद्रा की गति के आकार में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत जब सरकार अपने व्यय में कमी करती है तो मुद्रा की गति में भी कमी आती है। सरकार अपनी आय-व्यय को प्रतिवर्ष बजट के रूप में संसद में पेश करती है और इसका उद्देश्य जरूरी व्ययों को समायोजित करके अर्थव्यवस्था में स्थिरता लाना होता है। उदाहरणार्थ तेजी काल में सरकार को अतिरिक्त बजट (Surplus Budget) बनाकर अपने व्यय में कटौती करना चाहिए और मन्दीकाल में घाटे के बजट (Deficit Budgets) बनाकर अपने व्यय बढ़ाने चाहिए जिससे रोजगार तथा आय का स्तर ऊँचा हो सके और मन्दी काल में जो कीमत-स्तर में गिरावट आयी है वह समर्थ माँग (Effective Demand) बढ़ने के कारण ऊँचा हो सके। इस प्रकार सरकार अपने बजटों के माध्यम से अर्थव्यवस्था मुद्रा की गति को वांछित दिशा में लाती रहती है।

मुद्रा का महत्व (Importance of Money)

हम सब भलीभाँति परिचित हैं कि हमारे आधुनिक जीवन में मुद्रा एक अद्वितीय वस्तु है जिसने उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व के क्षेत्र को सुगम एवं विकसित बनाया है। हमारे जीवन का कोई भी ऐसा एक पहलू नहीं है जो मुद्रा के प्रभाव से अछूता रहा हो। आर्थिक विकास एवं प्रगति की कल्पना मुद्रा विहीन व्यवस्था में करना सम्भव नहीं है। कार्ल मार्क्स तथा उनके समर्थकों ने समाज में आर्थिक दोषों के लिए मुद्रा को उत्तरदायी मानकर इसे समाप्त करने की सिफारिश की थी और इसी के आधार पर रूस जैसे साम्यवादी देश में मुद्रा चलन बोलशेविकों के 1917 की रूसी क्रान्ति के बाद सत्ता में आने पर किया गया था परन्तु मुद्रा की समाप्ति से बहुत-सी आर्थिक गणनाओं तथा विकास के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित हो गई थीं और पुनः मुद्रा व्यवस्था को अपनाया गया था। हमें याद रखना चाहिए कि मुद्रा के यह दोष मनुष्य निर्मित हैं और इनसे समाज को बचाया जा सकता है। अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ तथा उनके समर्थक विद्वानों से लेकर आधुनिक विचारकों तक मुद्रा से सम्बन्धित दृष्टिकोण मुद्रा के महत्व पर प्रकाश डालने में समर्थ हैं।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व
(Importerce of Money in a Capitalist Economy)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व अद्वितीय है। पूँजीवादी व्यवस्था में इसे निम्नलिखित रूप से बताया जा सकता है —

(1) आर्थिक स्वतन्त्रता—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह उपभोक्ता हो, उत्पादक अथवा साहसी सभी अपने आर्थिक निर्णय लेने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं। अपने हितों की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र रूप से निर्णय लेकर वे अपनी गति की दिशा को निर्धारित करते हैं। यह कार्य मुद्रा द्वारा सुचारु रूप से किया जा सकता है।

(2) कीमत प्रणाली का आधार—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कीमत प्रणाली पर आधारित होती है। कीमत प्रणाली स्वयं मुद्रा द्वारा निर्देशित होती है।

मुद्रा वर्तमान समय में कीमत प्रणाली का आधार है। मुद्रा समाज में उपभोक्ता को दुर्लभ साधनों का मितव्ययितापूर्ण उपयोग करने के लिए प्रेरित करती है। कीमत-प्रणाली के द्वारा अर्थव्यवस्था में करोड़ों व्यक्तियों के भिन्न निर्णयों के मध्य समन्वय स्थापित होता है। इसके द्वारा उत्पादन के क्षेत्र में श्रम विभाजन व विशिष्टता के लाभ प्राप्त होते हैं तथा केन्द्रीय अधिकारियों के नियन्त्रण के बिना वस्तुओं का विनिमय होता है, कीमत

प्रणाली के द्वारा ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं या लोगों की उपभोग-रुचियों, प्रौद्योगिक तथा साधनों की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों के साथ समन्वय होता है।

पूँजीवादी समाज में आर्थिक क्षेत्र में होने वाले सभी परिवर्तनों का प्रमुख प्रेरणा स्रोत कीमत प्रणाली होता है। समाज में किसी वस्तु की माँग में वृद्धि होने के परिणाम-स्वरूप उस वस्तु की कीमत में वृद्धि होने के कारण उसके उत्पादन में वृद्धि होती है। कीमत-प्रणाली अर्थव्यवस्था में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों को कीमत परिवर्तनों का रूप देकर उत्पादन में पर्याप्त परिवर्तनों को सम्भव बनाती है। उदाहरणार्थ यदि उपभोक्ताओं की रुचियों में परिवर्तन हो जाने के कारण किसी वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाती है तो उस वस्तु की कीमत में अन्य वस्तुओं की कीमतों की तुलना में वृद्धि हो जायेगी। इससे उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन में वृद्धि तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन में कमी करेंगे। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों का उपभोक्ताओं की रुचियों के अनुसार पुनर्वितरण सम्भव हो सकेगा। अर्थव्यवस्था में कीमत प्रणाली के माध्यम द्वारा विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के मध्य उत्पादन साधनों का वितरण तथा पुनर्वितरण होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुद्रा मूल्य प्रणाली का आधार है जिससे सम्पूर्ण अर्थतन्त्र निर्देशित होता है।"

(3) **आर्थिक गतिविधियों के लिए आवश्यक**—सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधियाँ मुद्रा द्वारा ही निर्देशित होती हैं। उत्पादन उपभोग एवं वितरण के क्षेत्र में यह इस प्रकार काम करती है जिस प्रकार की मशीन के लिए किसी चिकनाई (Lubricant) की आवश्यकता होती है। उत्पादन के वर्तमान बड़े पैमाने एवं जटिलताओं को मुद्रा ने सुचारु रूप से गति प्रदान की है। श्रम-विभाजन विशिष्टीकरण एवं तकनीकी ज्ञान ने उत्पादन के क्षेत्र को बहुत अधिक कुशल बनाया है जिसका पूरा श्रेय मुद्रा व्यवस्था को ही जाता है।

मुद्रा द्वारा वितरण के क्षेत्र में उत्पत्ति के सभी साधनों का बँटवारा करने में सहायता मिलती है। प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की सेवाओं का मूल्यांकन करके उन्हें उचित वितरित करना सम्भव हो पाया है।

(4) **साख का आधार**—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था साख पर आधारित होती है। उत्पादक एवं व्यवसायी बैंक से धन उधार लेकर कच्चा माल खरीदते हैं। माल बनाकर वे थोक व्यापारियों को उधार पर बेचते हैं। थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी के लिए उधार देता है और फुटकर व्यापारी अपने ग्राहकों के लिए उधार देता है। उधार लेन-देन का यह क्रम मुद्रा द्वारा गति प्राप्त करता है। उधार दी गयी ली गई रकम पर ब्याज भी मुद्रा ही द्वारा तय होता है। इस प्रकार वर्तमान में एक व्यापारी कितना माल बेचकर भविष्य में कितना भुगतान प्राप्त करता है, इसका आधार मुद्रा ही है। इस प्रकार मुद्रा वर्तमान तथा भविष्य के बीच पुल का कार्य करती है।

(5) **पूँजी निर्माण का साधन**—पूँजीवादी व्यवस्था में समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा बचतों को अधिकतम लाभकारी योजनाओं में विनियोजित करके उत्पादन के स्तर को आवश्यकतानुसार आदर्श बिन्दु तक ले जाया जा सकता है। समाज की छोटी-छोटी बचतें एकत्रित होकर एक विशाल रूप धारण कर लेती हैं जिनको छोटी-छोटी पूँजी विनियोजक करने वाली फर्मों तथा बैंकों एवं अन्य उधार देने वाली संस्थाओं द्वारा विनियोजित करके आर्थिक विकास की गति को बढ़ाया जा सकता है। बचतें पूँजी निर्माण का महत्वपूर्ण साधन होती हैं और ये बचतें मुद्रा द्वारा की जाती हैं। इस प्रकार मुद्रा पूँजी निर्माण करने

पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति करती है। प्रो० ट्रेस्काट (Prof Trescot) ने कहा कि मुद्रा हमारे अर्थतन्त्र का हृदय नहीं तो रक्त तो अवश्य ही है।'

(6) आर्थिक प्रणाली की रीढ़ के रूप में—पूंजीवादी व्यवस्था में ही नहीं वरन् सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में मुद्रा ने आर्थिक व्यवस्था के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण एवं राजस्व आदि को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया है। आज राज्य की विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का आधार ही मुद्रा है। अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों में मुद्रा की उपयोगिता किसी से छिपी नहीं है।

इतना ही नहीं मुद्रा ने मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को स्वतन्त्रता प्रदान करने के साथ ही सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को प्रभावित किया है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व
(Importance of Money in a Socialist Economy)

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व कम नहीं है। कुछ साम्यवादी विद्वानों ने मुद्रा के दोषों को देखते हुए समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्व के प्रति नकारात्मक रवैया अपनाया था। समाजवादी अर्थव्यवस्था का नियन्त्रण एवं संचालन सरकार द्वारा होता है। कितना उत्पादन किया, किन किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाय, मजदूरी की दर क्या होनी चाहिए, उपभोग तथा वितरण व्यवस्था तथा वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण सरकार द्वारा होता है। सरकार का उद्देश्य लाभ अर्जित करना नहीं होता वरन् अधिकतम सामाजिक कल्याण में वृद्धि करना होता है। एक समाजवादी अर्थव्यवस्था की इन विशेषताओं के कारण इस व्यवस्था के समर्थकों ने मुद्रा को अनावश्यक वस्तु समझा था। निम्नलिखित कारणों से समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा की भूमिका नगण्य मानी जाती रही है—

(1) मुद्रा समाज में शोषण तथा आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण का साधन होती है इसलिए मुद्रा विहीन व्यवस्था अपनाकर इस दोष से बचा जा सकता है।

(2) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था राज्य द्वारा संचालित एवं नियन्त्रित होती है। समाजवादी व्यवस्था में निजी सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत आर्थिक स्वतन्त्रता जैसी कोई व्यवस्था नहीं होती इसलिए मुद्रा अनावश्यक होती है।

(3) मौद्रिक व्यवस्था पूंजी निर्माण तथा निजी लाभ से को बढ़ावा देती है जबकि समाजवादी व्यवस्था में ऐसी प्रणाली का कोई स्थान नहीं होता। सारी सम्पत्ति राष्ट्र की होती है जिस पर एक मात्र अधिकार राज्य का होता है।

(4) समाजवादी व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को द्विपक्षीय समझौता के आधार पर करने के पक्ष में होती है न कि स्वतन्त्र व्यापार। द्विपक्षीय व्यापार के आधार पर वस्तुओं का आदान प्रदान होता है। मुद्रा प्रणाली द्वारा किया गया विदेशी व्यापार शोषण को बढ़ावा देता है।

प्रमुख साम्यवादी प्रो० कार्ल मार्क्स ने मुद्रा को सभी बुराइयों की जड़ माना था और कहा था कि मुद्रा समाज में शोषण को बढ़ावा देती है। मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (The Theory of Surplus Value) उनके मुद्रा विरोधी अभियान का ज्वलन्त उदाहरण है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त के द्वारा यह बताने का प्रयास किया है कि श्रमिकों को उनके श्रम के बराबर का हिस्सा नहीं मिलता और पूंजीपति मजदूरों को मुद्रा रूपी इकाइयों में जो भुगतान करते हैं वह उनकी मजदूरी से बहुत कम होता है। श्रमिकों का शोषण मुद्रा

व्यवस्था में होता है। वह कहते थे कि श्रमिकों के श्रम को आंकने में मुद्रा दोषपूर्ण है। साम्यवादी व्यवस्था में मुद्रा का अन्त हो जायगा और वस्तुओं का वस्तुओं से आदान प्रदान किया जाएगा। कार्ल मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर सन् 1917 में बोल्शेविक पार्टी रूस में सत्तारूढ़ हुई और उसने रूस में मुद्राविहीन अर्थव्यवस्था को अपनाने का संकल्प किया। बोल्शेविक पार्टी के सत्ता में आने के बाद सरकारी व्यय की पूर्ति के लिए रूसी सरकार ने अधिक मुद्रा की निकासी की। सन् 1918 में मुद्रा स्फीतिक स्थितियों ने भयानक रूप धारण कर लिया। मुद्रा स्फीतिक स्थितियों पर काबू पाने की दृष्टि से सरकार ने मुद्रा समाप्ति की घोषणा की परन्तु कुछ ही महीनों बाद रूसी सरकार के सामने बहुत सी गणना सम्बन्धी कठिनाइयाँ आने लगीं। आर्थिक योजनाओं के मूल्यांकन, विभिन्न क्षेत्रों की प्रगति तथा अन्य गणनाएँ बिना मुद्रा के सम्भव नहीं थीं। सरकार के सामने मुद्रा के अभाव में बहुत सी कठिनाइयाँ आईं। सन् 1921 में महान क्रान्तिकारी लेनिन ने रूसी सरकार की मुद्राविहीन अर्थव्यवस्था अपनाने की आलोचना करते हुए कहा था "बोल्शेविकों का यह विचार उनके जीवन की महान भूल थी कि समाजवादी गणना तथा नियन्त्रण की अवधि के बिना साम्यवाद आ सकता है। अक्टूबर 1921 में साम्यवादी विचारक ट्राटस्की ने (Trotsky) यह घोषणा की थी "मुद्रा के बिना आर्थिक योजनाओं की प्रगति का सही मूल्यांकन करना सम्भव नहीं है। प्रो० ट्राटस्की के शब्दों में, "सरकारी कार्यालयों में बनायी गयी योजनाओं की आर्थिक सार्थकता वाणिज्य गणनाओं के आधार पर आँकी जानी चाहिए। बिना एक सुदृढ़ मौद्रिक इकाई के व्यापारिक लेखांकन केवल गड़बड़ी ही पैदा करेगा।"[1] लेनिन तथा ट्राटस्की जैसे महान साम्यवादी विचारक भी मुद्रा को समाजवादी व्यवस्था के लिए आवश्यक मानते थे। ट्राटस्की ने तो यहाँ तक कहा है कि एक समाजवादी व्यवस्था में शक्तिशाली मुद्रा का होना नितान्त आवश्यक है।

एक प्रसिद्ध विचारक प्रो० ए० पी० लर्नर का कहना है कि समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा अनावश्यक नहीं है। वे कहते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में कीमत प्रक्रिया (Price Mechanism) का विशेष महत्व है परन्तु समाजवादी व्यवस्था में भी यह आवश्यक है। उन्हीं के शब्दों में, "किसी भी प्रकार की कठिनाइयों से भरी अर्थव्यवस्था का बिना कीमत-प्रक्रिया के कुशलतापूर्वक चलना असम्भव होता है।"[2] एक अन्य मौद्रिक अर्थशास्त्री जार्ज एन० हाम (George N Halm) का कहना है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वे कहते हैं कि यद्यपि उत्पादन के लक्ष्य एक तानाशाह द्वारा ही

---

1 The blue prints produced by offices must demonstrate their economic expendiency through commercial calculations Without a firm monetary unit commercial accounting can only increase the chaos "
—L D Trotsky

2 It is impossible for an econcmic system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency without a price—mechanism '
—A P Lerner

क्यों न निर्धारित किए जाएँ तो भी इन लक्ष्यों के अनुसार साधनों का सही प्रकार से बँटवारा कीमत-प्रक्रिया के फलस्वरूप ही सम्भव होगा क्योंकि इसी के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार के उपलब्ध साधनों की उपयोगिता की तुलना की जा सकती है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना मुद्रा को अपनाए हुए हम अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से चला नहीं सकते। वर्तमान समय में रूस चीन तथा अन्य कई समाजवादी देशों का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ कि एक शक्तिशाली मुद्रा इकाई अपनायी जा रही है और वहाँ आर्थिक शोषण तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण का अभाव पाया जाता है। वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था राज्य के अधीन है और वहाँ फिर भी विनिमय का माध्यम तथा हिसाब-किताब की इकाई के रूप में मुद्रा कार्य कर रही है। उत्पत्ति के साधनों का पारिश्रमिक मुद्रा के रूप में आंका जाता है आर्थिक स्वतन्त्रता जो भी है वह राज्य के नियमों के अधीन है। राष्ट्रीय वेतन नीति के अनुसार तथा अधिकतम वेतनों की दरें निश्चित है। रूस तथा चीन जैसे साम्यवादी अर्थव्यवस्था वाले देशों में आर्थिक साधनों का बँटवारा कीमत-प्रणाली (Price-Mechanism) द्वारा नहीं होता फिर भी मुद्रा विनिमय के माध्यम तथा मूल्य मापन का कार्य करती है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व किसी भी प्रकार से कम नहीं है। इसके कुछ अपवाद समाजवादी व्यवस्था में हो सकते हैं जिनसे यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि समाजवादी अर्थव्यवस्था सुचारु मुद्रा को अपनाए बिना काम कर सकती है। प्रसिद्ध मौद्रिक अर्थशास्त्री जार्ज एन० हेम (George N. Halm) ने ठीक ही लिखा है कि "सामाजिक अर्थव्यवस्था सदैव एक मौद्रिक अर्थव्यवस्था रही है और सम्भवतः ऐसी ही रहेगी।"

प्रायोगिक एवं परिवर्तित विश्व प्रणाली इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि भले ही किसी भी देश की अर्थव्यवस्था साम्यवादी हो या पूँजीवादी या फिर एक नियोजित मुद्रा के अभाव में अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से चलाना सम्भव नहीं है। यह सही है कि एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का उतना महत्व नहीं है जितना कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में होता है परन्तु फिर भी समाजवादी व्यवस्था मुद्राविहीन अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती। एक अन्य स्थान पर प्रो० आस्कर लांगे (Prof Oscar Lange) कहते हैं कि "समाजवादी अर्थव्यवस्था में मूल्य पद्धति आर्थिक नियमों एवं व्यापारों के कुशल मार्ग निर्देशन का कार्य करती है किन्तु जब तक मूल्य मुद्रा के अंकों में प्रकट न किए जाएँ तब तक मूल्य पद्धति निरर्थक रहेगी।"

एक नियोजित अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व
(Importance of Money in a Planned Economy)

नियोजित अर्थव्यवस्था का आशय ऐसी अर्थव्यवस्था से है जिसका संचालन पूर्व नियोजित कार्यक्रमानुसार किया जाता है। यह अर्थव्यवस्था रूस की तरह समाजवादी, भारत की तरह मिश्रित या फिर किसी प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था हो सकती है। नियोजित

1. "Even if the aims of production should be determined by a dictator the allocation of resources according to these aims would have to be the result of the working of a pricing process by means of which it is possible to compare the usefulness of the available resources in different fields of employment' —*George N. Halm*

अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में प्राथमिकताएँ निर्धारित कर दी जाती हैं और फिर उन्हीं के अनुसार कार्य होता है चाहे वह उत्पादन का क्षेत्र हो, या उपभोग या अन्य आर्थिक विकास का हो, केन्द्र एवं राज्य सरकारों के वित्तीय संसाधनों की प्राप्ति एवं उनके वितरण का कार्य तथा सरकार की विभिन्न नीतियाँ नियोजित कार्यक्रम के आधार पर लागू होती है। एक नियोजित अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व निम्नलिखित तथ्यों से आँका जा सकता है—

(1) **मुद्रा का निर्देशित उपयोग**— नियोजित अर्थव्यवस्था में मुद्रा के प्रवाह को निर्देशित एवं वांछित दिशा में करने का प्रयास किया जाता है। देश के केन्द्रीय बैंक एवं अन्य ऋण प्रदान एवं सृजित करने वाली संस्थाओं का प्रयोग इस प्रकार से किया जाता है जिससे कि मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन जल्दी-जल्दी न हो सके और राज्य की नीतियों में जनता का विश्वास बना रहे। प्राथमिकताओं को निश्चित करके उसी के आधार पर कार्य किया जाता है जिससे कि इन क्षेत्रों का विकास समुचित हो सके।

(2) **धन के संकेन्द्रण पर रोक**—ऐसी अर्थव्यवस्था में समाज के विभिन्न वर्गों की आय तथा धन के संग्रहण पर भी उचित नियन्त्रण रखने का प्रयास किया जाता है। इसका उद्देश्य यह होता है कि देश की सम्पत्ति कुछ व्यक्तियों के हाथों में संकेन्द्रित न हो सके। पूँजी विनियोजन एवं आय सम्बन्धी नीतियाँ इस प्रकार निर्मित की जाती हैं जिससे शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ावा न मिल सके तथा वितरण योजना देश के अधिक से अधिक नागरिकों को राहत पहुँचा सके।

(3) **विकास में सहायक**—नियोजित अर्थव्यवस्था में विकास कार्यों की पूर्ति घाटे के बजट बनाकर की जाती है। इस प्रकार नई मुद्रा विकास कार्यों को बढ़ावा देती है।

मुद्रा के दोष (Evils of Money)

हम देख चुके हैं कि वर्तमान समय में चाहे अर्थव्यवस्था का स्वरूप कुछ भी क्यों न हो बिना मुद्रा के उसका अस्तित्व कुछ भी नहीं। मुद्रा हमारी अर्थव्यवस्था को गति प्रदान करती है। विभिन्न प्रकार की आर्थिक क्रियाओं में मुद्रा इस प्रकार से काम करती है जैसे कि मशीन को चलाने के लिए चिकनाई या तेल डालने की आवश्यकता पड़ती है ठीक उसी प्रकार से मुद्रा भी आर्थिक क्रियाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए चिकनाई का कार्य करती है। जहाँ एक ओर मुद्रा ने हमारे लिए विभिन्न प्रकार के लाभ पहुँचाये हैं वहीं दूसरी ओर इसके कुछ दोष भी हैं। मुद्रा के यह दोष मुद्रा के स्वयं के न होकर मनुष्य निर्मित हैं। मुद्रा के बहुत से दोषों से बचा जा सकता है यदि व्यक्ति या समाज मुद्रा का उपयोग एक साधन के रूप में करे न कि साध्य के रूप में। मुद्रा को हम एक सेवक ही मानें इसे स्वामी कभी न बनने दें। जब कभी भी हम अनावश्यक रूप से मुद्रा को महत्व देने लगते हैं या हमारे सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक जीवन की क्रियाकलापों का मूल्यांकन जब मुद्रा द्वारा ही किया जाने लगता है तो निश्चित रूप से मुद्रा के दोष हमारे समक्ष प्रकट होते हैं। मुद्रा के दोषों को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(1) मुद्रा ने समाज को दो वर्गों अर्थात् हजूर-मजूर, धनी-निर्धन (Haves and Have-nots) में बाँट कर एक-दूसरे के प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न की है। धनी वर्ग निर्धन वर्ग का शोषण अपनी आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण के कारण करता है। इसमें इनके बीच कटुता का वातावरण उत्पन्न हुआ है।

(2) मुद्रा ने आर्थिक और राजनैतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है जिससे नई-नई बुराइयाँ समाज में उत्पन्न हो रही हैं।

(3) मुद्रा के कारण से उधार लेना देना आसान हुआ है और लोग अपनी आय से ज्यादा व्यय करने लगे हैं।

(4) मुद्रा ने समाज में स्फीतिक स्थितियों को जन्म दिया है जिससे कीमतों के बढ़ने की प्रवृत्ति लगातार बनी हुई है और निर्धन वर्ग जो पहले पेट भर भोजन करता था उसे कम भोजन से ही गुजारा करना पड़ता है। महंगाई के अनुपात से मजदूरी या वेतन वृद्धि न होने से लोगों पर इसका बुरा असर पड़ा है।

(5) मुद्रा ने लोभ लालच भ्रष्टाचार तथा अन्य नैतिक दोष उत्पन्न किए हैं। आज समाज में चोरी, डकैती भ्रष्टाचार मिलावट कम नाप तोल आदि बुराइयाँ अधिक मुद्रा को एकत्रित करने की प्रवृत्ति का परिणाम दिखाई देती हैं।

(6) सामाजिक स्तर तथा व्यक्ति के मूल्यांकन का आधार व्यक्ति के गुणों के स्थान पर मुद्रा ने ले लिया है।

मुद्रा के प्रति लोगों के बढ़ते हुए झुकाव से यह महसूस किया जाने लगा है कि आज समाज में जहाँ मुद्रा ने विकास और प्रगति के लिए मार्ग प्रशस्त किया है वहीं दूसरी ओर मुद्रा के प्रति लोगों का रुझान बहुत अधिक बढ़ गया है। आज सामाजिक और नैतिक मूल्यों का पतन होता जा रहा है मुद्रा के कारण भाईचारे आपसी सौहार्द का वातावरण समाप्त होता जा रहा है। लोग अपने स्वार्थ के आगे किसी का भी बड़े से बड़ा नुकसान करने में नहीं हिचकिचाते हैं। मुद्रा जो अच्छे सेवक के रूप में मनुष्य द्वारा किए गए आविष्कारों में एक महत्वपूर्ण आविष्कार मानी जाती है मनुष्य जाति की बड़ी सेवा की है परन्तु आज के भौतिकवादी युग में मुद्रा के प्रति लोगों के बढ़ने के रुझान और मुद्रा को आवश्यकता से अधिक महत्व देने का दुष्परिणाम यह हुआ है कि मुद्रा हमारी स्वामिनी बन गई है। मुद्रा के दोष मुद्रा की स्वामिनी रूप का ज्वलंत उदाहरण हैं।

मुद्रा का नियन्त्रण–मुद्रा के बताए गए उपर्युक्त दोष मुद्रा के स्वयं में नहीं हैं परन्तु यह दोष तो मुद्रा को आवश्यकता से अधिक महत्व देने तथा इसके दुरुपयोग के कारण उत्पन्न हुए हैं। मनुष्य जाति के लिए मुद्रा को एक वरदान के रूप में स्वीकार करते हुए तथा इसके अनियन्त्रित होने पर मनुष्य के लिए अभिशाप बताते हुए प्रो० रावर्टसन (Prof Robertson) का कथन उपर्युक्त ही प्रतीत होता है। वे कहते हैं 'मुद्रा जो मानव समाज के लिए अनेक वरदानों का स्रोत है, यदि इस पर नियन्त्रण न रखा जाए तो यह संकट और अव्यवस्था का कारण भी बन सकती है।'[2]

प्रो० रावर्टसन के उपर्युक्त कथन का अर्थ यह है कि यदि हम मुद्रा को मनुष्य जाति का वरदान ही बने रहने देना है तो हमें इसको नियन्त्रित करना चाहिए। 19वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विचारक प्रो० वाल्टर बेजहाट (Prof Walter Bagehot) ने भी मुद्रा पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पर जोर दिया था। उनका कहना था कि मुद्रा स्वयं अपनी व्यवस्था नहीं कर सकती इसलिए मुद्रा अधिकारी को समय-समय पर देश की आवश्यकतानुसार इसकी पूर्ति रखनी चाहिए। जिस समय दुनियाँ के विभिन्न देशों ने स्वर्णमान तथा रजतमान अपना रखा था उस समय मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन देश के व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होते थे वरन् स्वर्ण तथा रजत धातुओं की उपलब्धि के अनुसार इनमें परिवर्तन हुआ करते थे। इन धातुओं की खानें मिलने पर इनकी पूर्ति बढ़ जाती थी परिणाम-

---

1 'Money which is a source of so many blessings to mankind becomes also unless we can control it a source of peril and confusion"

—D H. Robertson

स्वर्ण इनम वनन या री मुद्राओं की पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती थी। वर्तमान समय में मुद्रा अधिकांशत पत्र-मुद्रा है जिसका स्वर्ण तथा रजत से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। आज के विकासवादी व प्रगतिशील युग में मुद्रा का उपयोग बहुत बढ गया है। मुद्रा के मूल्य में उच्चावचनों (Fluctuations) को रोकने का दायित्व देश के मुद्रा अधिकारी और वहाँ के केन्द्रीय बैंक पर होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि इसके मूल्य में गिरावट (मुद्रा-स्फीति) तथा इसके मूल्य का बढ़ना (अवस्फीति) दोनों ही स्थितियाँ समाज के लिए घातक है और इनसे तभी बचा जा सकता है जबकि मुद्रा की पूर्ति इसके मूल्य में स्थिरता बनाये रखे। बढ़ते हुए भौतिकवादी युग में जहाँ मुद्रा ने मनुष्य जाति के लिए अनेक सुविधाएँ जुटाई है वहीं दूसरी ओर इसके अनियन्त्रित प्रयोग से नैतिक और सामाजिक मूल्यों में गिरावट आई है। मुद्रा के दोषों से बचने का सही तरीका यही है कि हम इस नियन्त्रण में रखें और इसको उतना ही महत्त्व दें जितनी कि आवश्यकता है।

परीक्षा-प्रश्न

1. एक अर्थव्यवस्था में मुद्रा के चक्राकार प्रवाह से आप क्या समझते हैं? रेखा चित्र द्वारा चक्राकार प्रवाह की स्थितियाँ को समझाइए।

   (*What do you understand by the circular flow of money in an economy? Explain the stages of circular flow of money through diagrams*)

2. अर्थव्यवस्था में वास्तविक प्रवाहों तथा मौद्रिक प्रवाहों में विभेद कीजिए। आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं के सुचारू रूप से संचालन के लिए मौद्रिक प्रवाह क्या आवश्यक है?

   (Distinguish between Real Flows and Money Flows' in an economy Why are the money flows considered essential for the smooth working of modern Economics?)

   [*संकेत—अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रवाहों तथा मौद्रिक प्रवाहों की* चर्चा कीजिए। प्रवाह की स्थितियों को चित्रों द्वारा स्पष्ट कीजिए। अन्त में मौद्रिक प्रवाहों की बढ़ती हुई आवश्यकता को बताइए।]

3. एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की क्या भूमिका है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से वह किस प्रकार भिन्न है?

   (What is the role of money in a Socialist economy? How is it different from that in a Capitalist economy?)

4. "मुद्रा एक अच्छा सेवक किन्तु बुरा स्वामी है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

   ("Money is a good servant but a bad master" Explain this statement)

   [संकेत—मुद्रा के लाभ एवं दोषों को बताइए।]

   एक नियोजित अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्व को बताइए।

   (Discuss the *importance* of money in a planned economy?)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

6 निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही और कौन गलत है—

(i) द्रव्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा की चक्राकार गति से हमारी प्रगति का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(ii) मुद्रा के चक्राकार प्रवाह की गति में बाधा उत्पन्न होने से समस्त अर्थव्यवस्था लड़खड़ा जाती है।

(iii) मन्दी के समय अर्थव्यवस्था में मुद्रा की चक्राकार गति बढ़ती है।

(iv) मुद्रा विहीन अर्थव्यवस्था वर्तमान युग में सम्भव है।

(v) मुद्रा के दोष स्वयं के न होकर मनुष्य निर्मित है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) सही है। (iii) गलत है। (iv) गलत है। (v) सही है।

> 'When we say that the value of a thing depends on supply and demand, we do not or at any rate ought not to mean more then that we think it will be convenient to arrange the causes of changes in value under those two heads
>
> —*Cannon*

अध्याय 14

मुद्रा की पूर्ति तथा माँग

(THE SUPPLY AND DEMAND FOR MONEY)

अर्थशास्त्र में माँग और पूर्ति एक सामान्य सिद्धान्त है जिसका मूल्य निर्धारण सिद्धान्त में विशेष महत्व है। जब किसी वस्तु की पूर्ति उसकी माँग से बढ़ जाती है तो उस वस्तु का मूल्य गिरता है और जब वस्तु की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है तो उस वस्तु का मूल्य बढ़ता है। माँग और पूर्ति का यह सामान्य सिद्धान्त जब मुद्रा पर लागू किया जाए तो इसको मुद्रा के मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त कहा जाता है। हम मुद्रा की माँग और पूर्ति मुद्रा मूल्य निर्धारण अथवा मुद्रा परिमाण सिद्धान्त, से पहले अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) की व्याख्या मुद्रा की माँग और पूर्ति पर निर्भर करती है।

मुद्रा की माँग (Demand for Money)

मुद्रा की माँग मुद्रा को प्राप्त करने के लिए नही वरन् इसलिए की जाती है कि यह मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती है अथवा इसकी माँग मुद्रा द्वारा सम्पन्न किए जाने वाले कार्यों के आधार पर होती है। मुद्रा तो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन है, साध्य नही। मुद्रा की माँग बाजार में वस्तुओं तथा सेवाओं के आदान-प्रदान अथवा क्रय-विक्रय से सम्बन्धित होती है। मुद्रा की माँग निम्नलिखित कारणों से की जाती है—

(1) **विनिमय के माध्यम के लिए मुद्रा की माँग**—परम्परावादी अर्थशास्त्रियों (Classical Economist) के दृष्टिकोण से मुद्रा की माँग केवल वस्तुओं तथा सेवाओं के आदान-प्रदान के लिए ही होती है। मुद्रा की माँग केवल इसलिए की जाती है कि उसमें क्रय-शक्ति की क्षमता होती है जिसके द्वारा बाजार से वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त किया जाता है। मुद्रा की माँग प्रत्यक्ष न होकर व्युत्पन्न माँग (Derived Demand) होती है। इसका आशय यह है कि मुद्रा की माँग उसमें निहित वस्तुओं तथा सेवाओं को क्रय करने की क्षमता है। इस प्रकार मुद्रा की माँग का निर्धारण वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति द्वारा होता है। यदि किसी समय समाज के अन्दर लेन-देन अथवा विनिमय के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति बढ़ जाती है तो इनके आदान-प्रदान के लिए मुद्रा की माँग भी बढ़ जाएगी इसके विपरीत यदि वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति गिर जाती है तो मुद्रा की माँग भी कम

हो जाएगी। यदि हम ऐसा मान लें तो हमें पता चलता है कि किसी देश में एक निश्चित समयावधि में विनिमय के हेतु उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा मुद्रा की माँग का निर्धारण करती है। इस प्रकार मुद्रा की माँग तीन बातों पर निर्भर करती है (i) वर्तमान समय में उत्पादन से प्राप्त होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य (ii) अन्तिम वस्तुओं का उत्पादन मूल्य (iii) उन वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य जो भूतकाल में उत्पादित की गई थी अथवा जो वर्तमान में भी उपलब्ध हैं।

एक समयावधि में विनिमय के लिए उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति अनेक बातों से प्रभावित होती है जैसे उत्पत्ति के साधनों की स्थिति उत्पत्ति के साधनों के रोजगार की मात्रा उत्पत्ति के साधनों की कार्य-कुशलता अथवा दक्षता तथा तकनीकी ज्ञान उत्पत्ति का पैमाना (Scale of Production) उत्पादन तथा उपभोग में अन्तर, वस्तुओं के हस्तान्तरण की गति तथा बाजार की स्थिति आदि। इसके अतिरिक्त जनसंख्या का आकार, प्राकृतिक एवं भौगोलिक स्थिति, मुद्रा की पूर्ति तथा लोगों की आय आदि भी मुद्रा की माँग को प्रभावित करते हैं। मुद्रा की माँग अर्थव्यवस्था के स्वरूप एवं संरचना द्वारा भी तय होती है। एक अर्द्ध विकसित देश में मुद्रा की माँग विकसित देश की अपेक्षा कम होगी। मुद्रा की माँग से सम्बन्धित उपर्युक्त कारण अल्पकाल में स्थिर रहते हैं इसलिए अल्पकाल में मुद्रा की माँग भी स्थिर रहती है। इस प्रकार अल्पकाल में विनिमय के माध्यम के लिए मुद्रा की माँग स्थिर प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है। प्रो० इरविंग फिशर (Prof Irving Fisher) ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या मुद्रा के विनिमय माध्यम के कार्य से प्रभावित होकर की है। प्रो० फिशर भी प्रतिष्ठित अथवा परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के विचार से प्रभावित होकर की मुद्रा माँग से सम्बन्धित मान्यता अर्थात् मुद्रा की माँग वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति पर निर्भर करती है। परन्तु प्रतिष्ठित विद्वानों तथा प्रो० फिशर की यह मान्यता एक पक्षीय है क्योंकि मुद्रा की माँग भविष्य की अनिश्चितताओं से निपटने के लिए तथा सट्टे से लाभ अर्जित करने के लिए भी की जाती है।

नकदी के लिए मुद्रा की माँग[1]—*प्रो० फिशर की मुद्रा की माँग सम्बन्धित* आलोचना को करते हुए कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों तथा कुछ आधुनिक विद्वानों का कहना है कि मुद्रा की माँग मुद्रा के विनिमय के माध्यम कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही केवल नहीं की जाती वरन् मुद्रा की माँग उसके एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य मूल्य संचय (Store of Value) के लिए भी की जाती है। इन विद्वानों की मान्यता है कि मुद्रा की माँग एक निश्चित समयावधि में लोगों द्वारा वास्तविक राष्ट्रीय आय में से नकदी रखने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। मुद्रा की माँग का अर्थ नकद शेष (Cash Balances) से लगाया जाता है। हम यह याद रखना चाहिए कि जब कभी मुद्रा की माँग विनिमय माध्यम कार्य के लिए की जाती है तो इसका सम्बन्ध मुद्रा के चलन वेग (Velocity) तथा सभी प्रकार के लेन-देन से होता है जबकि नकद कोष के रूप में मुद्रा की माँग तथा उसके चलन-वेग का सम्बन्ध केवल उन वस्तुओं के विनिमय से होता है जो एक देश की कुल वास्तविक आय में शामिल होती है। इस प्रकार चलन वेग को आय-चलन वेग (Income Velocity of Circulation) की संज्ञा दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि आय चलन वेग का आकार लेन देन चलन वेग की अपेक्षा छोटा होता है।

उपर्युक्त दोनों स्थितियों में मुद्रा की माँग की व्याख्या हमें यह बताने में सहायता प्रदान करती है कि मुद्रा की माँग समाज में लोगों द्वारा किसलिए की जाती है। परन्तु इन दोनों उद्देश्यों के लिए की गई मुद्रा की माँग किस उद्देश्य के लिए कितनी है अर्थात् मुद्रा की कितनी माँग लेन-देन के उद्देश्य (प्रतिष्ठित तथा प्रो० फिशर के दृष्टिकोण से)

1 तरलता पसन्दगी अथवा मुद्रा की माँग की व्याख्या अध्याय 9 में देखें।

तथा मुद्रा की कितनी माँग उनके मूल्य सचय कार्य (प्रो० कैम्ब्रिज तथा आधुनिक विद्वानो के दृष्टिकोण से) के लिए की जाती है।

मुद्रा की माँग को हम निम्नलिखित समीकरण द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं—

$M = M_1 + M_2$

M = मुद्रा की कुल माँग

M_1 = मुद्रा की माँग जो कि लेन-देन तथा सतर्कता उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है।

M_2 - मुद्रा की माँग जो सट्टा उद्देश्य के लिए की जाती है।

मुद्रा की माँग से सम्बन्धित मिल्टन फ्रीडमैन की व्याख्या—अर्थव्यवस्था म नोबेल पुरस्कार विजेता शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मिल्टन फ्रीडमैन न मुद्रा की माँग का आशय जनता के पास सक्रिय मुद्रा की मात्रा तथा व्यापारिक बैंको के विदेशी कोष एव उनके चलन-वेग से लिया है। उनका कहना है कि मुद्रा की माँग और मूल्य-स्तर का विपरीत सम्बन्ध होता है। अर्थात् जब मूल्य-स्तर बढेगा तो मुद्रा की माँग (नकदी प्रवृत्ति) भी बढ जाती है वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने पास नकद मुद्रा रखता एव आवश्यक क्रिया समझता है। अन्य परिसम्पत्तियो को आरामदायक तथा विलासता सम्बन्धी आवश्यकताओ की भाँति समझता है। आय मे वृद्धि होने पर मुद्रा की मात्रा उस अनुपात म नही बढती जिस अनुपात मे परिसम्पत्तिया म वृद्धि होती है। परन्तु आय मुद्रा तथा परिसम्पत्तियो की मात्रा आपस मे एक दूसरे से सम्बन्धित होती है। प्रो० फ्रीडमैन की मुद्रा की माँग के विचार को हम निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—

$$M = f(P, Y \frac{1}{p}\frac{dp}{dt}, rb\ \ re\ \ w, u)$$

M = मुद्रा की कुल माँग

f = फलन है

P = मूल्य स्तर (Price Level)

Y = कुल राष्ट्रीय आय (Total National Income)

$\frac{1}{p}\cdot\frac{dp}{dt}$ = मुद्रा की एक इकाई के बदले मे उपलब्ध भौतिक माल की मात्रा (Quantity of Material Units Available Against one Unit of Money)

rb = बाण्ड्स पर मिलने वाली ब्याज की दर (Rate of Interest Available on bonds)

re = अंशो पर लाभांश (Yields on Equities)

w = सम्पत्तियों का मानवीय सम्पत्ति से अनुपात (Wealth and its Ratio with Human Wealth)

u = उपयोगिता निर्धारित करने वाले वे तत्व जो अभिरुचियो तथा प्राथमिकताओ को प्रभावित कर सकते हैं। (Utility Determining Variables which tend to Influence Preferences)

प्रो० मिल्टन फ्रीडमैन का कहना है कि मुद्रा की माँग अर्थव्यवस्था मे विभिन्न तत्वो द्वारा प्रभावित होती है जैसे ब्याज की दर, आय, सम्पत्ति, मूल्य स्तर इत्यादि।

वास्तविक आय म जो परिवतन होते हैं उनस विनिमय का स्तर प्रभावित होता है जो मुद्रा की मांग को प्रभावित करता है। मुद्रा की मांग की लोच आय की मांग की लोच स अधिक होती है।

अर्थात् $\frac{\Delta M}{\Delta Y} > 1$

ΔM = मुद्रा की मांग म परिवर्तन

ΔY = वास्तविक आय म परिवतन

प्रो० फ्रीडमैन क मुद्रा की मांग के समीकरण स स्पष्ट होता है कि मुद्रा नकदी की मात्रा जिस व्यक्ति अपन पास रखना चाहता है उसकी आय म परिवतन क अनुपात स अधिक होता है। मिल्टन फ्रीडमैन ने मुद्रा की मांग का व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)

मुद्रा की पूर्ति म वैधानिक मुद्रा अथवा साधारण मुद्रा तथा साख मुद्रा अथवा एच्छिक मुद्रा दोनो ही होती है। एक देश की सरकार की जो मुद्रा होती है उस सामान्य तया उस देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकार क आदेश पर निकाला जाता है। सरकार द्वारा निकाली जाने वाली मुद्रा को विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money) कहते हैं। ऐसी मुद्रा को स्वीकार करना कानूनी रूप स अनिवाय होता है। इस मुद्रा म कागजी मुद्रा तथा उसकी सहायक मुद्रा (Token Money) को शामिल किया जाता है। कानूनी मुद्रा क अतिरिक्त साख मुद्रा को भी मुद्रा की पूर्ति म शामिल किया जाता है। यह साख मुद्रा व्यापारिक बैंको द्वारा निर्गमित की जाती है। साख मुद्रा को ऐच्छिक मुद्रा की सज्ञा भी दी जाती है क्योकि साख मुद्रा की स्वीकृति अनिवाय न होकर ऐच्छिक होती है। साख मुद्रा का उपयोग साख मुद्रा सृजित करन वाली बैंकिंग तथा व्यापारिक सस्थाओ द्वारा ही स्वीकार किया जाता है। ऐसी मुद्रा प्राय साख निर्गमित करन वाली सस्थाओ म निहित विश्वास पर आधारित होती है। साख मुद्रा एक प्रकार का ऐसा अधिकार अथवा दावा होता है जिसक आधार पर बैंक स साधारण अथवा कानूनी मुद्रा प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार क अधिकार एव दावा को विभिन्न नामो से पुकारा जाता है जैसे साख मुद्रा बैंक मुद्रा, जमा मुद्रा, चेक युक मुद्रा अथवा प्रतिस्थापित मुद्रा (Credit Money Bank Money Deposit Money, Cheque Book Money or Money Substitutes)। चूंकि साख-मुद्रा का प्रयोग भी विनिमय के माध्यम तथा अन्य मुद्रा के कार्यो के रूप म होता है इसलिए इसे भी मुद्रा की सज्ञा दी जाती है। एक विकसित देश मे विकासशील देश की अपेक्षा साख मुद्रा क चलन की परम्परा अधिक एव सुविधाजनक समझी जाती है।

बैंको क पास जितनी जमा मुद्रा होती है वह भी विभिन्न प्रकार क जमा खाता म रहती है। चालू जमा खाते (Current Accounts) म मुद्रा जमा होती है उस राशि को जमाकर्त्ता द्वारा बिना किसी पूर्व सूचना क निकाला जा सकता है अथवा उस बैंक पर चेक काटकर निकाला जा सकता है इन्हे मांग जमा (Demand Deposits) कहते हैं। इसक अलावा सेविंग्स बैंक खाते (Savings Bank Accounts) म जमा राशि का भी नियमानुसार एक सप्ताह म धनराशि निकालन की सुविधा होती है इन्हे भी मांग जमाराशि म रखा जाता है अर्थात् मुद्रा की मांग जमाकर्ता द्वारा निकालने की सुविधा दी जाती है। एक जमाखाता निश्चितकालीन जमाखाता (Fixed Deposits) होता है जिसम जमा की जाने वाली राशि जमाकर्त्ता को एक निश्चित समयावधि अथवा एसी जमाओ की परिपक्वता मर्यादा पर ही दी जाती है। ऐसी जमाओ को सावधि जमा (Time Deposits) भी कहते है।

यदि किसी जमाकर्त्ता को काल जमा से अपनी धनराशि निकालनी पड़ जाए या उसे परिपक्वता अवधि से पहले ही धनराशि की आवश्यकता पड़ जाए तो बैंक ऐसी धनराशि के निकालने पर ब्याज की दर थोड़ा अधिक लेकर जमाकर्त्ता को धनराशि दे सकता है। दूसरे शब्दों में हम यह सकते हैं कि जमाकर्त्ता को ब्याज की सम्पूर्ण राशि के स्थान पर कम ब्याज देकर बैंक यह धनराशि वापस कर सकता है अथवा बैंक ने यदि इस सम्बन्ध में जो भी नियम बना रखे हैं उन्हीं के अनुसार इस प्रकार की जमाराशि परिपक्वता अवधि (Maturity Period) से पहले दी जा सकती है। काल जमा राशि में तरलता उतनी नहीं होती इसलिए इन्हें मुद्रा न कहकर अर्द्धजमा अथवा निकट मुद्रा (Quasi Money or Near Money) की संज्ञा दी जाती है। बैंक मुद्रा की मात्रा निर्धारित करते समय केवल माँग जमाओं (Demand Deposits) को ही लिया जाता है। क्योंकि ऐसी जमाओं को हम बैंक पर चैक लिख कर काट सकते हैं।

मुद्रा की मात्रा निर्धारित करते समय हमें कुल मुद्रा में तीन प्रकार की मुद्रा शामिल करनी चाहिए (1) देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित कागजी नोटों की मात्रा, (2) सरकार द्वारा सिक्कों की मात्रा (3) बैंकों में माँग जमा धनराशि। इस प्रकार किसी समयावधि में हमें मुद्रा की कुल मात्रा ज्ञात करने में उपर्युक्त तीन स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है।

मुद्रा की प्रभावी पूर्ति (Effective Supply of Money)

सरकार या देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा जो भी मुद्रा की मात्रा निकाली जाती है वह समस्त मुद्रा की पूर्ति में शामिल नहीं की जाती। इसमें केवल प्रभावी मुद्रा की पूर्ति को ही लेना चाहिए। प्रभावी मुद्रा की पूर्ति से हमारा आशय उस मुद्रा की मात्रा से होता है जो कि चलन (Circulation) में होती है। मुद्रा की कुल पूर्ति को भी सामान्यतया हम दो भागों में बाँटते हैं। प्रथम वह भाग जो केन्द्रीय बैंक सरकारी खजाने तथा व्यापारिक तथा राष्ट्रीयकृत बैंकों के पास आरक्षित मुद्रा (Reserve Money) के रूप में रखा रहता है। ऐसी मुद्रा कोष या फण्ड के रूप (Basic or Reserve Money) में रहती है प्रचलन (Circulation) में नहीं। इसलिए मुद्रा की पूर्ति गणना में इसके केवल उसी भाग को लिया जाता है जो प्रचलन में आ जाता है। दूसरे भाग में मुद्रा जिसका प्रचलन जनता के मध्य होता है जिसमें व्यक्ति, फर्में राज्य सरकारें, स्थानीय निकायों तथा निगम आदि आते हैं। मुद्रा की प्रभावी पूर्ति में कुल मुद्रा की मात्रा में हम दूसरे भाग यानि उस मुद्रा को शामिल करते हैं जो व्यय योग्य जनता के हाथों में पहुँचती है। इस प्रकार प्रभावी मुद्रा जानने के लिए हम मुद्रा की कुल पूर्ति में से उस भाग को निकाल देना चाहिए जो कि केन्द्र सरकार, बैंकों आदि के पास आरक्षित मुद्रा (Reserve Money) के रूप में रहती है। मुद्रा मूल्य निर्धारण में मुद्रा की प्रभावी पूर्ति को ही मान्यता दी जाती है। इसके अतिरिक्त औसत रूप से मुद्रा की एक इकाई दिन में या एक समयावधि में जितनी मुद्रा का कार्य करती है इसे मुद्रा का चलन-वेग कहते हैं और मुद्रा की प्रभावी पूर्ति को उसके चलन-वेग से गुणा करने के बाद ही प्रभावी पूर्ति का पता किया जा सकता है। प्रो० इरविंग फिशर ने अपने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या में कानूनी मुद्रा तथा साख मुद्रा के प्रचलन वेग को मुद्रा की पूर्ति में महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

मुद्रा का चलन वेग (*Velocity of Money*)

मुद्रा के चलन वेग से आशय एक समयावधि में औसत रूप से मुद्रा की एक इकाई द्वारा जितनी इकाइयों का कार्य किया जाता है, से होता है। उदाहरणार्थ यदि एक समयावधि में औसतन एक रुपया पाँच हाथों से गुजरता है तो वास्तव में वह एक रुपया है परन्तु

चूँकि वह पाँच लोगों के हाथों से गुजरता है तो वह एक रुपये का काम न करके पाँच रुपये का कार्य करता है इसलिए मुद्रा की प्रभावी पूर्ति म 1 रुपया $\times 5 = 5$ रुपय मानी जानी चाहिए।

मुद्रा विभिन्न प्रकार की होती है और उनका चलन-वेग भी अलग-अलग होता है। कानूनी मुद्रा तथा साख मुद्रा का प्रचलन में भी अन्तर पाया जाता है। इसी प्रकार सांकेतिक अथवा सिक्कों के प्रचलन-वेग में अन्तर होता है। हम सभी प्रकार की कानूनी मुद्रा तथा साख मुद्रा का चलन-वेग औसत रूप से निकाल लेते हैं।

मुद्रा के चलन-वेग को हम राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित भी कर सकते हैं। जब हम मुद्रा के चलन वेग को राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित करते हैं तो हम एक निश्चित समयावधि (सामान्यतया एक वर्ष) में केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं को लेन-देन में शामिल करते हैं जो कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय (Real National Income) का प्रतिनिधित्व करती है। इसे मुद्रा आय प्रचलन-वेग (Income Velocity of Money) कहते हैं। मुद्रा के आय प्रचलन वेग की विचारधारा को कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या में अपनाया था जबकि प्रो० फिशर ने मुद्रा के नगद भुगतान-वेग (Transactions Velocity of Money) को मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या में अपनाया है।

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने कहा है कि वास्तविक आय में शामिल वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए मुद्रा के प्रयोग की स्थिति उसी समय मानी जायेगी जबकि वह किसी व्यक्ति द्वारा अपनी आय के रूप में प्राप्त की जाती है। इस प्रकार मुद्रा के आय प्रचलन वेग म मुद्रा के उस औसत को व्यक्त किया जाता है जो कि मुद्रा की एक इकाई के एक निश्चित समयावधि में अंतिम आय प्राप्तकर्त्ताओं के नकद शेषों में शामिल होती है या उनसे बाहर निकलती रहती है। राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित मुद्रा के प्रचलन-वेग को हम निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं

$$V = \frac{NNP}{M} \text{ अथवा } \frac{PQ}{M}$$

V = Velocity of Money (मुद्रा का प्रचलन-वेग)

NNP = Net National Product at Current Prices (चालू मूल्यों पर शुद्ध राष्ट्रीय आय)

P = Price-Level (कीमत स्तर)

Q = Total Quantity of Goods Relating to Uational Income (कुल वस्तुओं की मात्रा जो राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित होती है।

M = Money Supply (मुद्रा की पूर्ति)

मुद्रा के प्रचलन वेग को निर्धारित करने वाले कारण (Factors Determining Velocity of Money)

मुद्रा के प्रचलन-वेग में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा का प्रचलन वेग निम्न तथ्यों द्वारा प्रभावित होता है—

(1) **मुद्रा की उपलब्ध मात्रा**—किसी समय अर्थव्यवस्था में मुद्रा के प्रचलन वेग पर मुद्रा की मात्रा अपना प्रभाव डालती है उदाहरणार्थ यदि उपलब्ध मुद्रा की मात्रा अथवा पूर्ति उसकी मांग की अपेक्षा अधिक होगी तो मुद्रा की एक इकाई का औसत चलन-वेग

कम होगा और मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से कम होगी तो मुद्रा का चलन-वेग भी अधिक होगा क्योंकि ऐसी स्थिति में मुद्रा की एक इकाई औसत रूप से अधिक बार वस्तुओं तथा सेवाओं के लेन-देन में प्रयोग में लाई जाएगी।

(2) भुगतान की विधि—यदि लोग उधार लेन-देन की अपेक्षा नकद रूप से भुगतान करेंगे अथवा लोगों द्वारा भुगतान नकद मुद्रा के रूप में होगा तो मुद्रा का चलन-वेग औसत रूप से अधिक होगा।

(3) उपभोग प्रवृत्ति—लोगों में अधिक उपभोग प्रवृत्ति पाई जाएगी और बचत कम होगी तो मुद्रा का प्रचलन-वेग बढ़ेगा जबकि इसके विपरीत की स्थिति में होने पर यह कम होगा।

(4) उधार सौदों के भुगतान की अवधि—मुद्रा का चलन वेग इस बात पर भी निर्भर करता है कि अर्थव्यवस्था में जिन सौदों का उधार लेन-देन होता है उनके भुगतान की अवधि कैसी है। उदाहरणार्थ यदि उधार लेन-देन की औसतन भुगतान अवधि कम है तो मुद्रा का चलन-वेग अधिक होगा और इसके विपरीत यदि उधार सौदों के भुगतान की अवधि अधिक है तो चलन वेग भी औसतन कम होगा।

(5) तरलता पसन्दगी—जब लोग नकदी अपने पास रखना अधिक पसन्द करेंगे तो मुद्रा का चलन-वेग औसतन कम होगा। इसके विपरीत लोगों में तरलता पसन्दगी कम होने पर चलन वेग अधिक होगा।

(6) मजदूरी भुगतान का तरीका—सामान्यतया यदि अर्थव्यवस्था में उत्पादक या साहसी अपने संस्थान में कार्यरत मजदूरों या वेतन भोगी कर्मचारियों को भुगतान लम्बे समय के बाद करते हैं तो चलन-वेग कम होगा क्योंकि अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोग नकदी अपने पास रखना अधिक पसन्द करेंगे। इसके विपरीत यदि भुगतान की विधि दैनिक या प्रति सप्ताह होगी तो मुद्रा का चलन वेग अधिक होगा।

(7) यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों की स्थिति—यदि देश में यातायात तथा सन्देशवाहन के साधन उन्नतिशील हैं तो इससे बाजार तथा विनिमय का क्षेत्र व्यापक होगा और मुद्रा का चलन-वेग भी अधिक होगा।

(8) देश के कीमत स्तर की प्रवृत्ति—यदि लोगों को यह आभास हो जाय कि आने वाले समय पर वस्तुओं की कीमतें बढ़ेंगी तो लोग वस्तुओं को अधिक से अधिक संग्रह करके अपने पास रखेंगे जिससे मुद्रा की इकाइयों को जल्दी-जल्दी विनिमय कार्य के लिए उपभोग में लाया जाएगा और उसका चलन वेग बढ़ेगा।

(9) आर्थिक विकास की स्थिति—यदि देश की आर्थिक विकास का स्तर ऊँचा होगा तो इसमें विनिमय का स्तर भी ऊँचा होगा और मुद्रा का चलन-वेग बढ़ेगा इसके विपरीत स्थिति में मुद्रा का चलन वेग गिरेगा।

(10) आर्थिक सम्पन्नता तथा बैंकिंग प्रणाली—जब देश में आर्थिक सम्पन्नता अधिक होगी और बैंकिंग प्रणाली का विकास होगा तो साख मुद्रा का प्रचलन-वेग भी बढ़ेगा इसके विपरीत स्थिति होने पर प्रचलन-वेग गिरेगा।

(11) राजनैतिक स्थिति—जिस देश में राजनैतिक शान्ति का वातावरण रहता है वहाँ लोग स्वतन्त्रतापूर्वक उधार विनिमय क्रियाओं में भाग लेते हैं, परिणामस्वरूप मुद्रा के प्रचलन वेग में वृद्धि होती है। जहाँ राजनैतिक अस्थिरता का वातावरण बना रहता है वहाँ

लोगों में अविश्वास का वातावरण उत्पन्न हो जाता है और यहाँ तक लोग नकद लेन-देन अधिक करते हैं परिणामस्वरूप मुद्रा के प्रचलन वेग में वृद्धि होती है।

मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन (Changes in the Money Supply)

मुद्रा की पूर्ति के प्रायः तीन स्रोत ही प्रमुख हैं (1) सरकार द्वारा मुद्रा की पूर्ति, (2) देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति (3) बैंकों द्वारा मुद्रा की पूर्ति अथवा साख मुद्रा। यह तीनों ही मुद्रा पूर्ति के स्रोत विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियाँ (Assets) को प्राप्त करते हैं और इन्हीं के आधार पर मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करते हैं और यही इन संस्थाओं के दायित्व (Liabilities) होते हैं जिनके भुगतान की जिम्मेदारी इनके ऊपर होती है। चूँकि यह दायित्व माँगने पर सामान्यतया देय (Payable on Demand) होते हैं इसलिए इन्हें ऋणों तथा अन्य भुगतानों के माध्यम से स्वीकार किया जाता है। सरकार केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों द्वारा कुल मुद्रा की पूर्ति में समय समय पर परिवर्तन इन संस्थाओं की मौद्रिक नीति द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। किसी समय एक देश में मुद्रा की पूर्ति में कैसे परिवर्तन हो जाते हैं। इसके लिए हमें उपर्युक्त वर्णित तीन स्रोतों की मुद्रा निर्माण या पूर्ति प्रक्रिया को समझना होगा।

सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन देश की कानून मुद्रा की पूर्ति उस देश की सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा की जाती है। इन दोनों की कार्यविधि तथा मौद्रिक नीति का देश की मुद्रा पूर्ति पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सरकार तथा केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन तथा सहायक मुद्रा निकालने का एकाधिकार प्राप्त है। इतना ही नहीं केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य साख मुद्रा का नियन्त्रण करना भी है इस कारण देश का केन्द्रीय बैंक अपने पास उपलब्ध साख नियन्त्रण विधियों (Methods of Credit Control) द्वारा देश के व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण शक्ति को वांछित दिशा में लाने के लिए अपने अधिकारों का प्रयोग करता है। वह मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों के माध्यम से अर्थव्यवस्था का कुशलतापूर्वक संचालन कर सकता है। देश का केन्द्रीय बैंक सरकार के एजेण्ट अथवा प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है परन्तु फिर भी कुछ मामलों में वह स्वायत्त रूप भी बनाए हुए है।

भारत में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करता है और 2, 5, 10, 20, 50, 100 तथा 500 रुपये के नोट रिजर्व बैंक द्वारा उसके गवर्नर के हस्ताक्षर से जारी किए जाते हैं। इसके साथ ही एक रुपये का नोट, सिक्के तथा 50, 25, 20, 10, 5, 3, 2 तथा 1 पैसे के सिक्के सरकार द्वारा जारी किए जाते हैं। किसी भी देश का केन्द्रीय बैंक चूँकि सरकार के नियन्त्रण में होता है इसलिए वह नोटों की उतनी ही मात्रा जारी करता है जितने के लिए सरकार से उसे आदेश प्राप्त होता है। अतः सामान्य काल में वह पुराने नोटों को प्रचलन से हटाकर नए नोटों का निर्गमन कर सकता है। सरकार के बढ़ते हुए दायित्वों को देखते हुए अथवा सरकार की राजकोषीय नीतियों से प्रभावित होकर मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। जब सरकार घाटे के बजट प्रस्तुत करती है तो इसकी पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit Financing) की नीति अपनाती है। हीनार्थ प्रबन्धन सरकार केन्द्रीय बैंक से अतिरिक्त मुद्रा का निर्गमन तथा आन्तरिक ऋणों (व्यक्तियों तथा बैंकों) द्वारा अथवा विदेशी ऋणों द्वारा कर सकती है। जब यह ऋण व्यक्तियों अथवा बैंकों से लिए जाते हैं तो सरकार इन ऋणों के बदले में प्रतिभूतियाँ (Securities) बनती है जिसका प्रभाव यह होता है कि बैंकों के पास कोष में पड़ी हुई निष्क्रिय मुद्रा का एक भाग सक्रिय मुद्रा का रूप धारण कर लेता है। सरकार बैंकों से जो

ऋण प्राप्त करती है उसे घाटे की पूर्ति के लिए व्यय किया जाता है जिससे मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। मुद्रा की इस पूर्ति का एक भाग सरकार द्वारा व्यय करने पर पुनः बैंकों के पास जमा राशि के रूप में पहुँच जाता है जो कि बैंकों की प्रारम्भिक जमाओं को बढ़ाता है परिणामस्वरूप बैंकों की साख निर्माण शक्ति बढ़ जाती है। यह स्थिति एक विकसित अर्थव्यवस्था वाले देश में पाई जाती है। अर्द्ध विकसित अथवा विकासशील देशों में साधनों की स्वल्पता सार्वजनिक ऋणों पर सरकार की निर्भरता को सीमित करती है। इसलिए अर्द्ध-विकसित देशों में हीनार्थ प्रबन्धन का मुख्य स्रोत सरकार द्वारा देश के केन्द्रीय बैंक से अधिक नोट निर्गमित कराकर ऋण प्राप्त करना होता है। ऐसे ऋण की जमानत के रूप में केन्द्रीय बैंक को सरकार द्वारा कोषागार विपत्र अथवा प्रतिभूतियाँ (Treasury Bills or Securities) दी जाती हैं जिनके आधार पर नोट छापता है। इस प्रकार सरकार अपने बढ़े हुए व्यय को पूरा करती है। इस प्रकार नोटों के प्रचलन से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है और बैंकों की जमा पूंजी तथा प्रचलन में मुद्रा की मात्रा भी प्रभावित होती है। चूंकि सरकार के पास संचित कोषों की मात्रा कम होती है और बाह्य ऋणों के लेने की मात्रा भी सीमित होती है इसलिए नोट निर्गमन बढ़ता है और कुल मिलाकर मुद्रा की पूर्ति भी बढ़ती है।

देश में मुद्रा की पूर्ति बहुत कुछ उस देश की मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों तथा उनके पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करती है। सरकार को देश की व्यापारिक तथा औद्योगिक स्थितियों तथा आर्थिक विकास के स्तर द्वारा भी मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन समयानुसार तथा आवश्यकतानुसार करना पड़ता है। देश की आवश्यकताओं के अनुमान से अधिक अथवा कम मुद्रा की पूर्ति होने पर देश के मूल्य-स्तर (Price-Level) वृद्धि अथवा कमी आती रहती है। जब-जब मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि देश के उत्पादन तथा रोजगार के स्तर को बढ़ाती है तो इससे अर्थव्यवस्था की प्रगति तथा लाभदायकता का संकेत मिलता है।

बैंक मुद्रा अथवा साख मुद्रा—मुद्रा की पूर्ति में साख मुद्रा भी शामिल होती है जिसे प्रायः बैंकों द्वारा निकाला जाता है। बैंकों की जमाएँ दो प्रकार की होती हैं (i) प्राथमिक जमाएँ (Primary Deposits) (ii) व्युत्पन्न जमाएँ (Derivative Deposits)। जब कभी भी लोग बैंक के पास अपनी नकदी को जमा कराते हैं तो इन्हें बैंक की प्राथमिक जमा राशि कहा जाता है। बैंक चूंकि करेण्ट एकाउण्ट में जमाराशि को छोड़कर अन्य प्रकार की जमा राशियों पर अपने ग्राहकों को ब्याज का भुगतान करता है और यह ब्याज वह जमा धनराशियों पर तभी दे सकता है जबकि वह इन्हें ऋण माँगने वाले व्यक्तियों को उधार दे दे और ऐसे ऋणों पर ब्याज की वसूली वैध ऋणियों से करे। बैंक ऋण माँगने वालों को नकद भुगतान न करके उनके नाम का खाता खोल देता है और उन्हें चेक बुक देकर चेकों द्वारा भुगतान देने की सुविधा प्रदान कर देता है। बैंक अपने नियमानुसार इस ऋण की कुल राशि का एक प्रतिशत नकद रखकर शेष धनराशि को पुनः अन्य ऋणों को ऋण के रूप में देकर उसका खाता खोलकर उसके एक भाग को नकद रखकर शेष राशि को पुनः ऋण के रूप में वितरित कर देता है। प्राथमिक जमा के आधार पर ऋण जो दिए जाते हैं वह बैंक की व्युत्पन्न जमा या साख जमा (Derivative or Credit Deposits) कहलाती है। बैंक साख जमा या साख मुद्रा कितनी निकालेगा यह बात बैंक की प्रारम्भिक जमा राशि की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। बैंकों को प्राप्त होने वाली प्रारम्भिक जमा का एक अनुपात नकद कोष में रखकर शेष को अग्रिम (Advance) अथवा ऋण (Loan) के रूप में दे दिया जाता है। बैंकों की व्युत्पन्न जमा फिर बैंक मुद्रा का रूप धारण कर लेती है जिसे ऋणी चेक लिखकर या बैंक के नाम ड्राफ्ट निकाल लेता है। इसी के आधार पर

देखा जाता है कि ऋण जमा की सृष्टि करते हैं और जमा पुन ऋणों की सृष्टि करती है। व्युत्पन्न जमा (Derivative Deposits) का निर्माण साख निर्माण कहलाता है। बैंकों के पास जितनी प्रारम्भिक जमा राशि होती है बैंक उससे 4 5 गुनी साख मुद्रा का सृजन कर लेते हैं। इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए कि बैंक के पास कोई व्यक्ति 1000 रुपये जमा कराता है तो यह बैंक की प्रारम्भिक जमा कहलाएगी। बैंक इस प्रारम्भिक जमा का एक प्रतिशत यानि 10 प्रतिशत अपने पास रखकर अर्थात् 100 रुपये रखकर शेष 900 रुपये ऋण के रूप में उठा देगा। अब बैंक के पास यह 900 रुपये की धनराशि जमा हो जायेगी जो व्युत्पन्न जमा (Derivative Deposit) कहलाएगी। बैंक फिर इस 900 रुपये में से 10 प्रतिशत यानि 90 रुपये रखकर शेष 810 रुपये अन्य किसी व्यक्ति को ऋण के रूप में दे देगा और यह उनका उस समय तक चलेगा जब तक कि उसके पास और ऋण पर उठाने के लिए धनराशि उपलब्ध हो नहीं रहेगी।

बैंकों की साख निर्माण शक्ति कुछ बातों पर निर्भर रहती है जैसे—(1) बैंकों द्वारा दिए जाने वाले ऋणों की मांग नकद रूप में न करके चेकों द्वारा निकालने की सुविधा होती है। (2) कुल जमाओं के एक निश्चित अनुपात से अधिक बैंकों को अपने पास नकद कोष नहीं रखने पड़ते हैं। (3) बैंकों से जनता द्वारा ऋणों या अग्रिमों की मांग लगातार बनी रहे। (4) बैंक अपनी अधिकतम क्षमता तक ऋण देने को तैयार हों। बैंकों की साख निर्माण शक्ति भी असीमित नहीं होती। यह भी नकद कोषों द्वारा निर्धारित होती है। साख निर्माण क्षमता में मुद्रा की मात्रा जनता की बैंकिंग आदतें, कुल देयताओं (Liabilities) का नकद कोष में प्रतिशत व्यापारिक बैंकों का केन्द्रीय बैंक के पास जमा धनराशि या कोष, केन्द्रीय बैंक की साख सम्बन्धी नीति, जमाकर्त्ताओं की बैंक में जमा करने की प्रवृत्ति, व्यापार अथवा व्यवसाय की स्थिति, प्रतिभूतियों के स्वभाव तथा कानूनी तरल कोषानुपात पर निर्भर करती है। फिर भी हम कह सकते हैं कि अनुकूल परिस्थितियों में बैंक अधिक साख मुद्रा का निर्माण कर लेते हैं।

भारत में मुद्रा की पूर्ति की माप—भारत में मुद्रा की पूर्ति क्या है इससे सम्बन्धित हम रिजर्व बैंक द्वारा मौद्रिक स्टाकों की व्याख्या देखेंगे। रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति के लिए मुद्रा को चार भागों में बांटा है जैसे M_1 M_2 M_3 तथा M_4 आदि।

M_1 = जनता के पास उपलब्ध चलन की मात्रा + बैंकों के पास मांग जमाएँ (अन्तर बैंक जमाओं को छोड़कर) + रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ (अर्द्ध सरकारी संस्थाओं की मांग जमाएँ + विदेशी सरकारों तथा अन्य केन्द्रीय बैंकों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व-बैंक की मांग जमाएँ)

$M_2 = M_1$ + पोस्ट ऑफिस बचत खातों में बचत जमाएँ

$M_3 = M_1$ + बैंकों के पास काल जमाएँ (शुद्ध अन्तर बैंक जमाएँ)

$M_4 = M_3$ + पोस्ट ऑफिस में कुल जमाएँ (न कि केवल बचत जमाएँ)

भारत में M_1 की जो परिभाषा दी गई है उसका संकुचित अर्थ है। मुद्रा की परिभाषा प्रत्येक देश के संस्थागत कार्यप्रणाली के आधार पर दी जाती है। ब्रिटेन में M_1 की गणना करते समय बैंकों के तुलन-पत्र (Balance Sheet) में 60 प्रतिशत चलन-मदों (Transit Items) को घटा देते हैं। इसी प्रकार M_3 में M_1 + निजी क्षेत्र की काल जमाओं (Time Deposits) तथा सार्वजनिक क्षेत्र के सभी जमाओं (विदेशियों की जमाओं को छोड़कर) की गणना की जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका (U S A) में M_3 को दर्शाया जाता है जिसमें चलन मुद्रा, व्यापारिक बैंक की जमाएँ तथा बैंकों की आपसी बचतें (Mutual Deposits) तथा ऋण संघों (Loan Associations) तथा बची जमाओं व समझौते पत्रों आदि को शामिल किया जाता है।

मुद्रा की पूर्ति (M_1) की परम्परागत विचारधारा के अनुसार इसमें केवल चलन मुद्रा तथा माँग जमाओं को ही शामिल किया जाता है क्योंकि यही विनिमय के माध्यम तथा मूल्य संचय कार्य को भलीभाँति सम्पन्न करती है। आज की आधुनिक अर्थव्यवस्था में बहुत सी ऐसी वित्तीय परिसम्पत्तियाँ (Assets) है जो विनिमय के माध्यम तथा मूल्य संचय कार्य को कुशलतापूर्वक सम्पन्न करती हैं। इसलिए शिकागो सम्प्रदाय (जिसमें प्रो० मिल्टन फ्रीडमैन तथा अन्य शामिल हैं) के अनुसार चलन मुद्रा तथा माँग जमाओं के साथ काल जमाओं (Time Deposits) को भी मुद्रा की पूर्ति M_2 में जोड़ना चाहिए। प्रो० गर्ले तथा प्रो० शा (Prof Gurley and Prof Shaw) का कहना है कि चलन मुद्रा तथा माँग जमाएँ वित्तीय माध्यमों के परिवार के दो बड़े सदस्य हैं जो तरल हैं साथ ही मूल्य संचय का भी कार्य करते हैं। इन दो के अतिरिक्त बचत खाते में जमाएँ, काल जमाएँ, यूनिटस (Units) अंश (Shares) तथा ऋण पत्र (Debentures) आदि कुछ अन्य मद भी हैं जो तरल मुद्रा तथा मूल्य संचय कार्य को भलीभाँति सम्पन्न करती हैं।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अर्थशास्त्रियों का सुझाव है कि विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार के मौद्रिक औसत (Monetary Aggregates) का प्रयोग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रो० सुखमय चक्रवर्ती समिति ने सुझाव दिया है कि M_3 का उपयोग मौद्रिक नीति के निर्धारण में मौद्रिक चर (Monetary Variable) के रूप में करना चाहिए।

शक्तिशाली अथवा उच्च शक्ति युक्त या आरक्षित मुद्रा (High Powered or Reserve Money)

भारत में उच्च शक्ति युक्त अथवा शक्तिशाली मुद्रा अथवा आरक्षित मुद्रा की व्याख्या रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा इस प्रकार की गई है।

उच्च शक्ति युक्त मुद्रा वह मुद्रा होती है जिसमें निम्नलिखित मद शामिल की जाती है—

(1) जनता के पास चलन मुद्रा।

(2) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के पास व्यापारिक तथा सहकारी बैंकों के शेष (Balances)।

(3) व्यापारिक तथा सहकारी बैंकों के पास नकदी।

(4) रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ।

शक्तिशाली अथवा उच्च शक्ति युक्त मुद्रा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मुद्रा की पूर्ति से होता है। किसी भी प्रकार शक्तिशाली मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से मुद्रा की पूर्ति प्रभावित होगी। 1970 के दशक में यह तथ्य सामने आए है कि इन दोनों चरों का आपस में गहरा सम्बन्ध है। प्रो० सुखमय समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि भारत में शक्तिशाली मुद्रा की मात्रा में वृद्धि रिजर्व बैंक द्वारा सरकार को प्रदान की जाने वाली साख के कारण हुई है। इसलिए यदि सरकार वास्तव में मुद्रा की पूर्ति पर काबू पाना चाहती है तो उसे शक्तिशाली मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण करना होगा।

भारत में 1980 के दशक में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा भारत सरकार को साख (Credit) अधिक प्रदान करने के कारण शक्तिशाली मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हुई है। सरकार को ऋण प्रदान करने या सरकार द्वारा अपने बढ़ते हुए दायित्व जैसे सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक से ऋणों की माँग में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। रिजर्व बैंक का इस पर कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता। सन् 1970 से भारत में

प्रारक्षित अथवा शक्तिशाली मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से मुद्रा की पूर्ति में तेजी से वृद्धि हुई है। सन् 1970 के दशक के बाद बैंकों की शाखा विस्तार योजना को ध्यान में रखते हुए प्रारक्षित मुद्रा की मात्रा की इस वृद्धि का परिणाम यह हुआ है कि चलन-जमा-अनुपात में गिरावट आई है। चूँकि रिजर्व बैंक का इस प्रारक्षित मुद्रा की मात्रा पर कोई नियन्त्रण नहीं है इसलिए उसे मुद्रा गुणक जैसे नकद-कोष-अनुपात (Cash Reserve Ratio—CRR) को मुद्रा की पूर्ति के नियन्त्रण हेतु चुनना पड़ा है।

परीक्षा-प्रश्न

1. *मुद्रा की माँग से आप क्या समझते हैं? यह किन उद्देश्यों के लिए की जाती है?* (*What do you understand by the demand for money? For what* objectives the demand for money is made?)
2. मुद्रा की पूर्ति के विभिन्न अंगों का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि उनमें परिवर्तन किन कारणों से होता है?

   (Analyse the various components of the supply of money and explain the factors responsible for variation in them)
3. मुद्रा की माँग और पूर्ति के निर्धारक तत्वों की व्याख्या कीजिए।

   (*Discuss the factors determining the demand and supply of* money.)
4. शक्तिशाली मुद्रा की परिभाषा कीजिए। इसमें परिवर्तन के कौन-कौन से स्रोत हैं?

   (Define High Powered Money What are the sources of its changes?)

   [संकेत—उच्च शक्ति युक्त मुद्रा का अर्थ बताने के बाद इसके विभिन्न अंगों की व्याख्या कीजिए तथा अन्त में बताइए कि मुद्रा की पूर्ति का शक्तिशाली मुद्रा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इसमें परिवर्तन सरकारी इच्छाशक्ति पर निर्भर करेगा। सरकार रिजर्व बैंक से कम ऋण ले तो उचित होगा।]

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

5. निम्न कथनों में कौन सही तथा कौन गलत है—
   (i) मुद्रा की माँग व्युत्पन्न होती है।
   (ii) *मुद्रा की माँग केवल विनिमय माध्यम के कार्य हेतु होती है।*
   (iii) मुद्रा की पूर्ति में बैंकनिक तथा साख मुद्रा शामिल होती है।
   (iv) भारत में एक रुपये के नोट पर रिजर्व बैंक के गवर्नर के हस्ताक्षर होते हैं।
   (v) शक्तिशाली मुद्रा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मुद्रा की पूर्ति से होता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) गलत है। (iii) सही है। (iv) गलत है। (v) सही है।

"There cannot, in short, be intrinsically a more insignificant thing in the economy of society than money, except in character of a contrivance of sparing time and labour" —*J S Mill*

अध्याय 15

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त

(QUANTITY THEORY OF MONEY)

पुराने अथवा परम्परावादी अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने मुद्रा को अधिक महत्व नहीं दिया था उनकी दृष्टि से मुद्रा से अधिक महत्वहीन कोई वस्तु नहीं होती है। एडम स्मिथ जैसे विद्वान ने मुद्रा की तुलना उस पक्की सड़क से की है जिस पर स्वयं एक घास की पत्ती भी नहीं उगती। मुद्रा को अनुत्पादक एवं महत्वहीन बताते हुए इन विद्वानों ने यह विश्वास व्यक्त किया था कि मुद्रा किसी भी प्रकार से अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभाव नहीं डालती। यह विद्वान फ्रांसीसी अर्थशास्त्री प्रो० जे० बी० से (Prof J B Say) के बाजार नियम जिसके अनुसार 'पूर्ति अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती है।" (Supply Creats its own Demand) से प्रभावित थे। इन विद्वानों की ऐसी धारणा थी कि मुद्रा की आवश्यकता केवल वस्तुओं तथा सेवाओं को क्रय-विक्रय करने के लिए होती है अर्थात् मुद्रा विनिमय सौदों को निपटाने का एक साधन मात्र है। उनकी दृष्टि से एक मौद्रिक व्यवस्था में कुल रोजगार की मात्रा, कुल उत्पादन की मात्रा, विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रकार और उनके अनुपात जिनका उत्पादन तथा उपभोग होता है, बाजार में विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण, समाज में सम्पत्ति और आय का वितरण आदि एक विकसित अर्थव्यवस्था में समाज के लोगों के बीच ठीक उसी प्रकार से होता है जैसा कि एक कुशल वस्तु-विनिमय अर्थव्यवस्था में होता है। इन विद्वानों का कहना था कि अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं का मुद्रा के माध्यम से लेन-देन हो या फिर वस्तुओं तथा सेवाओं का लेन-देन वस्तुओं तथा सेवाओं द्वारा हो, इसमें कोई खास अन्तर नहीं पड़ता।

प्रतिष्ठित विद्वान यह तो समझते थे कि मुद्रा ने विनिमय को सुविधाजनक एवं सरल बना दिया है परन्तु इसके अतिरिक्त मुद्रा स्वयं कोई उपयोगिता प्रदान नहीं करती, मुद्रा एक अनुत्पादक (Unproductive) वस्तु है। प्रतिष्ठित विचारधारा के समर्थक प्रो० जे० एस० मिल (Prof J S Mill) ने मुद्रा के महत्वहीन स्वरूप को स्वीकार करते हुए कहा है कि "संक्षेप में, मुद्रा से महत्वहीन वस्तु सामाजिक अर्थव्यवस्था के अन्दर कोई हो ही नहीं सकती, यह समय और श्रम की बचत करने का कार्य करती है। यह उस मशीन की भांति है जो कि कार्य को जल्दी और सुविधापूर्वक करती है और इसकी अनुपस्थिति में यह कार्य कम शीघ्र और सुविधापूर्वक सम्पन्न होगा, अन्य बहुत सी मशीनरियों की भांति,

इसका एक अलग और अपना स्वतन्त्र प्रभाव होता है यदि यह कार्य करने योग्य न रहे।"[1]

मुद्रा जब से अस्तित्व में आई है इसमें स्थिरता का अभाव पाया गया है। मुद्रा ने अपने कार्यों को इसलिए भली प्रकार से नहीं निभा पाया है क्योंकि इसके मूल्यों में उच्चावचनों को समय-समय पर अनुभव किया गया है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री सोचते थे कि मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन क्षणिक या अल्प समय के लिए भी हो सकते हैं परन्तु दीर्घकाल में स्वयं अर्थव्यवस्था में ऐसी शक्तियाँ क्रियाशील हो जायेंगी जो इसके मूल्य में स्थिरता ले आयेंगी। प्रतिष्ठित विद्वान कहते थे कि मुद्रा अपने कार्यों को सुचारुरूप से करती है अर्थात् विनिमय का माध्यम और मूल्य मापन का कार्य मुद्रा भलीभाँति सम्पादित करती रहती है। आधुनिक विद्वानों का कहना है कि प्रतिष्ठित विद्वानों की यह धारणा मानने योग्य नहीं है। आधुनिक विद्वान कहते हैं कि मुद्रा हमेशा एक प्रकार से कार्य नहीं कर पाती इसकी शक्ति और मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिनसे रोजगार तथा उत्पादन की कुल मात्रा, व्यक्तिगत वस्तुओं की कीमतें जिनका क्रय-विक्रय होता है तथा समाज के लोगों के मध्य वास्तविक सम्पत्ति तथा आय का वितरण प्रभावित होता रहता है। अल्पकाल में मुद्रा के यह प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं और जो कि अर्थव्यवस्था के दीर्घकालिक व्यवहार को प्रभावित करते हैं क्योंकि दीर्घकालिक व्यवस्था छोटी-छोटी या अल्पकालिक व्यवस्था की ही एक शृंखला मात्र ही कही जा सकती है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन ही इन सारी घटनाओं के लिए उत्तरदायी होता है। यदि मुद्रा को आर्थिक वस्तुओं तथा स्थगित भुगतानों का एक सन्तोषजनक माप बनना है तो इसके लिए यह जरूरी है कि मुद्रा के मूल्यों में स्थिरता बनी रहे। परन्तु अनुभव इस बात का साक्षी है कि इसमें स्थिरता नहीं रहती।

प्रो० जे० एम० कीन्स ने परम्परावादी विद्वानों के इस विचार का खण्डन किया कि मुद्रा एक आवरण मात्र है। प्रो० कीन्स कहते हैं कि मुद्रा इससे भी महत्त्वपूर्ण है शक्तिशाली और विचित्र वस्तु है जो कि विनिमय का माध्यम मूल्य मापक, स्थगित भुगतानों का मान तथा वर्तमान और भविष्य को जोड़ने वाली एक कड़ी है और यह आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कीन्स कहते हैं कि मौद्रिक क्षेत्र सामान्य आर्थिक व्यवस्था का ही एक महत्त्वपूर्ण भाग है। कीन्स की जनरल थ्योरी (The General Theory of Employment Interest and Money—1936) मौद्रिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त के रूप में जानी जाती है अर्थात् जिसे हम उत्पादन का मौद्रिक सिद्धान्त कहते हैं जिसमें ब्याज की दर, जो कि मुद्रा की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती है, एक

1. "There cannot in short, be intrinsically a more significant thing, in the economy of society, than money, except in the character of contrivance of sparing time and labour. It is a machine for doing quickly and commodiously, what would be done though less quickly and commodiously, without it, and like many other types of machinery, it only exerts a distinct and independent influence of its own when it gets out of order." —J. S. Mill

महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। कीन्स के अनुसार मुद्रा ब्याज की दर को प्रभावित करती है जिसके द्वारा विनियोग प्रभावित होते हैं और जो सामान्य आर्थिक क्रिया, उत्पादन तथा रोजगार पर अपना प्रभाव डालती है।

एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में एक साहसी का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है। एक साहसी द्वारा अधिक उत्पादन उसी समय किया जाएगा जबकि उसे लाभ मिलने की सम्भावना हो। मुद्रा के मूल्य में उच्चावचन साहसी या उत्पादक की आशाओं को प्रभावित करते हैं जो कि उनकी व्यापारिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। जब कीमतें बढ़ती हैं तो साहसियों के लाभ बढ़ते हैं क्योंकि बढ़ी हुई लागत से अधिक कीमतें बढ़ जाती हैं और साहसी इस बढ़े हुए लाभ से प्रभावित एवं उत्साहित होकर अधिक उत्पादन और पूंजी विनियोजन करने लगते हैं। जब कीमतें गिरती हैं तो उनका यह उत्साह समाप्त होने लगता है और उन्हें हानि उठानी पड़ती है।

ऐसी स्थिति में हमें यह जानना जरूरी होता है कि मुद्रा के मूल्य को कौन से तत्व निर्धारित करते हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री समझते थे कि मुद्रा के मूल्य निर्धारण में मुद्रा की पूर्ति महत्वपूर्ण होती है जिसको उन्होंने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के द्वारा बताया है। वे कहते हैं कि किसी देश का सामान्य कीमत स्तर मुद्रा की पूर्ति द्वारा ही तय होता है यदि अन्य बातें समान रहें (Other Things being Equal)। मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या से सम्बन्धित हम निम्नांकित विद्वानों के दृष्टिकोण का अध्ययन करेंगे।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त—लेन-देन दृष्टिकोण *(Quantity Theory of Money—Transaction Approach)*

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त अमरीकन अर्थशास्त्री प्रो० इरविंग फिशर (Prof Irving Fisher) के नाम से विख्यात है। परन्तु प्रो० फिशर से पहले भी इस सिद्धान्त की व्याख्या के चिह्न मिलते हैं। इसके प्रतिपादक सोलहवीं शताब्दी में इटली के लेखक दवनजती (Devanzatti) थे। बाडिन (Bodin), कैन्टीलन (Cantillon) तथा डेविड ह्यूम (David Hume) के लेखन कार्यों में भी इसका उल्लेख है। बाद में प्रो० जे० एस० मिल तथा प्रो० एफ० डब्लू० टॉसिग (Prof J S Mill and Prof F W Taussing) ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या अपने-अपने लेखन कार्यों में की है।

प्रो० जे० एस० मिल के शब्दों में

'अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा का मूल्य अपनी मात्रा के विपरीत दिशा में परिवर्तित होता है। मुद्रा की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि उसके मूल्य में कमी तथा मात्रा में प्रत्येक कमी से उसके मूल्य में आनुपातिक वृद्धि होती है।"

प्रो० टॉसिग के शब्दों में

"अन्य बातें समान रहने पर यदि मुद्रा की मात्रा दुगनी कर दी जाए तो वस्तुओं का मूल्य पहले से दुगुना और मुद्रा का मूल्य आधा रह जाएगा। यदि मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जाए तो वस्तुओं का मूल्य पहले से आधा रह जाएगा और मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जाएगा।"

प्रो० जे० एस० मिल तथा प्रो० टॉसिग की मुद्रा मूल्य की परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि इन विद्वानों ने मुद्रा के मूल्य का सम्बन्ध उसकी मात्रा से जोड़ा है, जिसमें मुद्रा की मांग को कोई महत्व न देकर मुद्रा की पूर्ति को अधिक महत्व दिया गया है इसलिए इसे मुद्रा परिमाण की संज्ञा दी गई है।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के चार प्रमुख निष्कर्ष हैं—

(1) मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा के मूल्य में उल्टा या विपरीत सम्बन्ध होता है।

(2) मुद्रा की पूर्ति तथा वस्तु के मूल्य में सीधा सम्बन्ध होता है।

(3) मुद्रा की पूर्ति तथा उसके मूल्य में जो सम्बन्ध होता है वह आनुपातिक होता है।

(4) मुद्रा की पूर्ति तथा उसके मूल्य का आनुपातिक सम्बन्ध उसी स्थिति में आनुपातिक होगा जबकि अन्य बातें समान रहें।

अन्य बातें जो समान रहनी चाहिए—इसका आशय यह है कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त तभी लागू होगा जबकि निम्नलिखित स्थितियाँ बनी रहें अथवा कुछ दशाओं में ही मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के निष्कर्ष लागू होंगे जैसे—

(1) मुद्रा की माँग स्थिर रहनी चाहिए अर्थात व्यापारिक औद्योगिक तथा व्यक्तिगत उपभोग के लिए मुद्रा की माँग में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

(2) मुद्रा द्वारा ही समाज में सम्पूर्ण लेन-देन (Transactions) होना चाहिए। यदि कहीं वस्तु-विनिमय व्यवस्था के अन्तर्गत लेन देन हो रहा है तो उसकी उपेक्षा करके उसे मुद्रा मूल्य में परिवर्तित करके उसकी गणना कर ली जानी चाहिए।

(3) साख तथा मुद्रा का निश्चित अनुपात बना रहता है। इसका आशय यह है कि बैंकों में कुल जमा राशि का एक निश्चित भाग नकद मुद्रा के रूप में रखा जाता है। इस प्रकार जमा रकम तथा नकद कोष और जमा रकम तथा उधार में एक निश्चित अनुपात बना रहता है। इसी अनुपात पर किसी देश में साख की मात्रा निर्भर करती है।

(4) मुद्रा का चलन-वेग (Velocity) मुद्रा की कुल मात्रा को प्रभावित करता है। यदि इसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहे तो इसका प्रभाव मुद्रा के मूल्य पर भी पड़ता है। इसलिए मुद्रा के चलन-वेग को स्थिर मान लिया गया है।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त से सम्बन्धित फिशर की व्याख्या

अथवा

लेन-देन अथवा सौदा दृष्टिकोण

Prof Fisher's Approach Regarding Quantity Theory of Money

Or

Transactions Approach

अमरीकन अर्थशास्त्री प्रो० इरविंग फिशर (Prof Irving Fisher) ने सन् 1911 में अपनी पुस्तक "Purchasing Power of Money" में मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या की है। प्रो० फिशर के शब्दों में "परिमाण सिद्धान्त बताता है कि (यदि चलन वेग और व्यापार की मात्रा अपरिवर्तित रहे) हम डॉलर की मात्रा में वृद्धि करें चाहे यह वृद्धि सिक्कों को अन्य नाम देने या सिक्कों की वृद्धि द्वारा हो कीमतें उसी अनुपात में बढ़ेंगी।"[1] प्रो० फिशर की मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या में मुद्रा के विनिमय क

1 'The quantity theory asserts that (provided the velocity of circulation and the volume of trade are unchanged) if we increase the number of dollars whether by renaming coins or by increasing coinage prices will be increased in the same proportion"

—*Irving Fisher*

मध्यम कार्य (Medium of Exchange Function) को प्रमुखता दी गई है। प्रो० फिशर की व्याख्या की एक विशेषता यह है कि उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए बीजगणितीय समीकरण का प्रयोग किया है। प्रो० फिशर अमरीका के गणितीय सम्प्रदाय के प्रमुख अर्थशास्त्री थे।[1] उन्होंने आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण एवं निष्कर्षों को जानने के लिए गणित का प्रयोग करके उनमें अधिक निश्चितता लाने का प्रयास किया है। उनके मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या का समीकरण लेन-देन अथवा विनिमय सौदों का समीकरण कहलाता है। उन्होंने बताया कि $MV = PT$

MV = Supply of Money मुद्रा की पूर्ति
PT = Demand for Money मुद्रा की माँग

अथवा $P = \frac{MV}{T}$

P = कीमत स्तर
M = मुद्रा की मात्रा
V = मुद्रा का चलन वेग
T = कुल सौदों की मात्रा जिनका विनिमय मुद्रा के माध्यम से होता है। (इसमें वस्तुओं तथा सेवाओं एवं प्रतिभूतियाँ शामिल होती हैं जो व्यापार की भौतिक मात्रा के बराबर होती है)

उपर्युक्त समीकरण की आलोचना इस तथ्य की ओर संकेत करके की गई थी कि इसमें साख मुद्रा को कोई स्थान नही दिया गया है। वर्तमान अर्थव्यवस्था में साख-मुद्रा तथा उसके चलन-वेग का स्थान प्रमुख होता है। इसलिए प्रो० फिशर ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या हेतु एक संशोधित समीकरण दिया है जो निम्न प्रकार से है—

$$PT = MV + M'V'$$

or $P = \frac{MV + M'V'}{T}$

P = कीमत स्तर (Price Level)
M = मुद्रा की मात्रा जो चलन मे होती है (Quantity of Money in Circulation)
V = मुद्रा का चलन-वेग (Velocity of Money in Circulation)
M' = साख मुद्रा की मात्रा (Credit Money)
V' = साख मुद्रा का चलन-वेग (Velocity of Credit Money)
T = उन वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा जिनका विनिमय मुद्रा के माध्यम से होता है। (Total Number of Goods and Services which are Exchanged Through Money)

---

1. प्रो० इरविंग फिशर के नाम से अर्थशास्त्र के विद्यार्थी काफी परिचित है। उनके मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या का समीकरण नकद व्यवसाय के नाम से जाना जाता है। प्रो० फिशर ने अर्थशास्त्र मे गणितीय रीति का काफी प्रयोग किया। वे आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण गणितीय समीकरणों द्वारा करने में अधिक रुचि रखते थे। वह अमरीकी गणितीय सम्प्रदाय के प्रमुख सदस्य थे।

मुद्रा का चलन-वेग (Velocity of Money)

मुद्रा के चलन वेग से आशय एक समयावधि में मुद्रा की एक इकाई द्वारा सम्पादित या किए गए सौदों के मूल्य से होता है। इसका अर्थ सामान्य मुद्रा के चलन-वेग से न होकर मुद्रा की एक इकाई के औसत चलन-वेग से होता है। मुद्रा का चलन-वेग निम्नलिखित तत्वों से प्रभावित होता है—

मुद्रा के चलन-वेग को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors Affecting the Velocity of Money)

(1) **मुद्रा की मात्रा**—मुद्रा का चलन वेग किसी समय अर्थव्यवस्था में उपलब्ध मुद्रा की पूर्ति या उसकी मात्रा द्वारा भी निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ यदि चलन में मुद्रा की मात्रा अधिक होगी तो चलन-वेग कम होगा और मुद्रा की मात्रा कम होने पर यह अधिक होगा। परन्तु वास्तविकता यह है कि विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का चलन वेग भी अलग अलग हो सकता है। मुद्रा का चलन-वेग विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का औसत चलन-वेग ही कहलाता है।

(2) **जनता द्वारा नकदी रखने की प्रवृत्ति**—जितनी लोगों में विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए (जैसे सौदा उद्देश्य, दूरदर्शिता उद्देश्य तथा सट्टा उद्देश्य) नकदी रखी जायगी उतनी ही मुद्रा की चलन गति धीमी होगी। इसके विपरीत विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जितनी नकदी या नकद शेष कम रखे जायेंगे मुद्रा का चलन वेग अधिक होगा। हम कह सकते हैं कि मुद्रा का चलन वेग लोगों द्वारा रखी जाने वाली नकदी की मात्रा पर निर्भर करेगा। यह प्रकृति अर्थात् नकदी की प्रकृति मुद्रा बाजार के संगठन तथा मजदूरी भुगतान की विधियों द्वारा प्रभावित होती है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

(3) **मजदूरी भुगतान की प्रणाली**—यदि मजदूरी का भुगतान प्रतिदिन अथवा प्रति सप्ताह है तो लोगों में नकदी रखने की प्रवृत्ति कम होगी और जल्दी-जल्दी उपभोग पर व्यय होगा जिससे मुद्रा का चलन-वेग बढ़ेगा। यदि मजदूरी भुगतान प्रति पखवाड़ा या प्रतिमाह है तो प्रति सप्ताह या प्रतिदिन मजदूरी पाने वाले की अपेक्षा अधिक नकदी रखी जाएगी। निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि मजदूरी प्राप्ति की अवधि जितनी अधिक होगी तो उतनी ही नकदी अधिक रखी जाएगी और इस प्रकार मुद्रा के चलन-वेग में मजदूरी भुगतान की अवधि महत्वपूर्ण होती है।

(4) *संगठित मुद्रा-बाजार*—मुद्रा-बाजार जितना संगठित होगा मुद्रा का चलन-वेग उतना ही अधिक होगा। इसका कारण यह है कि संगठित मुद्रा बाजार में ऋण प्रदान करने, व्यय तथा उधार लेने की सुविधाओं के उपलब्ध होने के कारण मुद्रा का चलन-वेग प्रभावित होता है।

(5) *जनसंख्या, तकनीकी परिवर्तन मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति आदि भी मुद्रा के चलन-वेग को प्रभावित करती रहती है। इसका कारण यह है कि इन तत्वों से उपभोग, बचत तथा विनियोग के स्तर प्रभावित होते हैं जो चलन-वेग को भी प्रभावित करते हैं।*

(6) **व्यावसायिक परिस्थितियाँ**—व्यापार चक्रों अथवा तेजी काल और मन्दी काल में व्यापारिक गतिविधियों में परिवर्तन मुद्रा के चलन-वेग में परिवर्तन लाते रहते हैं। तेजी काल में मुद्रा के चलन-वेग में तेजी आती है क्योंकि वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के परिणामस्वरूप लोग जल्दी-जल्दी वस्तुओं का क्रय करके संग्रहित करने लगते हैं। इसके विपरीत मन्दी काल में कीमत स्तर में गिरावट के कारण उपभोक्ता और कीमतों में गिरावट होने

की प्रतीक्षा में उपभोग को कुछ समय के लिए स्थगित कर देते हैं। परिणामस्वरूप व्यापारिक क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं और चलन-वेग गिर जाता है।

(7) **प्रतिफल की सम्भावनाएँ**— जब साहसियों को यह पता चल जाए कि वह जो पूंजी लगा रहे हैं उनसे प्राप्त होने वाला प्रतिफल अच्छा है अर्थात् पूंजी की सीमान्त क्षमता पूंजी लागत अथवा ब्याज की दर से अधिक है तो वे पूंजी विनियोजन बढ़ायेंगे और मुद्रा का चलन-वेग अधिक होगा।

(8) **राष्ट्रीय आर्थिक विकास की स्थिति**—विकसित राष्ट्रों या देशों में औद्योगिक विकास उच्च तकनीकी तथा वैज्ञानिक ज्ञान कुशलता के उच्च स्तर संगठित मुद्रा-बाजार आदि के कारण विकास तेजी से होता है और मुद्रा का चलन-वेग बढ़ जाता है। जबकि अल्प विकसित देश में जहाँ साख तथा वित्तीय सुविधाएँ कुशलता के साथ उपलब्ध नहीं हैं, मुद्रा का चलन-वेग कम रहता है। वर्तमान समय में ऐसे अल्प-विकसित देशों में मुद्रा के चलन-वेग में वृद्धि हुई है क्योंकि इन देशों में वित्तीय संस्थाओं के विकास तथा कुशलता के उच्च स्तर को प्राप्त करने के प्रयास जारी हैं।

(9) **आय वितरण की स्थिति**— यदि देश में राष्ट्रीय आय का वितरण समानता की ओर है तो चलन-वेग में वृद्धि होगी अन्यथा मुद्रा के चलन-वेग में गिरावट आएगी।

फिशर के सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions of Fishers' Theory)

प्रो० फिशर का सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है। इन मान्यताओं को उन्होंने 'अन्य बातें समान रहें' (Other things being Equal) वाक्यांश द्वारा व्यक्त किया है। यह मान्यताएँ मुद्रा के चलन-वेग, व्यापार की मात्रा तथा साख-मुद्रा आदि से सम्बन्धित हैं। यह मान्यताएँ निम्न प्रकार से व्यक्त की जा सकती हैं—

(1) समाज में मुद्रा तथा साख-मुद्रा का चलन-वेग स्थिर रहता है। मुद्रा तथा साख-मुद्रा का चलन-वेग ऐसे संस्थागत कारणों पर निर्भर रहता है जिनमें समय के साथ परिवर्तन नहीं होते इसलिए V तथा V′ स्थिर रहते हैं।

(2) एक अन्य मान्यता यह है कि अर्थव्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा (T) में कोई परिवर्तन नहीं होता। T प्राकृतिक साधनों, उत्पादन विधियों, श्रम की उत्पादकता, यातायात आदि तत्वों पर निर्भर करता है। T के स्थिर रहने की मान्यता इस मान्यता पर आधारित है कि देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाती है। देश में कोई भी उत्पादक साधन बेरोजगार नहीं होता यही कारण है कि वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा अपरिवर्तित रहती है।

(3) कीमत-स्तर पर साख मुद्रा के पड़ने वाले प्रभावों की सम्भावना को यह मान कर समाप्त कर दिया गया है कि कानूनी मुद्रा (M) तथा साख-मुद्रा (M′) का अनुपात स्थिर रहता है।

(4) एक अन्य मान्यता यह है कि कीमत-स्तर (P) एक निष्क्रिय तत्व है अर्थात् मुद्रा की मात्रा तथा अन्य तत्वों की मात्रा में परिवर्तन P को प्रभावित करते हैं, परन्तु P में परिवर्तनों का प्रभाव मुद्रा तथा अन्य तत्वों की मात्रा पर नहीं पड़ता। प्रो० फिशर के शब्दों में—

'समीकरण में P एक निष्क्रिय तत्व है। यह स्वयं समीकरण के दूसरे तत्वों से निर्धारित होता है, परन्तु दूसरे तत्वों पर स्वयं कोई प्रभाव नहीं डालता।"

(5) फिशर की व्याख्या दीर्घकालिक है क्योंकि इनका विचार है कि दीर्घकाल में मुद्रा का चलन-वेग तथा वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा स्थिर रहती है। अल्पकाल में V तथा T में परिवर्तन हो सकते हैं।

फिशर के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Fisher's Theory)

फिशर के सिद्धान्त की आलोचनाएँ अधिकांशतः कैम्ब्रिज तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न आधारों पर की गई हैं। इनमें से कुछ प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार से बताई जा सकती हैं

(1) प्रो० फिशर ने MV = PT माना है जो एक साधारण सत्य को बताता है अर्थात् यह समीकरण के दोनों पक्ष MV तथा PT आर्थिक अर्थव्यवस्था में सौदों के दो रूप हैं उनकी व्याख्या करता है। इसके अनुसार क्रेता द्वारा जो मुद्रा वस्तुओं तथा सेवाओं के विनिमय के लिए दी जाती है (MV) = विक्रेताओं द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले में प्राप्त धनराशि (PT) के। इस प्रकार यह समीकरण हमें मुद्रा तथा कीमतों की कोई नई जानकारी नहीं देता। इस प्रकार इस सिद्धान्त का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है।

(2) अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित सिद्धान्त का अधिकांश आलोचनाएँ इस सिद्धान्त द्वारा अपनाई जाने वाली अवास्तविक मान्यताओं के ऊपर आधारित हैं जैसे—

(अ) यह सिद्धान्त समाज में उत्पादन तथा कीमतों में होने वाले सामयिक परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता। इसमें मुद्रा के चलन वेग (V) को स्थिर माना गया है जो त्रुटिपूर्ण है। तेजीकाल में V बढ़ जाता है तथा मन्दीकाल में इसमें कमी आती है।

(ब) साख मुद्रा के चलन-वेग (V') को स्थिर मानना त्रुटिपूर्ण है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि बिना मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा V तथा V' में बहुत वृद्धि हो जाती है और कीमत स्तर बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ 1920 और उसके बाद जर्मनी में अति-स्फीतिक काल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि तो हो रही थी परन्तु मुद्रा का चलन-वेग बहुत तेजी से बढ़ रहा था अर्थात् मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के अनुपात से कहीं अधिक अनुपात में कीमत स्तर में वृद्धि इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि कीमत स्तर को मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से अधिक उसका चलन-वेग प्रभावित करता है।

(स) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से कीमत स्तर (P) सदैव नहीं बढ़ता। जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो और उसी अनुपात में T की मात्रा में वृद्धि हो जाए तो P नहीं बढ़ेगा। T के स्थिर रहने की मान्यता त्रुटिपूर्ण है क्योंकि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं पाई जाती। उत्पादन की मात्रा तथा कीमत-स्तर एक-दूसरे से अप्रभावित नहीं रहते।

(द) मुद्रा तथा साख मुद्रा M तथा M' का अनुपात स्थिर मान लेना भी त्रुटिपूर्ण है।

(य) P अर्थात् कीमत-स्तर एक निष्क्रिय तत्व नहीं है P स्वयं समीकरण के अन्य तत्वों को प्रभावित करता है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि V, V', T और M तथा M' के सम्बन्ध शायद ही अपरिवर्तित रहते हैं। यह तत्व दीर्घकाल में ही नहीं वरन् अल्पकाल में भी परिवर्तित होते रहते हैं। जनसंख्या के आकार व्यापार की मात्रा मुद्रा का चलन-वेग तथा मुद्रा तथा साख मुद्रा आदि तत्वों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

(3) दीर्घकालीन व्याख्या—आलोचक कहते हैं कि प्रो० फिशर ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि यह सिद्धान्त दीर्घकालीन है। इस सम्बन्ध में प्रो० क्राउथर का कहना है कि 'अधिक से अधिक मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के पक्ष में हम यह कह सकते हैं कि दीर्घकाल में मुद्रा की उपस्थित मात्रा का कीमत स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है परन्तु अल्पकाल

में···· यह कीमतों की गतियों पर अपना प्रभाव डाल भी सकती है और नहीं भी और यह इस बात पर निर्भर रहता है कि क्या मुद्रा की मात्रा परिवर्तन मुद्रा के चलन-वेग में परिवर्तन द्वारा निष्प्रभावित हो जाते हैं अथवा नहीं।"[1]

'प्रो० फिशर ने क्राउथर द्वारा कहे गए इस सत्य को स्वीकार किया है। प्रो० फिशर कहते हैं कि चलन-वेग तथा व्यापार की मात्रा (V तथा T) अल्पकाल में परिवर्तित हो सकती है परन्तु दीर्घकाल में जब अर्थव्यवस्था साम्य की स्थिति में पहुँच जाती है तो यह तत्व स्थिर हो जाते हैं।

प्रो० कीन्स ने फिशर की इस दीर्घकालिक मान्यता की आलोचना करते हुए कहा है कि दीर्घकालिक सन्तुलन आने वाले काल की भाँति होता है जो कभी नहीं आता। वर्तमान परिवर्तनशील समाज में दीर्घकालिक सन्तुलन (Long-run Equilibrium) जैसी स्थिति नहीं होती। कीन्स कहते हैं कि दीर्घकाल में हम सब मर जाते हैं। इस प्रकार फिशर की व्याख्या अल्पकालिक स्थिति, जो वास्तविकता के अधिक निकट है, की अनदेखी करती है।

(4) समीकरण का यह मानना कि T तथा V स्वतंत्र कीमत-स्तर तथा मुद्रा की मात्रा (P तथा M) स्वतन्त्र हैं उचित नहीं है—आलोचक कहते हैं कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की यह मान्यता उचित नहीं है। वास्तविकता यह है कि M में परिवर्तन मुद्रा के चलन-वेग (V) को प्रभावित करके कीमत-स्तर (P) को प्रभावित कर सकते हैं। इतिहास में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मुद्रा के चलन-वेग (V) में परिवर्तन ने, न कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन (M) ने कीमत-स्तर को प्रभावित किया है। 1920 के बाद जर्मनी में अति-स्फीति (Hyper Inflation) के लिए मुद्रा का चलन-वेग अधिक उत्तरदायी था न कि उसकी चलन-मात्रा (इसका कारण यह था कि जर्मनी की मुद्रा मार्क में तेजी से गिरावट के कारण लोग जल्दी-जल्दी वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय करने के लिए मार्क का प्रयोग कर रहे थे)।

सन् 1920 में ही जहाँ एक ओर जर्मनी में कीमत-स्तर बढ़ने का प्रमुख कारण जर्मनी की मुद्रा मार्क के चलन वेग था, वहीं उस समय अमरीका में समृद्धि दिखाई दे रही थी। वहाँ व्यापार की मात्रा (T) में वृद्धि से मुद्रा की मात्रा (M) में वृद्धि हो रही थी जबकि कीमत-स्तर (P) में वृद्धि नहीं पाई जा रही थी। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समीकरण के सभी चर (Variables) आपस में एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं और यह जानना कठिन होता है कि कौन-सा तत्व किस तत्व को और कौन-सा प्रतिफल किसके कारण है। मुद्रा परिमाण सिद्धान्त विभिन्न चरों की पारस्परिक निर्भरता को भुलाकर यह कहता है कि M में परिवर्तन के कारण P प्रभावित होता है, त्रुटिपूर्ण व्याख्या है।

(5) परिमाण सिद्धान्त में पाई जाने वाली असंगतियाँ—यह आलोचना प्रमुखतः प्रो० जार्ज एन० हाम (George N Halm) द्वारा की गई है। प्रो० फिशर के समीकरण के कुछ चरों की तुलना नहीं की जा सकती उदाहरण के लिए M समय क्षण (Point of

---

1 the most we can say for the quantity theory is that the quantity in existence seems to be dominant influence on the Price-level on the average of long period But in the short period···· it may or may not control the movements of prices. And whether it does or does not depend on whether changes in the quantity of money are offset by changes in velocity of its circulation." —*Crowther*

time) तथा V समयावधि (Period of Time) से सम्बन्धित होता है और इस प्रकार MV का अर्थ दो विभिन्न चीजों को गुणा करके रखना है। इसी प्रकार P अर्थात् कीमत-स्तर में भी सभी प्रकार की कीमतें शामिल होती हैं जैसे—थोक मूल्य तथा फुटकर मूल्य, मजदूरी तथा लाभ। कुछ वस्तुओं की कीमतें तेजी से बढ़ती हैं जबकि कुछ की इतनी तेजी से नहीं बढ़तीं। इसी प्रकार T के अन्तर्गत सभी प्रकार की वस्तुओं तथा सेवाओं को शामिल किया जाता है। प्रो० हांम कहते हैं कि हम परिमाण समीकरण को बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझना चाहिए अन्यथा हम बहुत सी कठिनाइयों में पड़ जायेंगे।

(6) **सिद्धान्त स्थिर समाज के लिए तो सही है प्रगतिशील समाज के लिए नहीं—** आलोचक कहते हैं कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएँ स्थिर समाज के लिए तो सही हो सकती हैं, परन्तु प्रावैगिक अथवा प्रगतिशील समाज के लिए यह सही नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रो० कीन्स का कहना है कि "ऐसे सिद्धान्त का वास्तविक कार्य समस्या की प्रावैगिकता को जानना उन तत्त्वों का विश्लेषण इस प्रकार से हो जो कीमत-स्तर निर्धारण की अस्थिर प्रक्रिया तथा विभिन्न साम्य स्थितियों की प्रणाली का अध्ययन करती हो।"[1]

(7) **कीमत-स्तर तथा मुद्रा की पूर्ति के बीच सीधा तथा हेतुक सम्बन्ध नहीं होता—** यह आलोचना विशेष रूप से Prof. Von Hayek ने अपनी पुस्तक "Prices and Production" में की है। वे कहते हैं मुद्रा परिमाण सिद्धान्त यह तो बताता है कि एक समय विशेष में कीमत-स्तर क्या है परन्तु यह उन कारणों की व्याख्या नहीं करता जो कीमत-स्तर में परिवर्तन लाते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कहते हैं कि यह उन छुपे हुए कारणों की व्याख्या नहीं करता जो मुद्रा के मूल्य में परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त M तथा P का अवास्तविक हेतुक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है तथा यह कीमतों में होने वाले उन सापेक्ष परिवर्तनों को जो मौद्रिक कारणों से उत्पन्न होते हैं, की व्याख्या नहीं करता।

(8) **व्यापार चक्रों की उपेक्षा**—आलोचक कहते हैं कि बिना मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन हुए कीमत-स्तर में व्यापार चक्रों के कारण परिवर्तन होते हैं जिनके बारे में यह सिद्धान्त कुछ नहीं कहता। विश्वव्यापी तेजी की मन्दी इसका ज्वलन्त उदाहरण है। यह सिद्धान्त तो यह कहता है कि मन्दीकाल में कीमत-स्तर ऊँचा करने की दृष्टि से चलन में मुद्रा की मात्रा को बढ़ाना चाहिए। अमरीका में मन्दी के समय चलन में अधिक अतिरिक्त मुद्रा की मात्रा डालने पर भी कीमत-स्तर में आशातीत वृद्धि नहीं हुई थी।

(9) **मुद्रा की मात्रा (M) को कीमत-स्तर के निर्धारण का एकमात्र कारण मानना उचित नहीं है—** प्रो० कीन्स कहते हैं कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त में कीमत-स्तर निर्धारण में मुद्रा की मात्रा को एकमात्र कारण मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। उनका कहना है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों से ही कीमत-स्तर परिवर्तित नहीं होता वरन् इसमें परिवर्तन आय, व्यय, बचत एवं विनियोग जैसे मुख्य कारकों द्वारा भी होते हैं जिनके बारे में यह सिद्धान्त कुछ नहीं कहता।

(10) **सिद्धान्त कुछ मौद्रिक कारणों को ही नहीं वरन् अमौद्रिक कारणों की भी उपेक्षा करता है—** आलोचक कहते हैं कि प्रो० इर्विंग फिशर ने उन अमौद्रिक कारणों की

---

1 "The real task of such a theory is to treat the problem dynamically, analysing the different elements involved in such a manner as to exhibit the casual process by which the price level is determined and the method of transition from one position of equilibrium to another." —*J. M. Keynes*

चर्चा की है जो कीमत स्तर को प्रभावित करते हैं परन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्त की व्याख्या में इन तत्वों की उपेक्षा की है। अमौद्रिक कारण जैसे यातायात सुविधाओं, उद्योगों में विस्तार तथा मानव आवश्यकताओं की भिन्नता आदि ऐसे अमौद्रिक तत्व होते हैं जिनसे व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप कीमत स्तर में गिरावट आती है। इसी प्रकार बहुत से अमौद्रिक कारण ये मुद्रा के चलन-वेग में वृद्धि कीमत-स्तर में वृद्धि के लिए उत्तरदायी होती है जिसको प्रो० फिशर अपने सिद्धान्त में महत्व नहीं देते जो त्रुटिपूर्ण है।

(11) **पूर्ण रोजगार की मान्यता त्रुटिपूर्ण है**—आलोचक कहते हैं कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की स्थिति को मानकर चलता है जबकि व्यावहारिक रूप से पूर्ण रोजगार की स्थिति कहीं भी देखने को नहीं मिलती। मुद्रा परिमाण सिद्धान्त केवल उसी अवस्था में सही हो सकता है जबकि उत्पादन की मुद्रा लोच शून्य होगी। इसके विपरीत यदि उत्पादन की मुद्रा लोच धनात्मक है तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि लाएगी और मुद्रा परिमाण सिद्धान्त लागू नहीं होगा। मुद्रा परिमाण सिद्धान्त केवल उसी अवस्था में लागू होगा जहाँ बेरोजगार साधन नहीं पाए जाते। यदि अर्थव्यवस्था में बेरोजगार साधन हैं तो उत्पादन की पूर्ति कम लोचदार होगी और मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि लोगों की आय तथा उत्पादन में वृद्धि करेगी न कि कीमत-स्तर में।

(12) **यह सिद्धान्त व्यापारियों के सौदों का माप करता है न कि मुद्रा की क्रय-शक्ति का**—प्रो० कीन्स कहते हैं कि फिशर की व्याख्या में T कुल व्यापार की व्याख्या करता है जिसे मुद्रा के माध्यम से किया जाता है। कीन्स कहते हैं कि T वस्तु सौदों की ओर संकेत करता है जबकि मुद्रा के द्वारा वस्तु सौदों के अतिरिक्त बहुत से व्यापारिक औद्योगिक और वित्तीय सौदे किए जाते हैं जिनके बारे में यह सिद्धान्त कुछ नहीं कहता। वस्तु सौदे कुल सौदों का एक छोटा सा भाग होते हैं।

(13) **यह सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि यह मुद्रा के विनिमय माध्यम कार्य की व्याख्या करता है, मूल्य संचय कार्य की नहीं**—आलोचक कहते हैं कि पुराने अर्थशास्त्रियों की इस मान्यता को प्रो० फिशर ने स्वीकार किया है कि मुद्रा का महत्वपूर्ण कार्य केवल विनिमय का माध्यम ही है और इसको सम्पादित करने के लिए ही केवल मुद्रा की माँग की जाती है वरन् मुद्रा एक महत्वहीन वस्तु है। प्रो० कीन्स कहते हैं कि मुद्रा विनिमय के माध्यम के अलावा मूल्य संचय (Store of Value) का कार्य भी करती है जिसकी उपेक्षा प्रो० फिशर ने की है। मनुष्य मुद्रा की माँग वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के अलावा भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी रखता है जिनके लिए मुद्रा संचित की जाती है। मुद्रा ने धन संचय कार्य को सरल बना दिया है। समाज में मुद्रा का महत्व इस कारण होता है क्योंकि यह वर्तमान तथा भविष्य के बीच एक कड़ी का कार्य करती है। प्रो० फिशर ने मुद्रा के मूल्य संचय जैसे महत्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा की है।

(14) **कीमत-निर्धारण विधि त्रुटिपूर्ण है**—यह आलोचना प्रमुख रूप से प्रो० डब्लू० सी० मिचेल (Prof W. C. Mitchell) ने की है। वे कहते हैं कि कीमत निर्धारण कुल मुद्रा को कुल वस्तुओं से भाग देकर होता है अर्थात् $P = \frac{M}{T}$। कीमत-निर्धारण की यह विधि गलत है। वस्तु स्थिति यह है कि कीमत निर्धारण में माँग के अलावा भविष्य का भी प्रभाव पड़ता है। Prof Mitchell कहते हैं कि "अधिकांश समय P तथा T समीकरण में सक्रिय शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं और वे M तथा V में परिवर्तन लाते हैं। इसके अतिरिक्त वे M पर भी प्रभाव डालते हैं।"

(15) कीमत निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त की उपेक्षा—आलोचक कहते हैं कि प्रो० फिशर की व्याख्या कीमत-निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त से बिल्कुल अलग है। सच्चाई यह है कि सभी वस्तुओं के समान मुद्रा का मूल्य भी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। यह सिद्धान्त मुद्रा की पूर्ति पक्ष को अधिक महत्व देता है तथा एक पक्षीय है एवं अधूरा है।

(16) कीमत-स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों का प्रभाव—प्रो० फिशर के सिद्धान्त की एक आलोचना यह भी की जाती है कि इन्होंने देश के कीमत-स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के पड़ने वाले प्रभाव की उपेक्षा की है। एक देश के मूल्य में परिवर्तनों का प्रभाव दूसरे देश पर पड़ना एक स्वाभाविक घटना है।

(17) ब्याज की दर की उपेक्षा—आलोचक कहते हैं कि प्रो० फिशर ने ब्याज की दर जैसे मौद्रिक तत्व की उपेक्षा की है जो कि मुद्रा की मात्रा (M) तथा कीमत स्तर (P) के मध्य एक कड़ी का काम करता है।

(18) यह सिद्धान्त यह तो बताता है कि कीमत स्तर में परिवर्तन कैसे होता है परन्तु यह नहीं बताता कि यह परिवर्तन क्यों होते हैं—प्रो० क्राउथर ने उक्त आलोचना करते हुए कहा है कि यह नहीं बता सकता कि क्योंकर ऐसा होता है कि मुद्रा की मात्रा डालने पर कीमत स्तर बढ़ता है जबकि दूसरे समय उतनी ही मुद्रा की मात्रा डालने पर कीमत स्तर पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।[1]

(19) यह सिद्धान्त उन कारणों की व्याख्या करता है जो चलन-वेग को नियन्त्रित करते हैं—आलोचक कहते हैं कि जब कीमतों में गिरावट के चिह्न विद्यमान होते हैं तो मुद्रा के चलन वेग की तीव्रता नीची तथा कीमतों के बढ़ने की स्थिति में मुद्रा के चलन-वेग की तीव्रता ऊँची होती है। मुद्रा परिमाण सिद्धान्त इन कारणों की व्याख्या नहीं करता जो चलन-वेग को प्रभावित एवं नियन्त्रित करते हैं।

(20) प्रो० कैनन का कहना है कि अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा माँग और पूर्ति के प्रभावी नियम द्वारा नियन्त्रित नहीं होते—प्रो० कैनन का इस सम्बन्ध में कहना है कि मुद्रा की माँग व्यापारिक सौदों की मात्रा पर निर्भर न करके लोगों द्वारा नकदी रखने की योग्यता और इच्छा पर ठीक उसी प्रकार निर्भर करती है जिस प्रकार मकानों की माँग मकानों में रहने वालों के द्वारा होती है न कि उन व्यक्तियों के द्वारा जो मकानों का क्रय-विक्रय अथवा किराए पर उठाते हैं।[2]

निष्कर्ष (Conclusion)—प्रो० इर्विंग फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की इन आलोचनाओं को देखने से ऐसा लगता है कि यह सिद्धान्त दोष एवं त्रुटियों से भरा पड़ा है और शायद ही इसका कोई उपयोग अर्थशास्त्र जैसे विज्ञान के लिए हो, परन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है। सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद भी मुद्रा परिमाण सिद्धान्त इस बात की ओर संकेत करता है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से कीमत-स्तर सामान्य दशाओं में बढ़ेगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कीमत-स्तर में वृद्धि का एक मात्र नहीं तो कम से कम एक प्रमुख कारण मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होना होता है।

---

1. "It cannot even explain why it is that a creation of money will sometimes take and start off a rise in prices, while at another an equal creation may have no effect at all" —*Crowther*
2. Edwin Cannon

...आधार पर पाई जाती है—

यह सिद्धान्त वर्तमान सरकारों के लिए एक संकेत एवं चेतावनी अवश्य प्रस्तुत करता है और वह यह है कि अर्थव्यवस्था को सन्तुलन में बनाये रखने के लिए सरकार को मुद्रा की मात्रा पर समय समय पर अंकुश लगाना चाहिए अर्थात् देश की मौद्रिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर मुद्रा की पूर्ति करनी चाहिए। सरकार को उन तत्वों पर भी नियन्त्रण रखना चाहिए जो मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के लिए उत्तरदायी होते हैं। मुद्रा स्फीति काल में चलन में मुद्रा की मात्रा कम तथा अवस्फीति काल में चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ानी चाहिए अथवा स्फीतिकाल में लोगों की क्रय-शक्ति पर नियन्त्रण के उपाय तथा अवस्फीति काल में लोगों के लिए क्रय शक्ति प्रदान करने के उपाय करने चाहिए। इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था को सन्तुलन की स्थिति में रखने के लिए सरकार की मौद्रिक नीति महत्वपूर्ण साबित हो सकती है। मौद्रिक नीति के साथ-साथ अन्य उपाय भी सरकार को अपनाने की सलाह दी जाती है।

सिद्धान्त की ऐतिहासिक पुष्टि—मुद्रा परिमाण सिद्धान्त व्यर्थ नहीं है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब मुद्रा की मात्रा चलन में बढ़ी है कीमत-स्तर में वृद्धि हुई है। 19वीं शताब्दी में अमरीका दक्षिणी अफ्रीका आस्ट्रेलिया तथा मैक्सिको में सोना-चांदी की खानों से इन धातुओं की पूर्ति बढ़ी और योरोप में इन धातुओं के निर्यात होने से मुद्रा की पूर्ति बढ़ी थी जिससे कीमत-स्तर बढ़ा था। इसी प्रकार प्रथम तथा द्वितीय विश्व-युद्ध काल में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कीमत-स्तर में वृद्धि का कारण बना। सन् 1923 में जर्मनी में तथा 1917-43 में चीन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण अति स्फीति (Hyper-Inflation) की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इसी प्रकार 19वीं शताब्दी के छठे दशक में दुनियां में स्वर्ण तथा चांदी के उत्पादन में गिरावट आने से कीमत-स्तर में गिरावट के चिह्न दिखाई दे रहे थे। प्रो० गुस्ताव कैसल (Prof Gustav Cassel) ने सांख्यि-कीय आँकड़ों के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया था। 1914 के बाद नोट चलन में बढ़ रहे थे जिसके कारण कीमत-स्तर भी बढ़ रहा था।

भारत में भी पिछले वर्षों से लगातार मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने से कीमत-स्तर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखलाई दे रही है।

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की नकद शेष व्याख्या अथवा कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण (Cash Balance Approach of Quantity Theory of Money or Cambridge Economists View)

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या नकद शेष समीकरण द्वारा भी की जाती है। मुद्रा परिमाण की इस व्याख्या को प्रमुख रूप से कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों जैसे प्रो० एल्फ्रेड मार्शल प्रो० पीगू प्रो० रॉबर्टसन तथा जे० एम० कीन्स (Prof Alfred Marshall, Prof Pigou Prof Robertson and Prof J M Keynes) आदि अर्थशास्त्रियों से सम्बद्ध किया जाता है परन्तु इन अर्थशास्त्रियों से पहले भी प्रो० एडमस्मिथ, विलियम पैटी, जॉन लॉक तथा रिचर्ड कण्टीलन आदि विद्वानों के लेखन कार्यों में इसके चिह्न मिलते हैं। कैम्ब्रिज विद्वानों ने प्रो० फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की आलोचना प्रमुख रूप से मुद्रा की पूर्ति तथा मुद्रा के विनिमय माध्यम कार्य पर आवश्यकता से अधिक महत्व देने के फलस्वरूप करते हुए की है। कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों का कहना है कि नकद शेष व्याख्या मुद्रा की उस मात्रा से सम्बन्धित होती है जो लोग अपने पास किसी विशेष समय क्षण पर रखते हैं न कि एक समयावधि में रखते हैं। दूसरे शब्दों में इन विद्वानों का कहना है कि मुद्रा की मांग और पूर्ति द्वारा एक समय-क्षण में मुद्रा का मूल्य निर्भर रहता है न कि एक समयावधि में। इस विचारधारा के अनुसार मुद्रा का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति की शक्तियों पर निर्भर करता है। इससे पहले के अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की पूर्ति पक्ष को महत्वपूर्ण माना

था और मुद्रा की माँग को स्थिर मानकर उसे उपेक्षित कर दिया, परन्तु कैम्ब्रिज विद्वानों ने मुद्रा की पूर्ति के साथ मुद्रा के माँग पक्ष को अधिक महत्व दिया है।

कैम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार मुद्रा का मूल्य मुद्रा की माँग पर निर्भर करता है और मुद्रा की माँग विनिमय के माध्यम अर्थात् व्यापारिक सौदों के सम्पादन हेतु नहीं होती वरन् मुद्रा के मूल्य संचय कार्य (Store of Value) अर्थात् नकद रखने की प्रवृत्ति पर जो विभिन्न उद्देश्यों द्वारा प्रभावित होती है निर्भर करती है। यह विद्वान कहते हैं कि मुद्रा की दो विशेषताएँ प्रमुख हैं। प्रथम बैठी हुई मुद्रा (Sitting Money) दूसरी उड़ती हुई मुद्रा (Money on Wings) जो मूल्य संचय (Store of Value) तथा विनिमय के माध्यम (Medium of Exchange) कार्यों के लिए होता है। कैम्ब्रिज विद्वानों का कहना है कि मुद्रा की वास्तविक माँग उन लोगों के द्वारा की जाती है जो कि मुद्रा को विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपने पास नकदी के रूप में रखना चाहते हैं। कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के संस्थापक अर्थशास्त्री प्रो० मार्शल ने नकद शेष समीकरण के सार को बताते हुए निम्नांकित वक्तव्य दिया था

समाज की प्रत्येक अवस्था में लोग अपनी आय के एक भाग को चालू मुद्रा अथवा नकदी में रखना चाहते हैं यह भाग 1/5, 1/10 तथा 1/20 हो सकता है। इस नकद मुद्रा को रखने के कारण उनको अपने व्यवसाय को संचालित करने में आसानी तथा सुविधा हो जाती है तथा उनको मोल भाव करने से होने वाला लाभ मिल जाता है परन्तु *दूसरी ओर यह अलाभकारी साधनों के रूप में रखा हो सकता है जो विनियोग करने में* आय प्राप्ति तथा परितोषक दिलाने वाला होता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी आय के भाग को मुद्रा तथा अन्य किसी रूप में संचित रखने के निर्णय करते समय इससे विभिन्न रूपों से होने वाले लाभों का लेखा जोखा करता है। वह उन लाभों को जो उसे अपनी आय तथा धन को नकदी में संचित रखने के कारण प्राप्त होती की तुलना अन्य लाभों तथा उन हानियों से करता है जो उसकी आय तथा धन को विनियोजित न करने के कारण उठानी पड़ती है — हम यह मानकर चलें कि एक देश के निवासी मिलकर औसतन अपनी सम्पत्ति के दसवें भाग को अपने पास क्रय शक्ति के रूप में बनाए रखते हैं तो सम्पूर्ण मुद्रा की चालू मात्रा इन सब धनराशियों के योग के बराबर होगी।[1]

---

1 *In every state of society there is some fraction of their income which people find it worthwhile to keep in the form of currency it may be a fifth or a tenth or a twentieth A large command of resources in the form of currency renders their business easy smooth and puts them at an advantage in bargaining but on the other hand it locks up in a barren form resources that might yield an income or gratification if invested Every man finds the appropriate fraction after balancing one against another, the advantages of a further ready command and the disadvantages of putting more of his resources into a form in which they yield him no income or income or other Benefit*

Let us suppose that the inhabitants of a country find it just worthwhile to keep by them on the average ready purchasing power to the extent of a tenth part of their property then *the aggregate* value of the currency will tend to be equal to the sum of these amounts
—*Prof Alfred Marshall*

मार्शल आधार पर भाग जाता है—

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों द्वारा दिए गए मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के समीकरण निम्नलिखित रूप में बताए जा सकते हैं—

(1) **प्रो० मार्शल का समीकरण**—प्रो० मार्शल कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के संस्थापक अर्थशास्त्री थे। जैसा कि मार्शल की उपर्युक्त व्याख्या से ज्ञात होता है उन्होंने बताया है कि लोग अपनी वार्षिक आय तथा सम्पत्ति का एक भाग नगदी के रूप में रखते हैं। लोगों द्वारा मुद्रा की माँग का सम्बन्ध उनके द्वारा कुल आय तथा सम्पत्ति के नकद रूप अथवा नकद क्रय शक्ति (नगदी में मुद्रा तथा बैंक जमाएँ शामिल होती हैं) का सम्बन्ध इस सम्पत्ति तथा आय की मात्रा के स्थिर अनुपात से होता है जिसको हम औसत रूप में 1/5, 1/10 या 1/20 भाग से व्यक्त कर सकते हैं। मार्शल का समीकरण निम्न रूप से दिया जा सकता है—

$$M = KY + K'A$$

M = मुद्रा की मात्रा। Y = कुल आय। K = कुल आय का वह भाग जिसे लोग समाज में मुद्रा के रूप में संचित रखते हैं।

K' = कुल सम्पत्ति वह भाग जिसे उसका स्वामी मुद्रा के रूप में रखता है।

A = कुल सम्पत्ति का द्रव्य मूल्य

मार्शल के उपर्युक्त समीकरण को हम दो रूपों में देखते हैं प्रथम आय भाग, दूसरा सम्पत्ति भाग। प्रो० मार्शल के समर्थकों ने सम्पत्ति भाग को अनावश्यक समझते हुए इसे हटा दिया और उनके समीकरण का सामान्य रूप इस प्रकार हो गया—

$$M = KY$$

M = मुद्रा की मात्रा

K = आय का वह भाग जिसे लोग नकद रूप में रखना चाहते हैं अर्थात् वेग का व्युत्क्रम सम्बन्ध (That Portion of Income which People Want to Hold in the form of Money or Reciprocal of Velocity)

यदि Y के स्थान पर PO को रखा जाये अर्थात् कुल वार्षिक आय कुल वास्तविक उत्पादन (Output or O) तथा कीमत-स्तर (Price-Level or P) का गुणनफल होती है तो समीकरण का रूप इस प्रकार होगा—

$$M = KPO$$

अथवा $P = \frac{M}{KO}$

M = मुद्रा की मात्रा

P = कीमत-स्तर

O = कुल वास्तविक उत्पादन

K = वास्तविक आय का वह भाग जिसे लोग मुद्रा के रूप में संचित रखते हैं।

(2) **प्रो० पीगू का समीकरण**—प्रो० ए० सी० पीगू प्रो० मार्शल के शिष्य थे और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में मार्शल द्वारा अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद पर रहे। उनके समीकरण के भी दो रूप हैं जो निम्नलिखित हैं—

(a) $P = \frac{KR}{M}$ (मुद्रा की एक इकाई के मूल्य की व्याख्या के रूप में)

$$or\ P = \frac{M}{KR}$$ (वस्तु की एक इकाई के मूल्य के रूप में)

P = मुद्रा का मूल्य अथवा क्रय शक्ति

M = कुल मुद्रा की मात्रा अथवा मुद्रा इकाइयों की कुल मात्रा

K = कुल वास्तविक आय का वह भाग जिसे लोग नकदी के रूप में रखते हैं।

R = कुल वास्तविक आय

प्रो० पीगू कहते हैं कि सभी लोग पूर्णरूप से नकदी नहीं रखते अर्थात् कानूनी मुद्रा को अपने पास नकद रूप में नहीं रखते। कुछ लोग इस धनराशि का एक भाग बैंक जमाओं के रूप में रखते हैं। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए प्रो० पीगू के समीकरण का विस्तृत रूप निम्न प्रकार से सामने आता है

$$P = \frac{KR}{M}\left[C + h(I - C)\right]$$

अथवा $$M = \frac{KR}{P}\left[C + h(I - C)\right]$$

समीकरण P M,K R का अर्थ पहले वाले समीकरण के समान है। C = विधि-ग्राह्य अथवा कानूनी मुद्रा की वह राशि जिसे लोग नकदी के रूप में रखते हैं। I—C विधि ग्राह्य नकद कोषों का वह भाग जिसे लोग बैंक जमाओं के रूप में रखते हैं। h = बैंक जमाओं का वह भाग जिसे बैंक अपने पास नकद रूप में रखते हैं। प्रो० पीगू ने अपने समीकरण में बैंक जमाओं को अलग स्थान देने के कारण ही समीकरण को विस्तृत कर लिया है। चूँकि परम्परागत रूप से बैंक जमा भी नकदी की भाँति ही तरल होती है इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से प्रो० पीगू के प्रथम समीकरण को ही अधिक मान्यता प्राप्त है अर्थात्

$$P = \frac{KR}{M}\ or\ P = \frac{M}{KR}$$

प्रो० पीगू के समीकरण के तत्व P K,R को स्वतन्त्र चर। (Independent Variables) के रूप में नहीं माना जाता है और न ही यह आवश्यक है सभी चर एक ही दिशा में गतिशील हों। M सरकार द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि M में परिवर्तन होने पर P में भी उसी अनुपात में परिवर्तन होगा। इसका कारण यह है कि M में परिवर्तन के साथ-साथ K तथा R तत्वों में भी परिवर्तन हो सकता है। समीकरण में K द्वारा वास्तविक माँग ज्ञात की जा सकती है।

(3) **प्रो० राबर्टसन का समीकरण**—प्रो० डी० एच० राबर्टसन कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के सदस्य थे। उनका नकद शेष समीकरण निम्न प्रकार दिया जाता है—

$$M = PKT\ or\ P = \frac{M}{KT}\ or\ P = \frac{KT}{M}$$

प्रो० राबर्टसन का समीकरण प्रो० पीगू के समीकरण से थोड़ा ही भिन्न है। प्रो० राबर्टसन का समीकरण प्रो० पीगू समीकरण से अच्छा माना जाता है, क्योंकि प्रो० फिशर के समीकरण से इसकी तुलना करना आसान है। कैम्ब्रिज समीकरण में यह सबसे सरल है। प्रो० राबर्टसन ने P,M,T आदि तत्वों को प्रो० फिशर के समीकरण के अनुसार तथा K को मार्शल के समीकरण के अनुसार मान लिया है।

(4) प्रो० कीन्स का समीकरण—प्रो जे० एम० कीन्स पहले कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के अर्थशास्त्री और प्रो० मार्शल के समर्थक तथा शिष्य थे। प्रो० कीन्स के समीकरण को कैम्ब्रिज समीकरण में संशोधन के रूप में स्वीकार किया जाता है। उन्होंने इस समीकरण को वास्तविक शेष व्याख्या (Real Balance Approach) के नाम से अपनी पुस्तक "A Tract on Monetary Reform" में अलग से दिया है। उनका कहना था कि उपभोग इकाइयों से सम्बन्धित वास्तविक लेन-देन की एक निश्चित राशि के बराबर व्यक्ति अपने पास वास्तविक शेष (Real Balance) रखते हैं।

प्रो० कीन्स का कहना है कि मुद्रा को रखने वाले व्यक्ति को वास्तविक शेषों की उतनी मात्रा की आवश्यकता होगी जो कि उपभोग इकाइयों को प्राप्त करने के लिए वास्तविक लेन-देन की मात्रा जिस पर उन्हें व्यय किया जाता है के आपसी सम्बन्ध क्या है? उन्होंने वास्तविक शेषों को उपभोग इकाइयों द्वारा मापा है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि यदि वास्तविक शेष तथा वास्तविक लेन-देन की मात्राओं का आपसी सम्बन्ध पूर्ववर्ती या पहले जैसा ही रहता है तो नकद शेषों (Cash Balances) की राशि, जिसकी आवश्यकता होगी वह वास्तविक शेषों की उस राशि के बराबर होगी जिसका निर्धारण उपर्युक्त आपसी सम्बन्धों (वास्तविक शेष तथा वास्तविक लेन-देन) द्वारा होता है। प्रो० कीन्स का यह समीकरण निम्न प्रकार से है—

$$n = p(K + rK')$$

n = नकद मुद्रा की कुल मात्रा

p = उपभोग इकाइयों की कीमत-स्तर

r = बैंक की नकद निधि तथा कुल जमाओं का अनुपात

K = वास्तविक शेष की राशि जिन्हें नकद रखा जाता है अथवा उपभोग इकाइयों की मात्रा जिनको जनता मुद्रा के रूप में संचित रखती है।

K' वास्तविक शेष जो बैंक जमा के रूप में रहते हैं अथवा उपभोग इकाइयों की वह मात्रा जिनको प्राप्त करने के लिए समाज मुद्रा को बैंकों में जमाओं के रूप में रखता है।

प्रो० कीन्स के इस समीकरण को इस प्रकार भी रखा जाता है—

$$P = \frac{n}{K + rK}$$

प्रो० कीन्स के समीकरण में K तथा K' के मध्य अनुपात लोगों की बैंकिंग आदतों पर निर्भर करेगा जबकि उनका विशुद्ध मूल्य लोगों की अपनी आदतों पर निर्भर करेगा। r का मूल्य बैंकिंग व्यवस्था द्वारा नकदी रखने की प्रथा पर निर्भर करेगा। प्रो० कीन्स यह मानकर चलते हैं कि K, K' तथा r अल्पकाल में लगभग अपरिवर्तित रहते हैं और P में परिवर्तन n में परिवर्तनों के आधार पर होते हैं।

प्रो० कीन्स के उपर्युक्त समीकरण को हम कैम्ब्रिज समीकरण की श्रेणी में लेते हैं क्योंकि प्रो० पीगू के समीकरण $P = \frac{M}{KR}$ तथा $P = \frac{n}{K + rK'}$ में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

कैम्ब्रिज समीकरण नकद शेष की आलोचनायें
(Criticisms of Cambridge Cash Balances Equation)

नकद शेष समीकरण भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। निम्नांकित तथ्यों के आधार पर इसकी आलोचनाएँ निम्नांकित हैं।

(1) **अर्थव्यवस्था में मूल्यों की गत्यात्मक प्रवृत्ति के प्रति उदासीनता**— आलोचक कहते हैं कि कैम्ब्रिज व्याख्या अर्थव्यवस्था में मूल्यों की गत्यात्मक प्रवृत्ति के बारे में कुछ नहीं कहती। इस प्रकार यह व्याख्या भी अधूरी है।

(2) ***मुद्रा के सर्वव्यापी रूप की अवहेलना***—*कैम्ब्रिज समीकरण की आलोचना का* एक आधार यह है कि यह समीकरण मुद्रा की माँग निर्धारण के सभी तत्वों की व्याख्या नहीं करता उदाहरणार्थ मुद्रा की माँग के उस पक्ष की व्याख्या नहीं करता जो सट्टा उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है तथा जिसका मुद्रा की कुल माँग के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(3) ***समीकरण के विभिन्न तत्वों की अस्थिरता***—*कैम्ब्रिज व्याख्या की एक अन्य* आलोचना यह है कि समीकरण में K तथा T को स्थिर माना गया है। इस कारण नकद शेष समीकरण में वे सभी आलोचनाएँ लागू होती हैं जो फिशर के समीकरण के बारे में कही जाती हैं।

(4) **मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव अस्पष्ट है**—आलोचक कहते हैं *कि कैम्ब्रिज अर्थशास्त्री यह विश्लेषण नहीं कर पाए कि मुद्रा की मात्रा में किसी* की हुई मात्रा की वृद्धि के परिणामस्वरूप मूल्यों तथा उत्पादन में कितनी वृद्धि होती है।

(5) **कीमत स्तर को प्रभावित करने वाले सभी तत्वों की उपेक्षा**—कैम्ब्रिज व्याख्या उन सभी शक्तियों की व्याख्या नहीं करती है जो P को प्रभावित करते हैं— जैसे ब्याज की दर मुद्रा की पूर्ति आदि।

(6) ***बैंक जमा राशियों की अस्पष्ट व्याख्या***—*यह आरोप भी कैम्ब्रिज व्याख्या पर* लगाया जाता है कि यह उन बैंक जमा राशियों के बारे में कुछ नहीं कहती जो व्यापारिक बैंकों द्वारा प्रदान करने से होती है।

प्रो० फिशर की व्याख्या (लेन-देन) तथा कैम्ब्रिज व्याख्या (नकद शेष) की तुलना (Comparison of Prof Fisher's (Transactions) and Cambridge's (Cash Balance) *Approaches*)

प्रो० फिशर एवं कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों की मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की विचारधाराओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि दोनों विचारधाराओं की व्याख्या के लिए जो समीकरण प्रस्तुत किए गए हैं उनमें कुछ समानताएँ तथा असमानताएँ अथवा अन्तर देखने को मिलते हैं। सबसे पहले हम समानताओं और उसके बाद असमानताओं का अवलोकन करेंगे।

दोनों समीकरणों में समानता—प्रो० फिशर तथा कैम्ब्रिज विचारधारा में समानता अधोलिखित आधार पर पाई जाती है—

(1) प्रो० फिशर के समीकरण में मुद्रा के चलन-वेग (V) को अधिक महत्व दिया गया है जबकि कैम्ब्रिज व्याख्या में नकद शेष (K), जो गणितीय दृष्टि से मुद्रा के चलन-वेग का विपरीत है, को अधिक महत्व दिया गया है। यदि दोनों समीकरणों की मुद्रा मूल्य निर्धारण में मात्र मुद्रा को अलग से महत्व न देकर इसे भी मुद्रा ही मान लिया जाय तो गणितीय दृष्टि से प्रो० फिशर और कैम्ब्रिज व्याख्या लगभग समान होंगी जैसे $P = \frac{MV}{T}$

or $P = \frac{M}{KR}$ इन दोनों में MV तथा M दोनों एक समान हैं। समीकरण के नीचे वाले भाग अर्थात् T तथा KR ही अलग दिखाई देते हैं। T को प्रो० फिशर ने समस्त लेन-देन अर्थात सौदों से लिया है जो नकद मुद्रा द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं जबकि KR को कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने उस नकद मुद्रा से व्यक्त किया है जो वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त करने हेतु व्यक्ति नकद रूप में रखते हैं। इस प्रकार 1/V तथा V के स्थान 1/K द्वारा भी इन दोनों में समानता स्थापित की जा सकती है।

(2) दोनों ही समीकरण एक ही घटना के दो रूप नजर आते हैं जैसाकि प्रो० डी० एच० रॉबर्टसन कहते हैं। नकद व्यवसाय समीकरण मुद्रा के बहाव (Flow) को अधिक महत्व देता है जबकि नकद-शेष समीकरण में मुद्रा के स्टाक अथवा संचय (Stock) को अधिक महत्व दिया गया है। नकद शेष समीकरण में प्रो० पीगू के KR तथा प्रो० कीन्स के K + rK' प्रो० फिशर के T द्वारा एक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध लेन-देन से सम्बन्धित कार्यों से है। इस प्रकार दोनों समीकरण एक ही घटना के दो रूप नजर आते हैं।

(3) दोनों ही मुद्रा की मात्रा को मूल्य-निर्धारण का एक आवश्यक तत्व मानते हैं।

दोनों समीकरणों में असमानताएँ

प्रो० फिशर तथा कैम्ब्रिज व्याख्या दोनों में जहाँ एक ओर कुछ समानताएँ दिखाई देती हैं वहीं दूसरी ओर कुछ महत्वपूर्ण असमानताएँ भी देखने को मिलती हैं जो दोनों व्याख्याओं को एक-दूसरे से पृथक करती हैं। यह असमानताएँ निम्नलिखित रूप से व्यक्त की जा सकती हैं—

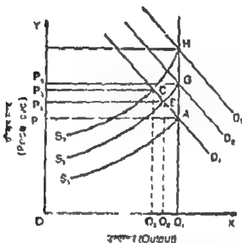
(1) **कीमत-स्तर का अर्थ**—प्रो० फिशर के समीकरण में कीमत स्तर (P) का अर्थ सामान्य कीमत-स्तर (General Price Level) से है जबकि नकद शेष समीकरण में कीमत-स्तर का अर्थ उपभोग वस्तुओं की कीमतों से है। प्रो० ए० एच० हैन्सन (Prof A H Hansen) ने दोनों में अन्तर करते हुए कहा है कि मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की नकद शेष व्याख्या M = KY मौलिक रूप से मुद्रा तथा कीमतों की पूर्णतया एक नवीन व्याख्या है।

(2) **गणितीय दृष्टि से अन्तर**—सामान्यतः यह कहा जाता है कि नकद शेष समीकरण एक बीजगणितीय परिधान में मुद्रा परिमाण सिद्धान्त ही है और कुछ नहीं है। प्रो० ए० एच० हैन्सन कहते हैं कि गणितीय दृष्टि से K नकद व्यवसाय समीकरण MV = PO में V का उल्टा है। वे आगे कहते हैं कि गणितीय समानता की दृष्टि से T = 1/K से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि मार्शलवादी विशेषतः वास्तव में ह्यूम-फिशर (Hume Fisher) विश्ले-

के रूप में प्रयोग में लाई जाती है तथा परिणामस्वरूप प्रथम वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो जाने से अन्य वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि होगी।

लागत वृद्धि स्फीति का रेखाचित्र

निम्न रेखाचित्र लागत वृद्धि स्फीति को बताता है। चित्र में पूर्ण रोजगार उत्पादन सन्तुलन बिन्दु वहाँ पर प्राप्त होता है जहाँ DI तथा S_1 एक-दूसरे को काटते हैं अर्थात् A बिन्दु पर। इस बिन्दु A पर उत्पादन OQ_1 है तथा कीमत OP_1 है। अब पूर्ति वक्र



S_1 से S_2 पर जाता है तो उत्पादन की कुल मात्रा गिरकर OQ_2 हो जाती है और कीमत-स्तर O बढ़कर OP_2 हो जाता है। इसी प्रकार जब पूर्ति वक्र बढ़कर S_3 हो जाता है तो कीमत-स्तर बढ़कर OP_3 हो जाता है। यह स्थिति उस समय तक रहेगी जब तक कि पूर्ति वक्र बढ़ने की प्रवृत्ति दिखलाएगा।

उदाहरणार्थ अगर इस्पात मिल में काम करने वाले श्रमिकों के वेतनों में वृद्धि हो जाने के हेतु इस्पात के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तो परिणामस्वरूप कृषि यन्त्रों मोटर गाड़ियों आदि वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि हो जायगी। मोटर बसों तथा ट्रकों की कीमत में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप परिवहन तथा यात्रा करने के मूल्यों में भी वृद्धि होगी। कृषि यन्त्रों के मूल्यों में वृद्धि होने के हेतु खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि होगी तथा रहन-सहन की लागत में वृद्धि हो जायगी जिसके परिणामस्वरूप सामान्य वेतनों में वृद्धि होगी। इस प्रकार मूल्य-वृद्धि की यह प्रक्रिया सर्पिली रूप धारण कर लेगी। स्फीति के भिन्न प्रकारों को अगले पृष्ठ पर दिये चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है —

मांग प्रेरित स्फीति बनाम लागत वृद्धि स्फीति (Demand Pull Inflation Versus Cost Push Inflation)

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि स्फीति न केवल मांग वृद्धि अथवा न केवल लागत वृद्धि होती है। वास्तविकता यह है कि इसमें मांग और लागत दोनों ही प्रकार की वृद्धि के तत्व पाए जाते हैं। वे कहते हैं कि लागत वृद्धि स्फीति नाम की स्फीति होती ही नहीं है, क्योंकि बिना मांग तथा क्रय शक्ति में वृद्धि हुए, लागतों में

स्फीति के प्रकार

- मूल्य-वृद्धि के स्वभाव के आधार पर
  - खुली स्फीति
  - दमित स्फीति
- मूल्य-वृद्धि की गति के आधार पर
  - रेंगती स्फीति
  - चलती स्फीति
  - दौड़ती स्फीति
  - उच्छृंखल या अतिस्फीति
- स्फीति प्रक्रिया की प्रकृति के आधार पर
  - हीनार्थ प्रेरित स्फीति
  - अवमूल्यन जनित स्फीति
  - विदेश व्यापार नियन्त्रण जनित स्फीति
  - अतिविनियोग स्फीति
  - वेतन प्रेरित स्फीति
  - उत्पादनजनित स्फीति
  - लाभ स्फीति
  - आयातित स्फीति
  - माँग प्रेरित स्फीति
- देशकाल स्थिति के आधार पर
  - शान्तिकालीन स्फीति
  - युद्धकालीन स्फीति
  - युद्ध-पश्चात् स्फीति
- समयावधि के आधार पर
  - अल्पावधि स्फीति
  - दीर्घावधि स्फीति
  - चिरावधि स्फीति
- वस्तुओं की संख्या के आधार पर
  - व्यापक स्फीति
  - खण्डीय स्फीति
- माँग व लागत के आधार पर
  - माँग प्रेरित स्फीति
  - लागत-वृद्धि स्फीति

बेरोजगारी तथा बाद में मंदी लाएगी न कि स्फीति। इसी प्रकार से यह कहा जा सकता है कि माँग वृद्धि स्फीति को नहीं लाती है जब तक लागतों में वृद्धि न आ जाए परन्तु यह स्थिति एक प्रमुख अन्तर की उपेक्षा करती है। जैसे कि क्या लागत वृद्धि पूर्व अधिक माँग के सन्तुलन अथवा उसको पूरा कर लेती है अथवा क्या यह असन्तुलन की स्थिति में ले जाती है अथवा क्या यह अतिरिक्त पूर्ति (श्रम तथा उत्पादन क्षमता) को सृजित करती है जिसको प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करके रोका या स्थगित किया जा सकता था।

प्रो० एच० जी० जॉनसन (Prof H G Jhonson) ने दोनों प्रकार की स्फीति के सम्बन्ध में वाद-विवाद को समाप्त करते हुए कहा है कि ' दोनों सिद्धान्त स्फीति के स्वतन्त्र एवं अपने आप में पूर्ण सिद्धान्त नहीं कहे जा सकते वरन् उन्हें मौद्रिक वातावरण में स्फीति प्रक्रिया (Mechanism) से सम्बन्धित सिद्धान्त के रूप में देखना चाहिए।"[1] यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो पता चलता है कि इस बात का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन एवं जटिल कार्य है कि विशेष प्रकार की स्फीति माँग प्रेरित अथवा लागत प्रेरित स्फीति है।

दोनों प्रकार की स्फीति में अन्तर पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं है परन्तु फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनके अन्तर से माँग तथा लागत प्रेरित शक्तियों को अलग करने में सहायता मिलती है। इन दोनों का अन्तर नीतिगत दृष्टि से भी महत्व-पूर्ण कहा जा सकता है।

स्फीति अन्तराल[2] (Inflationary Gap)

इंगलैण्ड के वित्त मन्त्री ने अपने अप्रैल 1941 के बजट भाषण में परिभाषित किया था। उन्होंने इसे परिभाषित करते हुए कहा था कि ' यह (स्फीति अन्तराल) सरकारी व्यय वह मात्रा है जिसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में मानव-शक्ति अथवा भौतिक साम्पत्तिक साधनों अथवा समुदाय के अन्य सदस्यों द्वारा साधनों की कोई अनुरूप मात्रा प्राप्त न होती हो।"[3] स्फीति अन्तराल अर्थव्यवस्था में उस स्थिति को बताता है जिसमें स्थिर कीमतों पर

---

1 " ... The two theories are therefore not independent and self contained theories inflation but rather theories concerning the mechanism of inflation in a monetary environment that permits it ' Essays in Monetary Economics—*H G Johnson* (London, 1967) P 128

2 स्फीतिक अन्तराल शब्द का सबसे पहले प्रतिपादन प्रो० जे० एम० कीन्स ने सन् 1940 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "How to Pay for War" में किया था जिसका अर्थ अत्यधिक सरकारी व्यय से लगाया जाता था, परन्तु स्फीति अन्तराल की घटना उस समय आ सकती है जब पूर्ण रोजगार की अवस्था में कुल निजी माँग में वृद्धि के कुल उपभोग में समान कमी नहीं होती हो।

3 "Inflationary gap is the amount of the government's expenditure against which there is no corresponding release of real resources of manpower or material by some other member of the community " —(Budget Speech of the Chancellor of Exchequer in England, April 1941)

वस्तुओं की कुल पूर्ति की तुलना में कुल माँग अधिक हो जाती है। स्फीति अन्तराल की विचारधारा को वास्तविक आय के स्तर में पूर्ण रोजगार की दिशा से लेना चाहिए। इसको परिभाषित करने के लिए वर्तमान कीमतों पर पूर्ण रोजगार की स्थिति पर कुल उत्पादन की तुलना में *कुल व्यय की अधिकता होती है।* प्रो० कुरीहारा (*Prof Kurihara*) ने स्फीति अन्तराल को परिभाषित करते हुए आधार कीमतों पर कुल उत्पादन की तुलना में कुल सम्भावित व्यय की अधिकता माना है। प्रो० क्लीन (Prof Klein) ने स्फीति अन्तराल का अर्थ उस अन्तर से लिया है जो जनसंख्या अपनी आय में से उपभोग करने की चेष्टा करेगी के मध्य तथा स्फीति से पहले की कीमतों पर जो धनराशि उपभोग के लिए उपलब्ध होगी। यदि यह मान भी लिया जाए कि कुछ साधन बेकार रहते हैं जिनको रोजगार मिल जाने पर वर्तमान आय की अपेक्षा अधिक वृद्धि होगी तो भी पूर्ति की अपेक्षा माँग अधिक होने से कीमतों में वृद्धि होगी, *क्योंकि इसके साथ उत्पादन नहीं बढ़ेगा। इसका कारण यह है कि* बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए मशीनों तथा प्लांट की क्षमता को बढ़ाने में समय लगता है। कच्चे माल की पूर्ति बढ़ाने के लिए कृषि और खनिजों का उत्पादन बढ़ाना होगा। श्रमिकों को नई तकनीक के लिए प्रशिक्षित करना होगा। इन सबके लिए अधिक समय की आवश्यकता होगी। बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए अधिक समय की आवश्यकता होगी। इस प्रकार जब व्यय बढ़ते हैं तो कीमतें बढ़ेंगी और स्फीति *अन्तराल उस समय तक* दिखाई देगा जब तक कि वस्तुओं की पूर्ति नहीं बढ़ाई जाती।

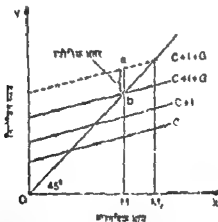
स्फीति अन्तराल को एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझाया जा सकता है। उदाहरण के रूप में हम एक युद्ध अर्थव्यवस्था को लेते हैं जिसमें लगभग पूर्ण रोजगार की स्थिति है। इसमें कुल राष्ट्रीय आय कुल सरकारी तथा निजी व्यय के बराबर होगी जो विनियोग तथा उपभोग के रूप में किया जाता है। माना कि कुल राष्ट्रीय आय 1 200 करोड़ रुपये वर्तमान कीमत-स्तर पर है। अब इस कुल उत्पाद में से सरकार 300 करोड़ *की उत्पत्ति युद्ध कार्यों के लिए ले लेती है तो जनता के उपभोग के लिए 900 करोड़ की* कुल उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय बचेगी। यह 900 करोड़ रुपये वस्तुओं की पूर्ति करने के लिए रह जाते हैं। माना कि इस समयावधि में समुदाय को मौद्रिक आय के रूप में 1,200 करोड़ रुपये दिए जाते हैं इसमें से सरकार 100 करोड़ रुपये करों के रूप में ले लेती है। इस प्रकार लोगों के पास 1100 करोड़ रुपये उपभोग्य आय (Disposable Income) के रूप में बचे रहते हैं। *समुदाय के लोग समस्त उपभोग्य आय को व्यय नहीं कर देंगे और इसके कुछ* भाग को बचा लेंगे। यदि यह मान लें कि लोग अपनी आय का 10% भाग बचाकर रखते हैं, तो हम 1,100 उपभोग्य आय में 110 करोड़ रुपये बचा लिए जायेंगे और प्रभावित आय 990 करोड़ रुपये बचेगी जो वस्तुओं के उपभोग पर व्यय की जाएगी (1,100 करोड़ बचत 110 करोड़ = 990 करोड़ रुपये) इस प्रकार वर्तमान कीमत-स्तर पर स्फीति अन्तराल (*Inflationary Gap*) *90 करोड़ रुपये का होगा (990 करोड़—900 करोड़ रुपये।)* इस प्रकार जब 900 करोड़ रुपये की वस्तुओं के लिए 990 करोड़ रुपये उपभोग व्यय हेतु प्रस्तुत किए जायेंगे, तो 90 करोड़ रुपये का स्फीतिक अन्तराल होगा। इसी बात को निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है :—

माँग पक्ष (Demand Side) करोड़ रुपये		पूर्ति पक्ष (Supply Side) करोड़ रुपये	
1. मौद्रिक आय जो समुदाय को भुगतान के रूप में दी जाती है	1,200	1. कुल राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) वर्तमान आय पर	1,200

2 कर	100	2 युद्ध व्यय अर्थात् कुल राष्ट्रीय आय का भाग जो युद्ध व्यय की पूर्ति हेतु जाता है।	300
3 कुल उपभोग्य आय	1100		
4 समुदाय द्वारा 10% की दर से बचत करना	110		
5 (शुद्ध उपभोग्य आय यह राशि जो कुल अनुमानित व्यय है)	990	3 मूल स्फीति कीमतों पर सामान्य नागरिकों के लिए उपभोग हेतु धनराशि	900

विकास योजना काल में भी इस प्रकार का स्फीति अन्तराल हो सकता है। मौद्रिक व्यय के रूप में विकास योजनाओं के लिए धनराशि अधिक हो सकती है परन्तु व्यय के साथ उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में साथ-साथ वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि विकास योजनाओं के लिए विनियोग की जाने वाली धनराशि तथा उसके विनियोजन के परिणामस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन में समय-विलम्ब (Time lag) होता है। इसमें एक मौलिक तथ्य यह सामने आता है कि जब तक समुदाय के पास उपभोग्य आय की धनराशि तथा उपलब्ध वस्तुओं की धनराशि बराबर होगी तो कीमत-स्तर स्थिर रहेगा लेकिन जैसे उपभोग्य आय उपलब्ध वस्तुओं के मूल्य से अधिक हो जाएगी तो स्फीति अन्तराल दिखाई देगा। इसके विपरीत यदि उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा का मूल्य उपभोग्य आय से अधिक हो जाएगा तब इसे अवस्फीति अन्तराल (Deflationary Gap) की संज्ञा दी जाएगी।

स्फीतिक अन्तर के विचार को रेखाचित्र द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है।



स्पष्टीकरण—रेखाचित्र में OY रेखा पर नियोजित व्यय तथा OX रेखा पर वास्तविक आय को दर्शाया गया है। C = उपभोग I = विनियोग तथा G = सरकारी व्यय। OM आय के स्तर B बिन्दु पर निजी व सरकारी उपभोग एवं विनियोग के रूप में किया गया कुल व्यय (C+I+G) प्रचलित कीमतों पर कुल आय OM के बराबर है। इसी बिन्दु पर प्रचलित कीमतों पर अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति है तथा स्फीतिक अन्तर शून्य है। यदि सरकारी व्यय में वृद्धि हो जाती है जिसे $C+I+G^1$ द्वारा दिखाया गया है तो सन्तुलन बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वास्तविक आय और

कुल उत्पादन में भी उसी अनुपात में वृद्धि होनी चाहिए। जैसे MM^1 की वृद्धि होना आवश्यक नहीं तो असन्तुलन की स्थिति आ जायगी तथा कीमत स्तर बढ़ेगा। रेखाचित्र में ab द्वारा स्फीतिक अन्तर को दिखलाया गया है अर्थात् ab $C+I+G$ तथा $C+I+G$ के अन्तर को दिखलाता है। यह अन्तर उस समय तक बना रहता है जब तक अर्थव्यवस्था में वास्तविक आय में वृद्धि MM^1 के बराबर नहीं हो जाती। आय में MM^2 मात्रा में वृद्धि से स्फीतिक अन्तर समाप्त हो जायगा तथा कीमतों का बढ़ना भी स्थगित हो जायगा।

स्फीति अन्तराल को तीन तरीकों से कम किया जा सकता है जैसे—

(i) जनता से अधिक बचत करवाना।

(ii) अतिरिक्त क्रय शक्ति को करों के रूप में वसूल कर लेना।

(iii) उपभोग्य आय के बराबर बढ़ाकर उत्पादन की मात्रा को ले जाना। एक अच्छी सरकार स्फीति अन्तराल को दूर करने के लिए प्रथम दो तरीके अपनाती है जब कि एक बुरी सरकार कीमतों को बढ़ने देती है और स्फीति अर्थव्यवस्था में दिखाई देती है।

स्फीति अन्तराल का महत्व (Significance of the Inflationary Gap)—स्फीति अन्तराल का महत्व देश में बहुत उपयोगी है। यह मौद्रिक तथा राजकोषीय अधिकारियों को स्फीति के विरुद्ध पर्याप्त कदम उठाने के लिए मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है और उन्हें बताता है कि किन और किस दिशा में स्फीति के विरुद्ध कार्य करें। प्रो० कुरीहारा ने स्फीति अन्तराल के महत्व को बताते हुए कहा है— स्फीति अन्तराल विश्लेषण जोड़ों के रूप में जैसे राष्ट्रीय आय, निवेश की मात्रा तथा उपभोग व्ययों की स्पष्ट व्याख्या करता है जो कि सरकार की नीति को करों, सार्वजनिक व्ययों, बचत अभियानों, साख नियन्त्रण, मजदूरी समायोजन के निर्धारण में सहायता करती है। संक्षेप में इसके अन्तर्गत सभी स्फीति विरुद्ध उपायों, जो कि उपभोग प्रवृत्ति, बचत, निवेश आदि को प्रभावित करते हैं, जिनसे सामान्य स्तर का निर्धारण होता है, शामिल किया जाता है। इस प्रकार यह उन प्रवृत्तियों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते हुए मौद्रिक तथा राजकोषीय अधिकारियों को स्फीति अन्तराल को समाप्त करने के लिए एक प्रकार से आशा बंधाता है जिससे कि आगे आने वाली कीमतों में वृद्धि को रोका जा सके।[1]

---

1. Analysis of the inflationary gap in terms of such aggregates as national income investment outlays and consumption expenditures savings compaigns credit control wage adjustment—in short all the conceivable anti inflation measures affecting the propensities to consume to save and to invest which together determine the general price level It is by influencing those propensities directly or indirectly that the monetary fiscal authorities hope to wipe out the inflationary gap therefore prevent further price increases
—*Kenneth K. Kurihara*

आर्थिक गतिहीनता के साथ स्फीति अथवा मन्दी स्फीति (Stagflation or Slumpflation)—

वर्तमान युग में आर्थिक दृढ़ता एवं स्फीति दोनों साथ-साथ दिखलाई पड़ते हैं। अर्थशास्त्रियों ने इसको मन्दी स्फीति या आर्थिक गतिहीनता के साथ स्फीति की संज्ञा दी है। यूरोप, अमरीका तथा विकासशील देशा (भारत सहित) में जहाँ एक ओर स्फीति के चिह्न कीमतों में वृद्धि बेरोजगारी के साथ उत्पादन में दृढ़ता अर्थात् उत्पादित माल के बिकने में कठिनाई की स्थिति दिखलाई देती है। पिछले कुछ वर्षों से यह प्रवृत्ति दिखलाई दी है। यह नयी स्थिति है।

प्रो० सेम्युलसन ने मन्दी स्फीति को परिभाषित करते हुए लिखा है "मन्दी-स्फीति एक नई बीमारी का नया नाम है। स्टैगफ्लेशन के अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्यों तथा मजदूरी की दरों में वृद्धि होती है, किन्तु साथ ही साथ बेरोजगारी बढ़ती है और उत्पन्न किया हुआ माल बिकना कठिन हो जाता है।"

("Stagflation is a new name for a new disease Stagflation involves inflationary rise in prices and wages at the same time that people are unable to find jobs and firms are unable to find customers for what their plants can produce.")

मन्दी स्फीति में महँगाई, बेरोजगारी तथा वस्तुओं का न बिकना एक ऐसी स्थिति है जो सामान्य स्फीति से भिन्न है। सामान्य स्थिति में महँगाई तो पायी जाती है, परन्तु उसके साथ-साथ रोजगार के अवसर बढ़ते हैं तथा उत्पादित किया हुआ माल बिक जाता है। उत्पादन को बढ़ावा का प्रोत्साहन मिलता है तथा व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि होती है।

मन्दी स्फीति के कारण

(1) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि।
(2) धनी देशों के व्यापार में घाटा।
(3) मजदूरी की दरों में वृद्धि।
(4) प्राकृतिक प्रकोपों जैसे सूखा, बाढ़ तथा हड़तालों में वृद्धि।
(5) स्वर्ण के मूल्यों में वृद्धि।

प्रो० सेम्युलसन ने मन्दी स्फीति के कारणों में एशिया का तथा अफ्रीका के देशों में निरन्तर पड़ने वाले सूखे एवं बाढ़ से उत्पादन में कमी का माना है। पैट्रोलियम पदार्थों एवं सोयाबीन की कीमतों में वृद्धि के प्रभाव से सामान्य मूल्यों में वृद्धि हुई है।

प्रो० सेम्युलसन ने मिश्रित अर्थव्यवस्था में मन्दी स्फीति को आवश्यक माना है। ऐसी अर्थव्यवस्था में उदार मौद्रिक नीति द्वारा रोजगार के अवसर बढ़ाये जाने के प्रयास एवं आवश्यक वस्तुओं के अच्छे उत्पादन के बाद भी कीमतों में स्थायित्व लाने में असफलता द्वारा भी कीमतें बढ़ती हुई नजर आती हैं। भारत तथा अनेक एशियाई देशों में ऐसी स्फीति के चिन्ह देखे जा सकते हैं।

आयातित स्फीति—मन्दी स्फीति के लिए अमरीका, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे देशों द्वारा उदार आयात नीति भी उत्तरदायी है। इन देशों ने विदेशों से आयात के बदले में जो भुगतान किये हैं उनसे विकासशील देशों के बैंकों के कोषों में वृद्धि के परिणामस्वरूप तथा विकासशील देशों में ऋणों में वृद्धि से साख निर्माण में वृद्धि हुई है तथा स्फीतिक स्थितियों को बढ़ावा मिला है। इससे रोजगार तथा उत्पादन अधिक नहीं बढ़ा है।

भारत जैसे विकासशील देश मे कपड़ा तथा इन्जीनियरिंग उद्योग मे उत्पादित वस्तुओं की माँग कम होने पर भी इनके मूल्यो मे गिरावट नही आयी है। अर्थशास्त्र की माँग और पूर्ति मे सतुलन का सामान्य नियम क्रियाशील नहीं हो पाया है। बड़े-बड़े उत्पादक सरकार को मन्दी का भय दिखाकर तथा तरह-तरह की रियायतें प्राप्त करके मूल्यो मे नही आने देते। मन्दी तथा स्फीतिक स्थितियाँ साथ-साथ चलती है।

स्फीति के कारण (Causes of Inflation)

मुद्रा-स्फीति का अर्थ उस अवस्था से लिया जाता है जबकि वस्तुओ तथा सेवाओं की माँग मे वृद्धि तो होती है परन्तु उसके साथ-साथ इनकी पूर्ति मे उसी अनुपात मे या फिर बिल्कुल वृद्धि नही होती। स्फीति उन कारणो से आती है जो माँग मे वृद्धि लाते हैं और माँग मे वृद्धि दो प्रकार के कारणो से आती है।

(1) वे कारण जो माँग को बढ़ाते है।

(2) वे कारण जिनसे पूर्ति मे गिरावट आती है। इन दोनों प्रकार के कारणों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है—

वे कारण जो माँग को ऊपर की ओर ले जाते हैं (Factors Causing an Upward Shift in Demand)—

यह कारण निम्नलिखित हैं—

(i) **हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing)**—विकासशील देशो मे सामान्य रूप से विकास योजनाओ को पूरा करने के लिए, धन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन नीति का सहारा लिया जाता है इससे मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। लोगों के हाथो मे अतिरिक्त मुद्रा पहुँचती है और उसके द्वारा वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग पर अतिरिक्त दबाव पड़ता है।

(ii) **मुद्रा के चलन-वेग मे वृद्धि (Increase in the Velocity of Money)**—यह कारण विशेषकर अभिवृद्धि (Boom) के समय अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस काल मे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता मे वृद्धि अथवा तरलता पसंदगी मे गिरावट अथवा उपभोग प्रवृत्ति मे वृद्धि के कारण मुद्रा का चलन-वेग बढ़ जाता है।

(iii) **साख वृद्धि (Credit Expansion)**—देश मे साख का स्वरूप सरकार तथा व्यापारिक बैंक की नीतियो पर निर्भर करता है। केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर मे जब कमी कर देता है अथवा जब सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने लगता है तो साख वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। इसी प्रकार व्यापारिक बैंकों द्वारा अधिक ऋणो की माँग के कारण जब अपने ग्राहकों को अधिक ऋणों के लिए साख मुद्रा सृजित की जाती है और इन बैंकों की नकद जमा कम होने लगती है। जब साख मे वृद्धि का दौर, चाहे केन्द्रीय सरकार अथवा व्यापारिक बैंकों की पहल पर हो, प्रारम्भ हो जाता है तो यह काफी समय तक रुकने का नाम नहीं लेता।

(iv) **सार्वजनिक व्यय मे तेजी से वृद्धि (Rapid Increase in Public Expenditure)**—वर्तमान प्रजातान्त्रिक युग मे सार्वजनिक व्यय मे तेजी से वृद्धि हो रही है। चाहे यह वृद्धि सुरक्षा सम्बन्धी व्यय विकास योजनाओ तथा जनता के कल्याणार्थ योजनाओं अथवा अन्य प्रकार के आर्थिक प्रगति सम्बन्धी योजनाओं की पूर्ति हेतु व्यय हो। सार्वजनिक व्यय मे वृद्धि वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग को बढ़ाती है।

(v) निर्यातों में वृद्धि (Increase in Exports)—वर्तमान समय में प्रत्येक देश अपने भुगतान सन्तुलन तथा व्यापार सन्तुलन की बातों को पक्ष में रखने के लिए अधिक निर्यात के लिए प्रयत्नशील हैं। अधिक निर्यात की प्रवृत्ति से देश के उपभोक्ताओं के लिए उपभोग हेतु वस्तुओं की कमी महसूस होती है। यदि उन वस्तुओं की माँग पहले जैसी ही बनी रहे जिनका निर्यात प्रारम्भ किया गया है तो भी इनके मूल्यों में वृद्धि स्फीतिक स्थिति के लिए उत्तरदायी होगी।

(vi) जनसंख्या में तेजी से वृद्धि (Rapid Growth of Population)—वस्तुओं तथा सेवाओं की अतिरिक्त माँग का एक प्रमुख कारण तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या है। विकासशील और अर्द्ध-विकसित देशों में स्फीति का प्रमुख कारण जनसंख्या में तेजी से होने वाली वृद्धि है। लगातार बढ़ती हुई जनसंख्या वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग में वृद्धि के लिए निश्चित रूप से उत्तरदायी होती है।

(vii) युद्ध व्यय (War Expenditure)—जब कोई देश युद्ध से प्रभावित हो जाता है तो सार्वजनिक व्यय युद्ध व्ययों को पूरा करने के लिए बढ़ जाते हैं। युद्ध के समय युद्ध सामग्री के उत्पादन हेतु धन को उपभोक्ता वस्तुओं से हटा या कम कर लिया जाता है। सुरक्षा सम्बन्धी वस्तुओं की पूर्ति हेतु देश के साधन युद्ध सामग्री के उत्पादन हेतु हस्तान्तरित हो जाते हैं।

(viii) श्रम संघों के कार्य (Activities of Trade Unions)- वर्तमान समय में औद्योगिक क्षेत्रों में श्रम संघों के बढ़ते हुए दबाव के कारण भी अधिक मजदूरी, कम काम के घण्टे तथा अधिक छुट्टियों के लिए संघर्ष चलता रहता है। वर्तमान प्रजातन्त्र के युग में कभी-कभी सरकार को अपने आप को श्रमिकों के हितकारी सरकार के रूप में प्रस्तुत करने के कारण श्रमिक संघों की अनुचित माँगों को मानना पड़ता है। श्रमिकों द्वारा उत्पादकता बिना बढ़ाए हुए जब उनकी मजदूरी बढ़ाना पड़ती है तो इससे लागत व्यय बढ़कर कीमतों में वृद्धि होती है। मजदूरी वृद्धि क्रय-शक्ति में वृद्धि को लाता है और कीमत बढ़ने लगता है।

(ix) उत्पादन तथा बिक्री कर में वृद्धि (Increase in Excise and Sales Taxes)—जब सरकार उत्पादन तथा बिक्री कर बढ़ा देती है तो इन करों का विवर्तन (Shifting) उत्पादक द्वारा किया जाता है और इनका अन्तिम भार उपभोक्ताओं पर पड़ता है जिसको वस्तु की कीमत में जोड़ दिया जाता है।

(x) अवमूल्यन (Devaluation)—जब कोई सरकार अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर देती है तब एक तो देश के निर्यात बढ़ जाते हैं दूसरी ओर आयातों के मूल्य भी बढ़ जाते हैं। इस प्रकार देश के नागरिकों के लिए ऊँची कीमतों का सामना करना पड़ता है।

(xi) अन्तर्राष्ट्रीय कारण (International Factors)—एक देश की स्फीति दूसरे देश तक पहुँच जाती है। स्फीतिक देश को वस्तुओं के आयात करने पर अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है और इसकी भरपाई के लिए आयातित वस्तुओं की ही कीमतें नहीं बढ़ती वरन् देश में उत्पादित वस्तुओं की कीमतों पर भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। चूँकि वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्य प्रकार के लेन-देन अधिक होते हैं। इस प्रकार एक देश की स्फीति अथवा अवस्फीति का प्रभाव दूसरे देशों पर अवश्य ही पड़ता है।

वे कारण जो पूर्ति को गिराते हैं। (Factors Causing a Downward Shift in Supply)

यह कारण निम्नलिखित है—

(i) **प्राकृतिक प्रकोप (Natural Calamities)**—प्राकृतिक प्रकोप, जैसे बाढ़ सूखा भूकम्प या पशुओं में व्यापक बीमारी के फैल जाने आदि कारणों से वस्तुओं का उत्पादन पिछड़ जाता है। वर्ष 1987 में भारत में पड़ा व्यापक सूखा कीमतों में वृद्धि के लिए विशेष तौर पर उत्तरदायी समझा जाता है।

(ii) **उत्पत्ति की स्थिति (Stage of Production)**—वस्तुओं की पूर्ति में कमी उस समय भी होती है जब उत्पादन के क्षेत्र में नव प्रवर्तन तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण नहीं अपनाया जाता। शीघ्र ही उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है। उत्पादन में वृद्धि लागतों में वृद्धि के लिए उत्तरदायी होती है और कीमतें बढ़ने लगती हैं।

(iii) **संग्रह की आदत (Habit of Hoarding)**—जब स्फीतिक स्थितियाँ होती हैं तो कीमत स्तर तेजी से बढ़ता है और मुद्रा की क्रय-शक्ति गिरती है। व्यक्ति भावी कीमतों में वृद्धि की आशंका से वस्तु का संग्रह आवश्यकता से अधिक करने लगते हैं और वस्तुओं की कमी महसूस होती है।

(iv) **कुछ उत्पत्ति के साधनों की कमी (Shortage of some Factors of Production)**—उत्पत्ति के कुछ महत्वपूर्ण साधनों जैसे पूंजीगत साधन, भूमि प्रशिक्षित श्रमिक, कच्चे माल आदि की कमी लम्बी काल में अधिक महसूस की जाती है। बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन का विस्तार उतनी तेजी से नहीं होता और वस्तुओं की कमी व्याप्त रहती है।

स्फीति के प्रभाव (Effects of Inflation)

स्फीति का अर्थ कीमत-स्तर में होने वाली लगातार वृद्धि से लिया जाता है परन्तु कीमतों में यह वृद्धि सभी क्षेत्रों में एक समान (Uniform) नहीं होती। यदि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में एक समान रूप से वृद्धि हो तो विभिन्न आय अर्जित करने वाले वर्गों की सापेक्षिक स्थिति अपरिवर्तित रहेगी और स्फीति के आर्थिक प्रभाव तटस्थ होंगे। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से होता यह है कि स्फीतिक प्रक्रिया में विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन भी विभिन्न दरों से होता है। इस कारण समुदाय के विभिन्न वर्गों की आय के वितरण की स्थिति में परिवर्तन भी अलग-अलग होता है। किसी वर्ग की स्थिति सुदृढ़, तो किसी की बहुत कमजोर तथा किसी की समान रहती है।

मुद्रा-स्फीति के समुदाय के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

(i) **कृषक वर्ग (Farmers)**—मुद्रा-स्फीति का कृषक वर्ग पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उनको अपने द्वारा उत्पादित कृषि पदार्थों की कीमत अधिक मिलती है साथ ही कृषक वर्ग ऋणी वर्ग होता है इसलिए स्फीति के समय जब वे अपना ऋण अदा करते हैं, तो उन पर ऋणों की अदायगी स्वरूप जो बोझ पड़ता है उसका वास्तविक भार कम पड़ता है। किसानों को स्फीति का लाभ यह मिलता है एक तो उनकी उत्पत्ति की कीमतों का मूल्य बढ़ जाता है दूसरे जो कीमत वृद्धि या स्फीति काल में वस्तु की लागत होती है। वह स्फीति की प्रार-

विभिन्न अवस्था में जैसे ब्याज दरों तथा मजदूरी के रूप में जो उनके उत्पादन की लागत में वृद्धि होती है वह बहुत कम होती है विशेष तौर पर उनको मिलने वाली कीमतों की वृद्धि की दर की तुलना में।

(ii) उद्यमकर्ता (Entrepreneurs)—उद्यमकर्ताओं को भी स्फीति में लाभ बहुत कुछ किसानों की भाँति होता है। उद्यमकर्ता को मिलने वाले लाभ पूँजी निर्माण को बढ़ाते एवं प्रोत्साहित करते हैं निष्क्रिय साधनों को उत्पादन एवं उत्पादित क्षमता बढ़ाने के लिए प्रयुक्त करके अर्थव्यवस्था को विकसित किया जा सकता है।

कृषक तथा उद्यमकर्ता को मिलने वाले लाभ स्फीति काल में होने लगते हैं, परन्तु यदि स्फीतिक प्रभाव दीर्घकालिक है तो अर्थव्यवस्था को हानि होनी है क्योंकि असीमित काल तक स्फीति के लाभ अर्जित नहीं किए जा सकते। एक सीमा के बाद जो तत्व पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन करने वाले होते हैं वे निवेशों के लिए बाधक साबित होते हैं। सन् 1920 के दशक में प्रो० नर्क्से (Prof Nurkse) ने यूरोप के दशा के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि स्फीति की सफलता पूँजी-निर्माण के यन्त्र के रूप में अधिकांश-तया भावी तथा गैर सम्भावित कीमतों में वृद्धि की मात्रा पर निर्भर होती है।[1] जब आगे आने वाले समय में वस्तुओं की कीमतें बढ़ने की आशा निश्चित रूप से होती है तो मुद्रा के चलन-वेग में वृद्धि होती है बचतें नहीं होतीं हैं और स्फीति तेजी से निवेशों का प्रोत्सा-हित नहीं करती। यह स्फीति की सचयी प्रवृत्ति होती है।

(iii) विनियोगकर्ता वर्ग (Investors)—विनियोगकर्ता वर्ग को दो भागों में बाँटा जाता है। प्रथम वे विनियोगकर्ता जिनकी आय विनियोगों द्वारा लगभग निश्चित रहती है अर्थात् वे सरकारी प्रतिभूतियों एवं बाण्डों में विनियोग करके निश्चित आय प्राप्त करते रहते हैं। दूसरी श्रेणी में वे विनियोगकर्ता आते हैं जिनका कार्य विभिन्न कम्पनियों के अंशों तथा ऋणपत्रों आदि का खरीदना और बेचना होता है तथा तेजी काल की स्थिति का लाभ उठाकर अपनी आय में वृद्धि करते रहते हैं। प्रथम प्रकार के विनियोगकर्ता की स्फीति काल में वास्तविक आय घट जाती है क्योंकि उनकी निश्चित एवं अपरिवर्तनशील आय होती है और उनकी इस आय की वास्तविक क्रय शक्ति मुद्रा के मूल्य पतन के साथ कम होती जाती है। दूसरी ओर अनिश्चित आय प्राप्त करने वाले विनियोगकर्ता के लाभ बढ़ते हैं क्योंकि उन्हें अपने पास रखे हुए अंशों पर लाभांश की मात्रा बढ़ी हुई दर से प्राप्त होती है।

(iv) ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग (Debtors and Creditors)—स्फीति के समय ऋणदाता वर्ग को हानि तथा ऋणी वर्ग को लाभ होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ऋणदाता को ऋण की वापसी जो होती है उसका वास्तविक मूल्य स्फीति काल में घट जाता है जबकि ऋणी स्फीति में जो मूलधन लौटाता है तो उसे कम क्रय शक्ति की अदायगी करनी पड़ती है।

(v) मध्यम वर्ग तथा निश्चित आय वर्ग (Middle and Fixed Income Class) स्फीति काल में सबसे ज्यादा नुकसान निश्चित आय वाले वर्ग के व्यक्तियों पर होता है

---

1 "Success of inflation as an instrument of capital formation depends largely on the degree to which rise in prices in unforeseen and unexpected." —Nurkse

जैसे पेन्शन प्राप्त करने वाले नागरिक या ऐसे असंगठित क्षेत्रों (Unorganised Sectors) काम करने वाले व्यक्ति जिनकी आय प्रायः निश्चित रहती है । इसका कारण यह है कि मुद्रा के मूल्य में ह्रास के होने पर भी उनकी आय नहीं बढ़ती और उनके पास वास्तविक उपभोग्य आय बहुत कम रह जाती है । लोगों के जीवन की समस्त बचत को स्फीति निगल लेती है । साथ ही वृद्धावस्था का सहारा समाप्त कर देती है । जहाँ तक मध्यम वर्ग का प्रश्न है उस पर भी स्फीति का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है । प्रो० ऐन्जल (Prof J W Angell) ने मुद्रा स्फीति के समय जर्मनी में मध्यम वर्ग पर पड़ने वाले स्फीति के प्रभाव की चर्चा करते हुए कहा है कि "स्फीति के कारण उस वर्ग को सबसे अधिक कष्ट सहन करना पड़ा था जो स्वयं अपनी रक्षा सबसे कम कर सकता था । शहर में रहने वालों में मध्यम वर्ग जिसमें अधिकतर छोटी निश्चित आय प्राप्त करने वाले लोग जैसे वेतनभोगी कर्मचारी तथा क्लर्क पेन्शन प्राप्त करने वाले छोटे विनियोजक जो केवल ब्याज तथा लगान पर अपना गुजारा करने वाले थे । संक्षेप में यह लोगों का ऐसा वर्ग था जो मुद्रा के ह्रास की बुराइयों से बहुत प्रभावित था । उस वर्ग को स्फीति से लड़ने का न तो ज्ञान प्राप्त था और न अवसर प्राप्त था ।'[1] प्रो० कैमरर ने मध्यम वर्ग की स्थिति की चर्चा इस प्रकार की है "मध्यम वर्ग जो अपने कड़े परिश्रम तथा बचत द्वारा अपने बच्चों को शिक्षा देने के उद्देश्य से कुछ बचत का संचय करता है स्फीति के दिनों में अपने को गम्भीर स्थिति में पाता है । आय की तुलना में रहन-सहन का व्यय अधिक बढ़ जाता है सारी बचत समाप्त हो जाती है कठिन परिश्रम, स्वतन्त्रता, बचत करने का विचार झूठे सपनों के समान हो जाते हैं । इस स्थिति में वर्ग पर निराशा तथा असफलता की भावना अपना अधिकार जमा लेती है ।"[2]

स्फीति का सबसे अधिक प्रभाव मध्यम आय वर्ग वाले व्यक्तियों पर होता है जो कि वर्तमान प्रजातन्त्र की रीढ़ होते हैं । जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड तथा रूस में अति स्फीति ने प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इन देशों में रहने वाले मध्यम वर्ग को बिल्कुल नष्ट कर डाला था । प्रो० सी० एन० वकील ने स्फीति की तुलना डकैती से करते हुए कहा है कि "दोनों ही किसी की कोई वस्तु छीनते हैं अन्तर केवल इतना है एक डाकू दिखलाई देता है जबकि स्फीति अदृश्य होती है, डाकू का शिकार एक समय में एक या कुछ ही व्यक्ति

---

1. 'The group which suffered most from the inflation, however, was the group which was also least able to defend itself, The middle class among the lown-dewellers ...... composed largely of people with small fixed incomes, such as salaried Officials and clerks, recipients of pensions, and little investors living on interest and sent They were precisely the group most exposed to the evil consequences of currency depreciation, While they lacked both the knowledge and opportunity to combat it." J.W Angell
2. E. W. Kemmerer

होते हैं जबकि स्फीति का शिकार पूरा राष्ट्र होता है। डाकू को न्यायालय में दण्ड देने के लिए भेजा जा सकता है परन्तु स्फीति कानूनी अधिकार प्राप्त होती है।'[1]

अन्य प्रभाव (Other Effects)

(i) व्यापारिक क्रियाओं पर प्रभाव (Effects on Business Activities)—स्फीति में व्यापारिक क्रियाओं एवं योजनाओं तथा विनियोगों को खतरा रहता है। स्फीति में हास लागत तथा लाभ का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है और यह व्यापार की भुगतान क्षमता तथा सुदृढ़ विकास को बड़ा खतरा उत्पन्न करती है। इससे ब्याज की दरें बढ़ती हैं और मुद्रा बाजार में एक प्रकार से खलबली मच जाती है।

(ii) करों में वृद्धि (Increase in Taxation)—स्फीति काल में बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए सरकार करों की मात्रा बढ़ाती है। सभी प्रकार के कर बढ़ते हैं जिनका बोझ देश के सभी नागरिकों को उठाना पड़ता है।

(iii) बचतों पर प्रभाव (Effects on Savings)—स्फीति से बचतें बुरी तरह से प्रभावित होती हैं। मुद्रा के मूल्य में होने वाली लगातार गिरावट से लोगों का नकदी अधिमान गिरता है जो बचत निश्चय को हतोत्साहित करता है। बचतों में कमी पूँजी निर्माण क्रिया पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(iv) धनी तथा निर्धन के बीच दूरी का बढ़ना—स्फीति में धनी और निर्धनों के बीच असमानता बढ़ती है। धनी और धनी हो जाते हैं तथा निर्धन और अधिक निर्धनों की श्रेणी में आ जाते हैं। समाज में आर्थिक असमानताओं के बढ़ने से एक वर्ग दूसरे वर्ग से द्वेष और ईर्ष्या करता है। सामाजिक कटुता बढ़ती है।

(v) भुगतान सतुलन (Balance of Payment)—स्फीति के समय एक देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूलता की ओर जाता है ऐसे देशों के पास विदेशी मुद्राओं के भण्डार भी कम होने लगते हैं।

नैतिक प्रभाव

स्फीति का एक खराब असर लोगों के नैतिक-स्तर में गिरावट के रूप में सामने आता है। विशेषतौर पर व्यापारी वर्ग तथा सरकारी कर्मचारियों का नैतिक-स्तर काफी गिर जाता है। प्रत्येक वर्ग भौतिक रूप से समृद्धशाली बनने की होड़ में भ्रष्टाचार का शिकार हो जाता है। काला बाजारी रिश्वतखोरी भ्रष्टाचार, चोरी, मिलावट आदि आम बातें हो जाती हैं। जब लोगों की मेहनत से की गई बचतें समाप्त हो जाती हैं तो जनता का विश्वास सरकार से उठने लगता है। प्रो० व्हाइट (Prof A. D White) ने फ्रांस की क्रांति के समय फ्रांस में लोगों की हालत जो स्फीतिक प्रभाव से हुई थी उसकी चर्चा करते

1. "Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible, the robber's victim may be one or a few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal." — *C. N. Vakil*

हुए लिखा है कि फ्रांस के प्रमुख शहरों में विलासिता तथा दुराचार जो लूटों की अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर दोष थे चारों ओर दिखाई दे रहे थे। देश में जुए की भावना बढ़ती जा रही थी। यह दुराचार केवल व्यापारियों तथा नेताओं में भी फैल गया था जो कुछ समय पूर्व विलासिता बेईमानी तथा लापरवाही के दोषों से मुक्त समझे जाते थे।'[1]

जर्मनी में प्रथम विश्व युद्ध के बाद इससे भी अधिक नैतिक संकट उत्पन्न हो गया था। लोगों का इतना अधिक नैतिक पतन हो गया था कि आदमी स्त्रियों के कपड़े पहनकर बर्लिन के नाच घरों में पुलिस अधिकारियों के सामने नाचा करते थे। जर्मनी में अति स्फीति का नंगा नाच चल रहा था। 'नव युवतियाँ अपने दोषों की घमण्डशाली ढंग से व्याख्या करती थी। सोलह वर्ष की अवस्था तक पवित्र कुंआरी रहना उन दिनों बर्लिन में लज्जाजनक माना जाता था। लड़कियाँ अपने दूषित अनुभवों को बताने में गर्व समझती थीं।"[2]

राजनैतिक प्रभाव—

मुद्रा-स्फीति का लगातार रहना तथा अतिस्फीति की स्थिति आर्थिक व्यवस्था को ही प्रभावित नहीं करती वरन यह सामाजिक तथा राजनैतिक गड़बड़ी के लिए भी उत्तरदायी होती है। जर्मनी में अति स्फीति (Hyper inflation) ने डॉ० कूनो (D Cuno) की उदार सरकार का पतन किया था और हिटलर को सत्ता में लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। कान्सटन्टीना ब्रेसियानी तुरोनी (Constantino Bresciani Turroni) ने जर्मनी में अति स्फीति की स्थिति का वर्णन करते मुद्रा मार्क के मूल्य की गिरावट बीसवीं शताब्दी के इतिहास की एक प्रमुख घटना है। यह इतिहास में अपने प्रकार की एक सबसे अधिक भयानक घटना थी और शायद महान युद्ध के बाद हमारी पीढ़ी की अधिकांश राजनैतिक तथा आर्थिक कठिनाइयों की जिम्मेदारी इसी पर थी। इसने जर्मन समाज के स्थाई वर्गों के धन को बर्बाद कर दिया था और इसने अपने पीछे राजनैतिक तथा आर्थिक असन्तुलन को छोड़ा था और आने वाले समय में अस्थिरता के लिए पृष्ठभूमि छोड़ी। हिटलर स्फीति की ही गौण उत्पत्ति था। इसी प्रकार महान मन्दी तीसा की (मन्दी)

---

1 ' In the leading French cities now arose a luxury and licence which was a greater evil than the plundering that ministered to it In the country the gambling spirit confined to businessmen , it *began to break out in official circles, and publicmen who a few* years before had been thought above all possibility to taint became luxurious, reckless cynical and finally corrupt '

—Andrew D White

2 ' Young girls bragged proudly of their perversion , to be sixteen and the suspicion of virginity would have been considered a disgrace in any school of Berlin at that time , even girl wanted to be able to tell of her adventures and the more exotic the better " (In the World Yesterday by Sidfan Zweig quoted on Page 10 From Hyper Inflation " *—S K Muranjan*

वित्तीय कठिनाइयों भी काफी अंश तक अन्तर्राष्ट्रीय उधार प्रणाली या उस अव्यवस्था का परिणाम थी जिसने इस घातक स्थिति को बढ़ावा दिया था। यदि हम यूरोप की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करना चाहते हैं तो हमें जर्मनी की अतिस्फीति के अध्ययन को नहीं भुलाना चाहिए। यदि हम भविष्य में अधिक स्थिरता लाना चाहते हैं तो हमें सीखना चाहिए कि हम उन गलतियों को दूर करें जिनके कारण इसको बढ़ावा मिला।[1]

स्फीति को रोकने के उपाय (Measures to Check Inflation)

मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपायों को हम प्रमुख रूप से तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं—

(i) मौद्रिक उपाय

(ii) राजकोषीय उपाय तथा

(iii) प्रत्यक्ष नियन्त्रण तथा अन्य उपाय।

प्रथम दो प्रकार के उपायों की विस्तृत चर्चा मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति सम्बन्धी अध्यायों में की गई है। यहाँ पर इन उपायों की संक्षिप्त व्याख्या हमारी वर्तमान आवश्यकतानुकूल है।

(1) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)—मौद्रिक उपायों के अन्तर्गत वे उपाय आते हैं जिनका सम्बन्ध मुद्रा निकालने तथा उसको नियन्त्रित करने वाली बातों से है। जब अति स्फीति की स्थिति होती है जैसाकि प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद जर्मन देश में हुआ था। जर्मनी सरकार ने उस समय पुरानी सारी मुद्रा को बिल्कुल समाप्त करके नई मार्क मुद्रा चलन में डाली थी।

देश का केन्द्रीय बैंक स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए मुद्रा तथा साख मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण रख सकता है। इसके लिए केन्द्रीय बैंक के पास तीन तरीके प्रमुख रूप से हैं जिनका प्रयोग केन्द्रीय बैंक करता है।

(i) बैंक दर नीति

---

1 The depreciation of the mark of 1914-23 which is the subject of this work is one of the outstanding episodes in the history of the twentieth century. It was the most colossal thing of its kind in history and next probably to the great war itself it must bear responsibility for many of the political and economic difficulties of our generation. It destroyed the wealth of the more solid elements in German society and it left behind a moral and economic disequilibrium apt breeding ground for the disasters which have followed. Hitler is the foster-Child of the inflation. The financial convulsions of the great depression were in part atleast the product of the distortions of the system of international borrowing and lending to which its ravages had given rise. If we are to understand correctly the present position of Europe we must not neglect the study of the great German inflation. If we are to plan for greater stability in the future we must learn to avoid the mistakes from which it sprang.
—Constantino Bresciani Turren

(ii) खुले बाजार की क्रियाएँ तथा

(iii) सदस्य बैंकों द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास रखी जाने वाली निधि की मात्रा। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंक द्वारा अधिक साख सृजन की नीति पर रोक लगाने की दृष्टि से केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर बढ़ा देता है जिससे व्यापारिक बैंकों के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना महँगा हो जाता है परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंक भी अपनी बैंक दर बढ़ा देते हैं और साख लेना महँगा हो जाता है। केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं (Open Market Operations) द्वारा प्रतिभूतियों तथा ऋण पत्रों को मुद्रा बाजार में बेचकर अतिरिक्त मुद्रा अपने पास रख लेता है और स्फीति पर काबू पाने में सफल हो जाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक द्वारा न्यूनतम निधि अनुपात में वृद्धि कर दी जाती है जिससे व्यापारिक बैंकों की नकदी कम हो जाती है और साख-सृजन की उनकी सीमा भी कम हो जाती है।

एक अर्द्ध-विकसित देश चुने हुए साख नियन्त्रण के तरीके सामान्य साख नियन्त्रण के तरीकों से अच्छे समझे जाते हैं। परन्तु साख नियन्त्रण की विभिन्न विधियों को अपनाने के साथ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यही नियन्त्रण इतने न हो जाएँ कि विकास योजनाओं के लिए धन ही उपलब्ध न हो। अर्द्ध-विकसित देशों के अलावा विकसित दशा में भी स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए मौद्रिक उपाय अधिक फलदायक साबित नहीं हुए हैं। प्रो० हैन्सन का विचार है कि मौद्रिक उपायों को स्फीति के नियन्त्रण के लिए गौण उपायों के रूप में ही देखना चाहिए। वे कहते हैं कि स्फीति रोकने के लिए मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित करना एक उपाय हो सकता है परन्तु यदि स्फीतिक प्रभावों को रोकने के लिए मौद्रिक उपायों को अपनाने से अन्य बहुत सी बुराइयों से बचना चाहिए।

(II) राजकोषीय उपाय (Fiscal Measures)—मौद्रिक उपाय जब स्फीति को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं होते तो सरकार राजकोषीय उपाय अपनाती है। मौद्रिक उपायों के साथ भी राजकोषीय उपाय अपनाए जा सकते हैं। राजकोषीय उपायों में विशेष रूप से करारोपण, सरकारी व्यय तथा सार्वजनिक ऋण आदि आते हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है—

(i) करारोपण (Taxation)—इसके अन्तर्गत सरकार अतिरिक्त अथवा क्रय-शक्ति को जनता से करारोपण में वृद्धि करके प्राप्त करती है। इसके अन्तर्गत पुराने करों की मात्रा में वृद्धि तथा नये करों को लगाने सम्बन्धी उपाय आते हैं। करारोपण सम्बन्धी नीति ऐसी होती है जिसमें जनता के पास की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को अधिक से अधिक अपने पास की सरकार लेने का प्रयास करती है इस प्रकार व्ययगत आय (Disposable Income) में कमी आती है। कुल समर्थ माँग गिरती है तथा स्फीतिक प्रभाव कम होता है। अर्द्ध-विकसित दशा में करों में चोरी जैसी बुराई दिखाई देती है, इसलिए करारोपण के वांछित परिणामों को प्राप्त करने के लिए इस दिशा में विशेष कदम उठाने और सतर्कता बरतनी चाहिए।

(ii) सरकारी व्यय (Government Spending)—स्फीति को रोकने का राजकोषीय उपाय एक यह भी है कि सरकार को अपने बढ़ते हुए व्यय विशेष रूप से अनुत्पादक तथा बेकार के व्ययों पर रोक लगानी चाहिए। वर्तमान समय में कुल व्यय का बहुत बड़ा हिस्सा होता है। इसलिए सरकार को अपने व्यय में मितव्ययता की नीति अपनानी चाहिए।

में पूँजी विनियोजन किया जाना चाहिए जो शीघ्र उत्पत्ति अथवा प्रतिफल प्रदान करने वाली हो।

(iii) मजदूरी नीति (Wage Policy)—स्फीति के समय सभी वर्ग के कर्मचारी स्फीतिक प्रभाव की क्षतिपूर्ति के लिए मजदूरी बढ़ाने पर जोर देते हैं। उत्पादकता पर ध्यान दिए बिना मजदूरी या भत्ते बढ़ाये जाते हैं तो इसका प्रभाव स्फीति को और बढ़ाता है। अति स्फीति काल या तेजी से बढ़ती हुई स्फीतियों में मजदूरी लाभ जामनीति (Wage-Profit Freeze Policy) अपनाना चाहिए और मजदूरी वृद्धि का सम्बन्ध उत्पादकता से कर देना चाहिए। मजदूरी-लाभ बन्धन अथवा जाम-नीति से लोगों के पास उपभोग्य आय में गिरावट आती है और प्रभावपूर्ण माँग का स्तर भी नीचा रहता है।

(iv) विदेशी पूंजी (Foreign Capital)—एक उपाय यह है कि अधिक विदेशी पूँजी प्राप्त करने की दिशा में प्रयास किए जाएँ। विदेशी पूँजी द्वारा किए जाने वाले निवेश स्फीति को अधिक नहीं बढ़ाते।

(v) आयात नीति (Import Policy)—स्फीतिक प्रभाव कम करने की दिशा में उदार आयात नीति कारगर साबित हो सकती है यदि यह आयात आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाने के उद्देश्य से किए जाएँ। साथ ही निर्यातों में कमी करनी चाहिए परन्तु आयातों में वृद्धि तथा निर्यातों में कमी तभी कारगर साबित हो सकती है जबकि देश की भुगतान सन्तुलन की स्थिति अच्छी हो।

अधिकांश विद्वान समझते हैं कि यदि स्फीति अपने प्रारम्भिक चरण में हो तो इस पर काबू पाना आसान है परन्तु यदि यह उग्ररूप धारण कर चुकी है तो इसको नियन्त्रित करना काफी कठिन हो जाता है। अति स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए समस्त पुरानी मुद्रा हटाकर नई मुद्रा चलन में डालनी होती है जैसाकि प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जर्मनी में किया गया था।

स्फीति एक भयानक स्थिति है इसलिए इसे नियन्त्रित करने के लिए किसी एक तरीके से काम नहीं चल सकता वरन् विभिन्न उपायों को एक साथ अपनाने की आवश्यकता होती है। किसी एक कारण पर निर्भरता निरर्थक एवं त्रुटिपूर्ण होती है।

अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में स्फीति (Inflation in an Under-developed Economy)

जैसाकि हम जानते हैं प्रो० कीन्स ने स्फीति का सम्बन्ध पूर्ण रोजगार की स्थिति से जोड़ते हुए बताया है कि स्फीति पूर्ण रोजगार के बिन्दु के बाद प्रारम्भ होती है क्योंकि इस बिन्दु से पहले बेरोजगार साधन पाये जाते हैं और प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि से उत्पादन की मात्रा तथा रोजगार बढ़ेंगे और कीमतें अधिक नहीं बढ़ेंगी। वास्तविकता एवं व्यावहारिक पक्ष यह है कि पूर्ण रोजगार से बहुत पहले ही कीमतें बढ़ना प्रारम्भ हो जाती हैं, क्योंकि वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति न तो पूर्णतया लोचदार और न ही अन्य साधन जो कि उत्पादन लागत को बढ़ाते हैं। प्रो० कीन्स ने पूर्ण रोजगार से पहले स्फीति स्थिति के लिए निम्न कारण बताये हैं

(1) प्रभावपूर्ण माँग में परिवर्तन उस अनुपात में नहीं होगा जिस अनुपात में मुद्रा की पूर्ति होती है।

(2) विभिन्न साधन एक जैसे नहीं होते इसलिए पूर्णतया स्थानापन्न नहीं होते और रोजगार के साधनों में वृद्धि के साथ घटते प्रतिफल का नियम लागू होने लगता है।

(3) चूँकि विभिन्न साधन एक-दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न नहीं होते। कुछ वस्तुओं की पूर्ति की लोच बेलोचदार स्थिति में पहुँच जाती है जबकि कुछ साधनों में बेरोजगारी अन्य वस्तुओं को उत्पादित करने हेतु बनी रहती है।

(4) मजदूरी-इकाई पूर्ण रोजगार की प्राप्ति से पहले बढ़ना प्रारम्भ हो जाएगी।

(5) वह साधन जो सीमान्त लागत में प्रवेश कर चुके हैं उनका पारितोषिक उसी अनुपात में परिवर्तित नहीं होगा।

उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त एक अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में कुछ और कमियाँ पायी जाती हैं। जिनसे विशेष रूप से वस्तुओं की पूर्ति में कठिनाई होती है और कीमतों में तेजी से वृद्धि पाई जाती है। ये कारण निम्न प्रकार से हैं—

(i) ऐसी अर्थव्यवस्था में बाजार की बहुत सी अपूर्णताएँ देखने को मिलती हैं जैसे बाजार की जानकारी का अभाव, साधनों की अपूर्ण अविभाज्यता तथा कुछ विशेष साधनों की गतिशीलता का अभाव आदि। इन तत्त्वों के कारण उत्पत्ति के साधनों का आदर्शतम अनुपात अधिक उत्पत्ति हेतु प्राप्त नहीं होने पाता।

(ii) एक विकसित देश में बेरोजगारी होने पर भी प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि के कारण उत्पादन में वृद्धि होती है जबकि एक अर्द्ध विकसित देश में अर्द्ध-बेरोजगारी (Under-unemployment) तथा छिपी हुई बेरोजगारी (Disguised unemployment) की स्थिति होने पर प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि उत्पादन में वृद्धि नहीं होने देती। इस प्रकार मुद्रा प्रसार के कारण उस सीमा तक पूर्ति नहीं बढ़ेगी जिस सीमा तक प्रभावपूर्ण माँग बढ़ी है और कीमतों में वृद्धि बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाएगी।

इन कारणों के अतिरिक्त कुछ और कारण भी हैं जोकि एक अर्द्ध-विकसित देश में स्फीतिक प्रभाव के लिए उत्तरदायी होते हैं। एक प्रमुख कारण है वित्तीय साधनों की कमी और विकास योजनाओं की पूर्ति हेतु हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit financing) का सहारा लेना पड़ता है जिससे स्फीतिक प्रभाव अधिक मालूम पड़ता है। विकास योजनाओं की पूर्ति हेतु पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन को उच्च प्राथमिकता देने के लिए उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में कमी दिखाई देती है। इस प्रकार नकद मजदूरी बढ़ने के साथ उपभोक्ता वस्तुओं की माँग के अनुरूप उत्पादन नहीं बढ़ पाता और सामान्य कीमत स्तर में वृद्धि हो जाती है।

स्फीति तथा आर्थिक विकास (Inflation and Economic Development)

स्फीति तथा आर्थिक विकास के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। यहाँ हम उन अर्थशास्त्रियों के विचारों का अध्ययन करेंगे जिनका कहना है कि आर्थिक विकास के लिए स्फीति आवश्यक है जबकि दूसरी ओर ऐसे अर्थशास्त्रियों की रचना की जाती है जिनका मत है कि स्फीति आर्थिक विकास के लिए जरूरी नहीं है वरन् स्फीति आर्थिक विकास को अवरुद्ध करती है।

प्रो० कीन्स का कहना है कि आर्थिक विकास के लिए स्फीति सहायक होती है। ऐसा माना जाता है कि स्फीति साधनों में गतिशीलता लाती है और मजदूरी प्राप्त करने वाले साधनों से आय तथा सम्पत्ति का पुनर्वितरण करके लाभ प्राप्त करने वाले साधनों तक ले जाती है। चूँकि लाभ प्राप्त करने वाले वर्ग की बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति मजदूरी प्राप्त करने वाले वर्ग की अपेक्षा ऊँची होती है। इस प्रकार लाभ प्राप्त करने वाला वर्ग अपनी बचतों को उत्पादक क्षेत्रों में लगाकर आर्थिक विकास की दर को बढ़ाते हैं। प्रो० कीन्स आगे कहते हैं कि थोड़ी-सी स्फीति में कीमतें थोड़ी बढ़ती हैं और उत्पादकर्ताओं में आशावादिता की किरण दिखाई देती है और भविष्य में लाभ की आशा के कारण वे निवेश को बढ़ाते हैं। प्रो० आर्थर लुइस ने स्फीति को आर्थिक विकास के लिए जरूरी माना है। प्रो० कालडार का कथन भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है एक धीमी तथा

प्रगतिशील दर से स्फीति का होना आर्थिक प्रगति की दर में तेजी लाने के लिए एक बहुत शक्तिशाली आधार है।'[1] प्रो० राबटसन ने आर्थिक विकास के लिए हल्की स्फीति को जरूरी माना है। एक अर्द्ध-विकसित देश में ऐसी नीति अधिक कारगर साबित होती है क्योंकि इन देशों में श्रमिकों की बहुत बड़ी संख्या स्व रोजगार प्राप्त होती है तथा हल्की स्फीति द्वारा कीमतों में प्रोत्साहन का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

बहुत से अर्थशास्त्री हल्की स्फीति (Mild Inflation) को आर्थिक विकास के लिए अनावश्यक नहीं मानते। इन विद्वानों का कहना है कि हमारे वर्तमान संस्थानिक ढाँचे में (Institutional set-up) कीमतों में वृद्धि साधनों के बँटवारे की दृष्टि से अर्थव्यवस्था को प्रगतिशीलता की ओर ले जाती है जबकि कीमतों में गिरावट से अर्थव्यवस्था में गतिहीनता (Stagnation) की स्थिति आती है। ऐसा कहा जाता है कि संघों तथा फर्मों की एकाधिकारिक शक्ति ऐसी है जिसमें कीमतों में वृद्धि आवश्यक है ऐसी स्थिति में अधिकारियों को चाहिए कि वे संकुचनात्मक नीतियाँ (Deflationary Policies) को न अपनायें जिनसे कीमतों में गिरावट की अपेक्षा बेरोजगारी अधिक बढ़ती है।

कुछ अर्थशास्त्री स्फीति को आर्थिक वृद्धि की उत्पत्ति मानते हैं। आर्थिक विकास की प्रक्रिया में थोड़ी सी स्फीति से बचा नहीं जा सकता। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में मौद्रिक आय में वृद्धि के साथ उत्पादन में वृद्धि होने में थोड़ा सा समय लगता है और यही कारण है कि कीमत स्तर में वृद्धि दिखाई देती है। यदि नियोजन निवेश देश में वास्तविक रचना से अधिक होंगे तो निश्चित रूप से स्फीतिक प्रभाव दिखाई देगा।

अर्थशास्त्रियों का एक अन्य वर्ग है जो कहता है कि स्फीति आर्थिक विकास के स्थान पर आर्थिक विकास अवरुद्ध करती है। अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार विजेता प्रो० मिल्टन फ्रीडमैन (Prof Milton Friedman) का कहना है कि स्फीति द्वारा आर्थिक विकास की नीति अपनाना कोई विवेकपूर्ण तर्क नहीं है। वह इस बात से भी सहमत नहीं है कि स्फीति आर्थिक विकास के लिए एक अनिवार्य तत्व है। वे कहते हैं कि इस कथन में भी कोई वजन नहीं है कि स्फीति साधनों के पुनर्वितरण द्वारा आर्थिक विकास को शक्ति प्रदान करती है। उनका मत है कि किसी समय में साधनों के पुनर्वितरण के प्रभाव कुछ हद तक आर्थिक विकास के लिए अनुकूल रहे हों परन्तु इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि यह अनुकूल प्रभाव (Favourable Effects) सभी स्थितियों में दिखाई देंगे। प्रो० फ्रीडमैन का विश्वास है कि मुद्रा की पूर्ति जानबूझकर की गई वृद्धि से इसके अनुकूल प्रभाव प्राप्त नहीं किए जा सकते। जब स्फीति प्रक्रिया जानबूझकर अपनाई जाए तो बहुत से लोगों को उसकी जानकारी हो जाएगी और उनका व्यवहार पुनर्वितरण प्रभाव को रोकने का होगा। प्रो० रेगनर नर्क्से (Prof Ragnar Nurkse) ने कहा है कि स्फीति की सफलता पूंजी निर्माण के यन्त्र के रूप में कितनी है, यह अधिकांशतः इस बात पर निर्भर करेगा कि भावी तथा गैर सम्भावित कीमतों में वृद्धि की मात्रा कितनी है। यदि कीमतों में वृद्धि निश्चित एवं सम्भावित है तो मुद्रा का चलन वेग बढ़ने से बचतों के स्थान पर व्यय होते हैं तथा स्फीति पूँजी निर्माण की शक्ति कम करती है।

स्फीति मुद्रा के वास्तविक मूल्य को कम करती है इसलिए लोग बचत के स्थान पर गैर जिम्मेदारी व्यय करते हैं। स्फीति पूंजी निर्माण में बाधा ही उत्पन्न नहीं करती वरन्

---

1. " a slow and steady rate of inflation provides a most powerful aid to the attainment of a steady rate of economic progress" Nicholas Kaldor-Economic Growth and Problem of Inflation, Economica 1959.

देश की पूंजी का बाहर भी ले जाती है। स्फीति में व्यापारिक क्रियाओं की शक्ति एवं दिशा उत्पादक कार्यों के स्थान पर सट्टा मेनन की क्रियाओं की ओर जाती है। स्फीति काल में कीमतों के बढ़ने से देश के निर्यात व्यापार को धक्का लगता है। निर्यातक उद्योगों में बेरोजगारी बढ़ती है तथा आयात अधिक होने है। कुल मिलाकर देश की भुगतान सन्तुलन की स्थिति प्रतिकूल हो जाती है। विदेशी बाजारों में स्फीति वाले देश की माँग को धक्का लगता है विदेशी ऋणों का भार बढ़ जाता है।

अवस्फीति
(Deflation)

अवस्फीति की परिभाषा (Definition of Deflation)

अवस्फीति स्फीति के बिल्कुल विपरीत स्थिति होती है। इसमें कीमतों में लगातार गिरने की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रो० पाल इन्जिग (Prof Paul Einzig) ने अवस्फीति की परिभाषा देते हुए कहा है कि "अवस्फीति असन्तुलन की वह स्थिति है जिसमें क्रय शक्ति में सकुचन कीमत स्तर में गिरावट का कारण अथवा उसका परिणाम होता।"[1] प्रो० कौलबोर्न के अनुसार "अनैच्छिक बेरोजगारी अवस्फीति की कसौटी है।"[2] प्रो० पीगू की अवस्फीति की परिभाषा इस प्रकार से है— "अवस्फीति कीमत-स्तर के गिरने की वह अवस्था है जबकि वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन मौद्रिक आय की तुलना में तेजी से बढ़ता है।" प्रो० पीगू ने कीमत-स्तर की प्रत्येक गिरावट को अवस्फीति की संज्ञा नहीं दी है उनके अनुसार अवस्फीति की स्थिति निम्न बातों के होने पर पाई जाएगी

(1) जब मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों बढ़ें परन्तु उत्पादन में तेजी से वृद्धि हो।

(2) जब उत्पादन की मात्रा बढ़ रही हो और मौद्रिक आय स्थिर हो।

(3) जब मौद्रिक आय तथा उत्पादन दोनों कम हों परन्तु मौद्रिक आय तेजी से गिरने की प्रवृत्ति दिखाए।

(4) जब मौद्रिक आय घटती हो तथा उत्पादन की मात्रा स्थिर रहे।

(5) जब उत्पादन की मात्रा बढ़े तथा मौद्रिक आय घटे।

मुद्रा अवस्फीति की उपर्युक्त परिभाषाओं में प्रो० पाल इन्जिग की परिभाषा अधिक उपयुक्त एवं तर्कसंगत मालूम पड़ती है। कीमत-स्तर में होने वाली प्रत्येक गिरावट को अवस्फीति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कीमत-स्तर में हुई गिरावट मुद्रा पूर्ति में कमी का ही परिणाम नहीं होती वरन् कीमत-स्तर में हुई कमी मुद्रा पूर्ति के संकुचन का कारण भी हो सकती है। यदि कीमतों में गिरावट लगातार होती है तो अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी कि पहले होती थी। इस प्रकार कीमत स्तर मुद्रा पूर्ति में हुई कमी का परिणाम भी है और कारण भी।

अवस्फीति उस समय उत्पन्न होती है जब कि समुदाय द्वारा किया गया कुल व्यय वर्तमान कीमतों पर उपलब्ध कुल उत्पादन के मूल्य से कम हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है तथा कीमतों में गिरावट देखने को मिलती है। हम यह याद रखना

---

1 "Deflation is a state of disequilibrium in which a contraction of purchasing power tends to cause or is the effect of a decline of the price level" —Paul Einzig

2 "Involuntary unemployment is the hall mark of Deflation" —Coulborn

चाहिए कि कीमतों में प्रत्येक तथा सभी प्रकार की गिरावट को अवस्फीति नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ जब हम स्फीति के बढ़ते हुए प्रभाव को प्रभावपूर्ण मौद्रिक तथा राजकोषीय उपायों द्वारा नियन्त्रित करते हैं। उत्पादन बढ़ने के साथ रोजगार बढ़ता है परन्तु कीमतें गिरना प्रारम्भ हो जाती हैं तो इस अवस्फीति नहीं मानना चाहिए।

मुद्रा-विस्फीति (Disinflation)—वह प्रक्रिया जिसमें स्फीति को समाप्त करने के प्रयास किए जाते हैं तथा जिसमें बेरोजगारी तथा उत्पादन में गिरावट नहीं होती उसे अवस्फीति न कहकर मुद्रा-विस्फीति (Disinflation) कहते हैं। अवस्फीति प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण उत्पन्न होती है और सामान्य मन्दी की स्थिति उत्पन्न करती है जिसमें बड़े पैमाने पर बेरोजगारी पाई जाती है जबकि विस्फीति (Disinflation) का उद्देश्य लागतों तथा कीमतों में गिरावट लाना होता है जबकि कीमतों में वृद्धि अप्रत्याशित रूप से बढ़ रही हो। कीमतों में इस प्रकार की अप्रत्याशित वृद्धि को विस्फीति द्वारा नीचे लाना वांछनीय होता है, क्योंकि इस प्रकार की कीमतों में गिरावट से उत्पादन तथा रोजगार का स्तर नीचे नहीं गिरता। इसके विपरीत अवस्फीति (Deflation) समुदाय के लिए घातक एवं नाशकारी होती है(क्योंकि कीमतों में प्रत्येक गिरावट बेरोजगारी में वृद्धि उत्पादन तथा लोगों की आय में गिरावट लाती है।

प्रत्यवस्फीति अथवा प्रतिस्फीति (Reflation)

एक अन्य स्थिति जो कि मन्दी और स्फीति के बीच पाई जाती है उसे प्रत्यवस्फीति (Reflation) कहते हैं। प्रो० जी० डी० एच० कोल ने प्रत्यवस्फीति का लक्षण बताते हुए कहा है 'प्रत्यवस्फीति उस विशेष प्रकार की स्फीति को कहते हैं जिसे जानबूझकर मन्दी से छुटकारा पाने के लिए किया जाता है।'[1] जब कीमत-स्तर तेजी से गिरने लगता है तो अर्थव्यवस्था को मन्दी से मुक्त करने के लिए मुद्रा-विस्तार किया जाता है तो इसे प्रतिस्फीति अथवा प्रत्यवस्फीति कहा जाता है। इसके अन्तर्गत कीमत-स्तर धीरे-धीरे ऊपर उठने लगता है और अर्थव्यवस्था को मन्दी की स्थिति से छुटकारा मिलने लगता है। मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा प्रतिस्फीति (Reflation) दोनों में ही कीमत-स्तर ऊपर को उठता है, परन्तु दोनों ही स्थितियों में कुछ मौलिक अन्तर निम्न प्रकार से बतलाए जा सकते हैं :

(1) मुद्रा स्फीति ऐच्छिक एवं प्राकृतिक दोनों ही प्रकार की हो सकती है जबकि प्रतिस्फीति ऐच्छिक होती है और सरकार द्वारा इसे सोच समझकर उठाया गया कदम कहना गलत नहीं होगा।

(2) कीन्स के अनुसार स्फीति पूर्ण रोजगार बिन्दु के बाद होती है जबकि प्रतिस्फीति पूर्ण रोजगार बिन्दु से पहले ही होती है।

(3) दोनों में ही कीमतें बढ़ती हैं परन्तु प्रतिस्फीति की तुलना में स्फीति में कीमतें तेजी से बढ़ती हैं।

(4) मुद्रा स्फीति को यदि नियन्त्रित न किया जाए तो यह अर्थव्यवस्था को बर्बाद कर देती है जबकि प्रतिस्फीति का नियन्त्रण सरकार के हाथ की बात रहती है।

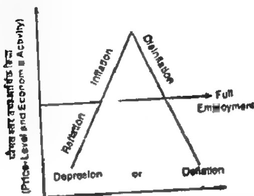
हम एक रेखाचित्र द्वारा स्फीति, अवस्फीति, प्रतिस्फीति तथा मुद्रा विस्फीति (Inflation, Depression, Reflation and Disinflation) को व्यक्त कर सकते हैं।

---

1. 'Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve depression." —*G. D. H. Cole*

मुद्रा अवस्फीति के प्रभाव (Effects of Deflation) :

मुद्रा अवस्फीति मुद्रा स्फीति की तुलना में अधिक हानिकारक एवं भयावह होती है। समाज के विभिन्न वर्गों पर इसका प्रभाव अधिक दूरगामी एवं घातक होता है। इसमें



प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उत्पादन, व्यापारिक क्रियाओं तथा रोजगार के स्तर पर बहुत ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अन्तर्गत जब कीमतें तेजी से गिरती हैं परन्तु उसी अनुपात में लागतों में गिरावट नहीं होती और उत्पादकों को काफी हानि उठानी पड़ती है। साथ ही उत्पादन तथा रोजगार भी गिरते हैं। इसका प्रभाव कुल आय में गिरावट तथा कुल माँग में गिरावट के रूप में इसने को मिलता है। परिणामस्वरूप कीमतों में और अधिक गिरावट आती है और यह प्रक्रिया लगातार बनी रहती है। व्यापारिक क्रियाओं में चारों ओर निराशावादी दृष्टिकोण छा जाता है जो अंत में अर्थव्यवस्था को मंदी में पहुँचा देता है। अवस्फीति में अर्थव्यवस्था साधनों के अनुपयोग होने से आर्थिक बर्बादी तो होती ही है साथ ही उनकी कुशलता में गिरावट उन्हें हतोत्साहित कर देती है। बेरोजगारी व्यक्ति को भ्रष्ट बना देती है और बेरोजगार व्यक्ति समाज के लिए सिरदर्द बन जाते हैं। बेरोजगारी अवस्फीति की भयंकर स्थिति एवं अभिशाप है।

अवस्फीति का समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव स्फीति के प्रभाव के बिल्कुल विपरीत होता है। उदाहरणार्थ यदि मुद्रा स्फीति में निश्चित आय वाले तथा मध्यम वर्ग की स्थिति सबसे खराब होती है जबकि अवस्फीति में निश्चित आय वाले वर्ग की स्थिति सबसे अच्छी मानी जाती है, क्योंकि मुद्रा का मूल्य बढ़ने अथवा कीमत-स्तर में लगातार गिरावट के कारण इस वर्ग की वास्तविक उपभोग्य आय (Real Disposable Income) अधिक हो जाती है। वर्तमान आय से यह वर्ग अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ क्रय कर सकता है। इसी प्रकार से यह व्यापारिक तथा उद्यमकर्ता पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। उनकी कुल आय गिरती है, टैक्स के रूप में सरकार को भुगतान तथा उत्पत्ति के अन्य साधनों के पारिश्रमिक के रूप में दी जाने वाली धनराशि अपरिवर्तित रहती है। प्रभावपूर्ण माँग में गिरावट के कारण उपलब्ध उत्पादन क्षमता का पूरा उपयोग तो नहीं होता, साथ ही कुछ प्लाण्ट महीनों बेकार पड़े रहते हैं। वित्तीय दृष्टि से कमजोर इकाइयाँ दिवालिया होकर बन्द हो जाती हैं। अवस्फीतिक स्थितियों में कृषकों की स्थिति भी काफी खराब हो जाती है क्योंकि निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा कृषि क्षेत्र के उत्पादन की कीमतें तेजी से गिरती हैं।

अवस्फीति में निश्चित किराया तथा ब्याज अर्जित करने वाले साहूकारों को लाभ होता है। सभी निश्चित आय पाने वाले वर्गों को लाभ तथा परिवर्तनशील आय पाने वाले वर्ग को नुकसान उठाना पड़ता है। वैसे तो अवस्फीति काल में बचतों को बढ़ावा मिलता

है परन्तु साधारणतया आय में निरन्तर गिरावट से बचत करने की योग्यता भी गिर जाती है।

मुद्रा अवस्फीति के लगातार बने रहने से अर्थव्यवस्था चौपट हो जाती है और श्मशान घाट जैसी शांति छा जाती है। अवस्फीति में उत्पादन, रोजगार, आय सभी गिरते हैं। इसका समाज पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह अर्थव्यवस्था को कम्पित कर देती है। आज भी दुनिया के देश सन् 1930 की मन्दी को इतना समय बीत जाने के बाद भी नहीं भुला पाए हैं। कीमत-स्तर में गिरावट आज भी किसी देश को उस मन्दी की याद से चौंका देती है।

अवस्फीति को रोकने के उपाय (Measures to Control Deflation)

अवस्फीति को रोकने के लिए हमें समग्र रूप से ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे कुल उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि हो। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हों जो प्रभावपूर्ण माँग को बढ़ाएँ। चूँकि अवस्फीति काल में निजी क्षेत्र में व्यापारिक क्रियाओं में सुस्ती आ जाती है और चारों ओर निराशावादी दृष्टि-कोण दिखाई देता है इसलिए सरकारी क्षेत्र में आर्थिक नीतियाँ मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों को इस प्रकार कार्यान्वित किया जाय जिससे कि कुल उपभोग तथा कुल निवेश माँग में वृद्धि हो और कुल प्रभावपूर्ण माँग बढ़नी चाहिए।

मुद्रा अवस्फीति (Deflation) की स्थिति में सबसे महत्वपूर्ण बात उन उपायों को अपनाने से होता है जिससे कि प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि हो। अर्थव्यवस्था में उपभोग एवं निवेश को बढ़ाने हेतु कदम उठाने चाहिए। प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि उपभोग एवं निवेश के बढ़ने से प्रभावित होती है जिससे कि रोजगार का स्तर बढ़े। कुल मिलाकर इस दिशा में निम्न उपाय अपनाये जा सकते हैं

(1) **करों में छूट (Tax Relief)**—अवस्फीति के समय प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि हेतु सरकार को ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे लोगों के पास उपभोग्य आय बढ़े। इसके लिए करों में रियायत अथवा छूट दे, परन्तु ऐसा करते समय सरकार को यह देखना चाहिए कि करों में छूट से लोगों की उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume) बढ़े। यदि करदाताओं की सीमान्त व्यय प्रवृत्ति ऊँची है तो कर-छूट नीति सफल होगी। इसके विपरीत यदि करदाताओं की सीमान्त व्यय प्रवृत्ति कम है तो कर-छूट से कुल समर्थ माँग में आशानीत वृद्धि नहीं होगी।

(2) **सरकारी व्यय में वृद्धि (Increase in Government Expenditure)**—अवस्फीति में निजी क्षेत्र में निवेश गिर जाते हैं क्योंकि व्यापारिक क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं। इसलिए निवेश में वृद्धि के लिए सार्वजनिक निवेश बढ़ाने के लिए सरकार को नये सार्वजनिक कार्य हाथ में लेकर व्यय बढ़ाने चाहिए। सरकार को ऐसी योजनाओं को हाथ में लेना चाहिए जिससे कि लोगों को अधिक से अधिक रोजगार प्रदान किया जा सके। सरकार को व्यय बढ़ाने हेतु घाटे के बजट (Deficits Budget) बनाना चाहिए इससे सरकार कुल उपभोग माँग में वृद्धि की जा सकती है।

सन् 1930 में अमरीका की न्यू डील नीति (New Deal Policy) तथा फ्रांसीसी ब्लम प्रयोग (Blum Experiment) यह बताते हैं कि इन देशों ने मन्दी से उबरने के लिए सरकारी व्यय बढ़ाकर सफलता प्राप्त की थी और अर्थव्यवस्था में काफी सुधार हुआ था। मंदी के समय सरकार को ऐसी बड़ी योजनाओं को हाथ में लेना चाहिए जो निजी साहसियों की पहुँच से अधिक लाभ अर्जित करने वाली न हों। सार्वजनिक कार्य कितने प्रभाव-शाली होंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि इन योजनाओं के लिए वित्तीय साधन कैसे जुटाए जा रहे हैं। वे सार्वजनिक कार्य जिनकी वित्तीय व्यवस्था करारोपण द्वारा हो

रही है। अवस्फीति से निपटने के लिए उतने कारगर साबित नहीं होते जितने कि सार्वजनिक ऋणों तथा घाटे के बजट द्वारा प्राप्त वित्तीय साधनों की प्राप्ति से होते हैं।

(3) **मौद्रिक नीति (Monetary Policy)**—अवस्फीति से निपटने के लिए मौद्रिक नीति का भी सहारा लिया जाता है। देश में केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण के उपायों में ढील देकर साख सृजन शक्ति व्यापारिक बैंकों की बढ़ाई जाती है। बैंक दर में कमी करके व्यापारिक बैंकों के नकद कोष बढ़ाए जाते हैं, खुले बाजार की क्रियाओं, न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात तथा अन्य साख-नियन्त्रणों का उद्देश्य मुद्रा की पूर्ति तथा निवेश में वृद्धि करके प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि करके रोजगार, उत्पादन तथा आय के स्तर में वृद्धि करना होना चाहिए।

मौद्रिक नीति द्वारा निवेशों में वृद्धि तभी सम्भव है जबकि व्यापारी वर्ग भविष्य के प्रति आशावान एवं उत्साही प्रतीत हों। यदि साहसी निराशावादी है तो वे केन्द्रीय बैंक द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं के प्रति उत्साही एवं आशानुकूल व्यवहार नहीं करेंगे और निवेशों में वृद्धि नहीं होगी।

(4) **पुराने ऋणों का भुगतान (Repayment of Old Loans)**—सरकार को चाहिए कि वह पुराने सार्वजनिक ऋणों का भुगतान करके लोगों के पास क्रय शक्ति में वृद्धि करे। ऐसा करके सरकार अवस्फीतिक (Deflationary) स्थिति पर कुछ सीमा तक काबू पाने में सफल सिद्ध हो सकती है।

स्फीति तथा अवस्फीति के बीच चुनाव (Choice between Inflation and Deflation)

मुद्रा स्फीति तथा अवस्फीति दोनों ही अर्थव्यवस्था के लिए घातक होती हैं, क्योंकि दोनों ही असन्तुलन की स्थिति को बताती हैं। दोनों में अवस्फीति मुद्रा-स्फीति की तुलना में अधिक भयानक साबित होती है। निम्न तथ्यों से इसकी पुष्टि होती है—

(1) **मानव श्रम का विनाश**—स्फीति में कीमतों में वृद्धि होती है और यह वृद्धि व्यक्ति सह लेते हैं। स्फीति में रोजगार बढ़ाने की सम्भावना बनी रहती है क्योंकि माँग में वृद्धि के परिणामस्वरूप वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हेतु रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है। अवस्फीति में मूल्यों में गिरावट होने से अर्थव्यवस्था में अति उत्पादन की स्थिति बनी रहती है, वस्तुओं के स्टॉकों में वृद्धि के कारण सेवायोजक अपने उत्पादन को घटाने लगते हैं। बेरोजगारी भीषण रूप धारण कर लेती है। अवस्फीति नवीन सम्पत्ति (Wealth) के सृजन में बाधा उत्पन्न करके बेरोजगारी बढ़ाने के साथ उत्पादन में कटौती के लिए भी उत्तरदायी होती है। बेरोजगारी श्रमिकों की उत्पादन क्षमता में ह्रास लाती है और यदि मन्दी अधिक समय तक रहे तो बेरोजगारी उन्हें कार्य करने योग्य भी नहीं रखती। बेरोजगारी के कारण श्रम दिवसों (Man days) की बहुत बड़ी हानि होती है। मानव श्रम जिससे उत्पादन बढ़ाने तथा अन्य विकास कार्यों को पूरा करने में सहायता मिलती है वह व्यर्थ जाता है और राष्ट्र एवं समाज को प्रगति की दृष्टि से पर्याप्त काफी पीछे धकेल दिया जाता है।

(2) **समाज पर भार व नैतिक पतन**—अवस्फीति बेरोजगारों की बहुत बड़ी फौज बना देती है जो एक प्रकार से समाज पर एक बोझ साबित होते हैं। वे अयोग्य तथा असुरक्षित बनकर रह जाते हैं। समाज में ऐसे बेकार लोगों का नैतिक पतन हो जाता है। लूटपाट और अपराध बढ़ जाते हैं। स्फीतिकाल में नैतिक पतन, भ्रष्टाचार, मिलावट, धोखाधड़ी, रिश्वतखोरी के रूप में सामने आता है। व्यक्ति को महँगाई के कारण स्फीतिकाल में दोनों समय पेटभर भोजन प्राप्त करना एक कठिन समस्या बन जाती है

(3) **व्यय करने का अधिकार**—प्रो० कीन्स कहते हैं कि स्फीति यद्यपि लोगों को व्यय करने का अधिकार प्रदान करती है परन्तु व्यय उपरान्त प्राप्त होने वाले प्रतिफलों को छीन लेती है। जब कि अवस्फीति में स्थिति इससे भी भयानक होती है क्योंकि बेरोजगारी व्यक्ति को व्यय करने के अधिकार से वंचित कर देती है। इस सत्य को नहीं भुलाया जा सकता कि बिल्कुल रोटी न मिलने की तुलना में आधी रोटी मिल पाना कहीं अधिक सन्तोषप्रद एवं अच्छा है। स्फीति में श्रमिक को काम प्राप्त होने से आधी रोटी का सहारा तो रहता है जबकि अवस्फीति में श्रमिक बेकार रहने के कारण उस आधी रोटी के उपभोग से वंचित रह जाता है।

(4) **विनियोजन की गति**—मुद्रा स्फीति उत्पादक वर्ग के लाभों में वृद्धि करके विनियोग के लिए आशानुकूल वातावरण उत्पन्न करके वृद्धि करती है जिससे नियोगों का स्तर ऊँचा बना रहता है। इसके विपरीत अवस्फीति उद्यमकर्त्ता के लिए किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देती। निरन्तर हानि उठाने के कारण उद्यमकर्त्ता भविष्य के प्रति निराशावादी हो जाते हैं। अवस्फीति लगान तथा किराये की आय (Rentier Class) प्राप्त करने वाले अनुत्पादक वर्ग को उत्साह प्रदान करती है। प्रो० कीन्स के विचारानुसार समाज में बेरोजगारी उत्पन्न करने तथा उत्पादक वर्ग को हतोत्साहित करने की तुलना में किराये की आय पर रहने वाले अनुत्पादक वर्ग को निराश करना अधिक अच्छा है।

अर्थव्यवस्था के लिये स्फीति तथा अवस्फीति (Inflation and Deflation) दोनों ही बुराइयाँ हैं और अधिक प्रणाली की स्थिरता की दृष्टि से दोनों में ही कुछ न कुछ दोष पाए जाते हैं परन्तु जब कभी भी दो बुराइयों में से एक को चुनने की बात सामने आती है तो हम निश्चित रूप से अधिक बुराई की अपेक्षा कम बुराई वाली स्थिति का चयन करेंगे। ठीक इसी दृष्टि से स्फीति तथा अवस्फीति दोनों ही समाज के लिए बुराइयाँ हैं फिर भी दोनों में अवस्फीति अधिक बुरी है। प्रो० कीन्स के विचारानुसार 'स्फीति अन्यायपूर्ण है तथा अवस्फीति अनुपयुक्त है। इन दोनों में शायद अवस्फीति अधिक बुरी है।'[1] कीन्स ने अवस्फीति को स्फीति की तुलना में अधिक बुरा माना है। थोड़ी सी स्फीति आर्थिक मशीनरूपी उद्योग में चिकनाई का काम करके उसे गतिशील बनाती है जिससे कुल उत्पादन में वृद्धि होती है जबकि अवस्फीति कुल उत्पादन को गिराती है।

स्फीति समाज में आय तथा सम्पत्ति के बँटवारे में असमानता लाकर निर्धनों को और निर्धन तथा धनी को और धनी बनाती है परन्तु यह अवस्फीति की भाँति वास्तविक आय की कुल मात्रा को कम नहीं करती। स्फीति को रोकना उतना कठिन नहीं है जितना कि अवस्फीति को रोकना कठिन होता है। यदि देखा जाय तो वास्तविकता यह है कि भयानक मन्दी के समय लगभग सभी व्यक्ति जिसमें के ऋणदाता भी शामिल होते हैं जिनके पास बहुत से ऋण वसूल करने को पड़े हैं। उसको भी नुकसान होता है। हालाँकि प्रो० कीन्स ने स्फीति और अवस्फीति के मध्य चुनाव की समस्या उत्पन्न होने पर मुद्रास्फीति को चुनने का सुझाव दिया है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि वे स्फीति को अच्छा मानते थे।

स्फीति तथा अवस्फीति दोनों ही बुरी हैं और इनके मध्य चुनाव करने जैसी बात होनी ही नहीं चाहिए। हम तो अर्थव्यवस्था में स्थिरता एवं सन्तुलन बनाए रखने का प्रयास करते हुए दोनों बुराइयों से बचना चाहिए।

---

1 'Inflation is unjust and deflation is inexpedient of the two, perhaps deflation is the worse.' — *J. M. Keynes*

परीक्षा-प्रश्न

1 मुद्रा-स्फीति क्या है ? स्फीतिक प्रक्रिया को बताइए और साथ ही स्फीति के प्रमुख प्रकार बताइए ।

(What is inflation ? Give inflationary process along with main types of inflation)

2 स्फीति के प्रभाव क्या है तथा स्फीति को कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है ?
(What are the effects of inflation and how can inflation be controlled ?)

3 स्फीतिक अन्तराल क्या है ? यह कैसे उत्पन्न होता है और अर्थव्यवस्था में इसे कैसे समाप्त किया जा सकता है ?

(What is inflationary gap ? How does it arise and how can it be removed in the economy ?)

[संकेत लागत प्रेरित तथा माँग प्रेरित स्फीति की विस्तृत व्याख्या दीजिए फिर बताइए कि वास्तविक स्थिति को समझने के लिए दोनो जरूरी है ।]

4 माँग प्रेरित तथा लागत प्रेरित स्फीति में भेद कीजिए । क्या आप इन दोनो प्रकार की स्फीतियो मे किए गए भेद को उपयोगी मानते हैं ?

(Distinguish between demand pull and cost push inflation Do you regard the distinction between these two kinds of inflation as useful ?)

[संकेत—पहले माँग प्रेरित तथा लागत प्रेरित स्फीति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कीजिए । फिर बताइए कि वस्तु स्थिति समझने के लिए दोनो की उपयोगिता अपनी-अपनी जगह है ।]

5 मुद्रा प्रसार और मुद्रा सकुचन के अर्थ को स्पष्ट कीजिए । देश के विभिन्न वर्गों पर इनका क्या प्रभाव पडता है ?

(Explain clearly the meaning of inflation and deflation How do they effect different sections of society in the country ?)

6 मुद्रा प्रसार और मुद्रा सकुचन का अन्तर स्पष्ट कीजिए । उनका देश की आर्थिक प्रगति पर क्या प्रभाव पडता है ?

(Distinguish between inflation and deflation How do they affect the economic growth of any country ?)

7 "स्फीति अन्यायपूर्ण है तथा अवस्फीति अनुपयुक्त इन दोनो मे शायद अवस्फीति अधिक बुरी है ।' क्या आप कीन्स के इस वचन से सहमत है ?

(Inflation is unjust Deflation is inexpedient of the two perhaps deflation is the worse ' Do you agree with Keyne s state ment ?)

[संकेत—पहले स्फीति तथा अवस्फीति का अर्थ बताइए उसके बाद इस अध्याय के अन्त मे दोनो के बीच चुनाव शीर्षक की सामग्री दीजिए तथा निष्कर्ष बताइए कि दोनो मे अवस्फीति अधिक बुरी है ।]

निर्माण करके उन्हें लाभप्रद योजनाओं में लगाते हैं। बैंकों का देश के व्यापारिक विकास में भी योगदान है। बैंक वस्तु बाजारों का व्यापक रूप देकर व्यापारिक क्रियाओं के विस्तार में सहायता देते है। व्यापारिक बैंक निम्नलिखित रूप में देश की आर्थिक प्रगति में सहायता पहुँचाते हैं।

बैंक व्यापार तथा उद्योगों के लिए आवश्यक होते हैं

दुनियाँ के आर्थिक विकास का इतिहास देखने से पता चलता है कि 200 वर्षों से अधिक समय में होने वाली आर्थिक प्रगति में बैंकों ने काफी मदद की है। व्यापक व्यापारिक क्रियाओं तथा देश के औद्योगीकरण में बैंकों की भूमिका सराहनीय रही है। जैसा कि हम देख चुके हैं व्यापारिक बैंक साख निर्माण करके मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाते हैं। जब बैंक ऋण उधार या अग्रिम देता है तो साख-मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाता है। वर्तमान समय में ऐसे जमा का जिसको सामान्यतया चैकों के माध्यम से निकाला जाता है तथा जिसको वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय विक्रय के लिए किया जाता है कुल मुद्रा पूर्ति का महत्त्वपूर्ण स्रोत होता है। बैंकों ने चैकों तथा ड्राफ्ट जैसी साख मुद्रा को चलन में लाकर व्यापारिक विनिमय सुगम एवं जोखिम रहित बना दिया है। आज कितनी ही बड़ी राशि का भुगतान चैकों, ड्राफ्टों, विनिमय हुण्डियों द्वारा सम्भव हो पाया है। साख मुद्रा के चलन ने स्वदेशी व्यापार के अलावा विदेशी व्यापार के विकास में काफी सहायता दी है। व्यापारिक क्रियाओं तथा बाजार के विस्तृत होने, विशिष्टीकरण, औद्योगिक विकास आदि बहुत कुछ कार्य उन्नत बैंकिंग प्रणाली पर निर्भर करते हैं। बैंक व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को अल्पकालिक, मध्यकालिक तथा दीर्घकालिक वित्तीय सहायता तो प्रदान करते ही हैं साथ ही इन क्षेत्रों के लिए वित्तीय सलाहकार तथा पथ प्रदर्शक का कार्य भी करते हैं।

बैंकों द्वारा देश में उपयुक्त उद्योगों का विकास करना

बैंक देश में निवेशकर्त्ताओं को उत्पादक कार्यों के लिए अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करके उन्हें नकद पूँजी उपलब्ध कराते हैं। बैंकों की भूमिका आर्थिक विकास तक ही सीमित नहीं रहता वरन् उसको प्रोत्साहित करने में बैंकों का योगदान भी कम नहीं है। बैंक ऋणों की सहायता से साहसी अपनी इकाई की उत्पादकता बढ़ाकर नई उत्पादन तकनीकों को अपना कर तथा नये नये यन्त्रों तथा मशीनों की सहायता से अपने उत्पादन की लागत को कम करके बाजार में अन्य प्रतिस्पर्धियों के सामने टिक सकता है। बैंक सामान्यतया उत्पादक कार्यों के लिए ही ऋण प्रदान करके देश में उद्योगों का समुचित विकास करके देश की उत्पादकता बढ़ाने में परोक्ष रूप से योगदान करते हैं। परिणामस्वरूप देश में उत्पादन साधनों की कार्यक्षमता में वृद्धि तो होती ही है साथ में राष्ट्रीय आय का स्तर ऊँचा रहता है जिससे उपभोग तथा विनियोग का स्तर भी ऊँचा रहता है। कुल मिला कर, देश, आर्थिक प्रगति के लिए बैंक उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं।

देश में पूँजी वितरण असन्तुलन को दूर करना

बैंक देश में व्याप्त पूँजी वितरण के असन्तुलन को दूर करते हैं। व्यापारिक बैंक देश के पूँजी साधनों को उन क्षेत्रों में ले जाते हैं जहाँ इनका अभाव पाया जाता है। इस प्रकार आर्थिक असन्तुलन को दूर करने में बैंकों का योगदान भी किसी प्रकार से कम नहीं है। देश के विकसित क्षेत्रों से पूँजी को हटाकर अविकसित क्षेत्रों की ओर ले जाने में बैंक आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास में मदद करते हैं। बैंकों ने क्षेत्रीय आर्थिक असमानता की खाई को पाटने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

देश में पूँजी संचय तथा पूँजी का निर्माण को प्रोत्साहित करना

बैंक बचतकर्त्ताओं की बचतों को एकत्रित करके पूँजी संचय तथा पूँजी निर्माण मे महत्वपूर्ण योगदान देते है। बैंक बचत सुविधाओं को प्रदान करने वाली एक महत्वपूर्ण संस्था है। जहाँ बचतों को एकत्रित करके बैंक पूँजी संचय को सम्भव बनाते है वही दूसरी ओर बैंक छोटे-छोटे बचतकर्त्ताओं की पूँजी को एकत्रित करके एक बडे पूँजी कोष को जन्म देते हैं तथा ऋण मांगने वाले ग्राहको को एक ही स्थान पर ऋण मिल जाते हैं। बचतें पूँजी निर्माण का आधार होती हैं इसलिए बैंक का देश मे पूँजी निर्माण करके आर्थिक विकास मे सराहनीय योगदान रहा है। इतना ही नही बैंक बेकार तथा फालतू पडी हुई पूँजी को उत्पादक कार्यों मे लगाकर राष्ट्र की प्रगति मे अपनी भागीदारी बनाए रखते हैं। किसी देश का आर्थिक विकास उस देश की बचतो तथा विनियोगों का परिणाम होता है। अर्द्ध-विकसित देशो मे उपभोग का स्तर ऊँचा और बचत का स्तर नीचा होता है जिससे आर्थिक योजनाओं को पूरा करने के लिए वित्तीय साधन कम पड जाते हैं।

साख निर्माण द्वारा व्यापार को विकसित करना

व्यापारिक बैंक साख-निर्माता होते हैं। साख मुद्रा की पूर्ति मे होने वाले उच्चावचनो का देश की आर्थिक प्रगति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। जब अर्थव्यवस्था मे पूँजी निवेश की अधिक आवश्यकता हो तो व्यापारिक बैंकों को अधिक साख-निर्माण करने की नीति देश का केन्द्रीय बैंक अपना सकता है। व्यापारी तथा निर्माता वर्ग को अधिक ऋण प्रदान करके निवेशों को बैंक बढा सकता है। जिससे देश मे आय तथा रोजगार का स्तर ऊँचा हो जाता है। अर्द्ध-विकसित देशों मे व्यापारिक बैंकों द्वारा साख-मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि करके बैंक व्यापार तथा उद्योगो को ऋण प्रदान करके पूँजी निवेश बढा सकते हैं जिससे कि देश का विकास तीव्र गति से हो सके।

बैंक द्वारा ऋणों का मुद्रीकरण करना

व्यापारिक बैंक अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक हुण्डियो के बदले मे माँग जमाओ (Demand deposits) को देकर समुदाय की सेवा करती है। व्यापारिक बैंक उधार कर्त्ताओ से ऋण, जिनमे द्रव्य के नकदी गुण का अभाव होता है, क्रय करके उसके बदले मे उन उधारकर्त्ताओं को माग जमा देती है जो लोगो द्वारा साधारणतया मुद्रा के समान स्वीकार की जाती है। बैंक इस प्रकार की विनियम क्रियाओ को करके ऋण का मुद्रीकरण करती है। बैंक केवल मुद्रा का व्यापार ही नही करती वरन् मुद्रा का निर्माण भी करती है। हम बैंको द्वारा साख निर्माण के अन्तर्गत देख चुके है कि बैंक व्यापार तथा उद्योग के लिए वित्तीय सहायता देकर साख-निर्माण किस प्रकार करती है। वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था मे व्यापारिक बैंक केवल साख-निर्माण ही नही करते वरन् उस साख के उपयोग को सभव बनाकर राष्ट्रीय उत्पादन बढाने मे अपना महत्वपूर्ण योगदान भी देते हैं।

बैंकों द्वारा ब्याजदर को प्रभावित करना

व्यापारिक बैंक ब्याज की दर कर को प्रभावित करके अर्थव्यवस्था मे उत्पादन, उपभोग, बचत, निवेश तथा रोजगार के स्तर को प्रभावित करती है। बैंक मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन उत्पन्न करके मुद्रा बाजार मे प्रचलित ब्याज दर पर अपना प्रभाव डालकर उपभोग तथा उत्पादन की क्रियाओ पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है। अर्थव्यवस्था मे सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाकर बैंक ब्याज की दर गिराती है अन्य बाते समान रहते हुए, परिणामस्वरूप आर्थिक क्रियाओ का विस्तार होता है, रोजगार तथा उत्पादन की मात्रा बढती है, लोगो का जीवन-स्तर ऊँचा होता है। कुल मिलाकर आर्थिक गतिविधियो मे तेजी आती है।

अर्द्ध विकसित देशों में बैंकों का महत्व (Importence of Banks in Underdeveloped Coun tries)

बैंकों की विकसित देशों के अलावा अर्द्ध विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों में भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अल्प विकसित देशों में बैंक विभिन्न प्रकार की छोटी छोटी बचतों को समाज में एकत्रित करके पूँजी संचय तथा पूँजी निर्माण को सम्बल प्रदान करते है। अर्द्ध विकसित देशों में अधिकांश जनसंख्या छोटे छोटे कस्बों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है और वहाँ बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होती। ऐसे क्षेत्रों में सम्पूर्ण आय का उपयोग अनुत्पादक कार्यों तथा उपभोग पर व्यय हो जाता है। ऐसे देशों में लोगों की बचतों को आकर्षित करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे कस्बों में बैंकिंग सुविधाएं उपलब्ध कराकर इनकी दरिद्रता को दूर किया जा सकता है। भारत जैसे विकासशील देश में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रथम तथा द्वितीय चरण (वर्ष 1969 तथा 1980) के बाद स्टेट बैंक आफ इण्डिया तथा अन्य राष्ट्रीयकृत बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों तथा छोटे छोटे कस्बों में अपनी शाखाएँ खोली है। साथ ही राष्ट्रीयकृत बैंकों द्वारा प्रवर्तित (Sponsored) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में शाखा विस्तार योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण जनता तक अथवा घर घर बैंकिंग प्रणाली की सुविधाएँ पहुँचाने का काम किया है जिससे लोगों में बैंकिंग आदतें विकसित हो। इससे ग्रामीण क्षेत्रों की बचतों का देश के विकास में लगाने के लिए राष्ट्रीयकृत एवं क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक प्रयत्नशील है। इस दिशा में हमें अभी और आगे बढ़ना है। भारत की विशालता को देखते हुए बैंकों की पहुँच से अब भी काफी ग्रामीण क्षेत्र छूट हुए है। जब तक सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली ग्रामीण क्षेत्रों में शाखाएँ स्थापित करने हेतु दृढ़ संकल्प नहीं लेगी तब तक सुखद भविष्य की आशा करना व्यर्थ है।

अर्द्ध-विकसित देशों में पूँजी बाजार तथा मुद्रा बाजार के अविकसित होने के कारण पूँजी के अभाव की स्थिति बनी रहती है और औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रियाओं के विस्तार के लिए पर्याप्त वित्तीय सुविधाएँ नहीं जुटाई जा सकती। देश में पूँजी बाजार को विकसित करने के लिए यह आवश्यक है कि देश में स्थित व्यापारिक बैंक उद्योगों तथा अन्य फर्मों के अंशो तथा ऋणपत्रों (Shares and Debentures) को खरीदे। ऐसा करना स्वयं बैंक के हित में भी होता है क्योंकि बैंकों का विकास उद्योगों के विकास पर निर्भर करता है। इसके अलावा निर्यातक हुण्डियों का बट्टा करके देश के निर्यात व्यापार को विकसित करने में भी व्यापारिक बैंक सहायक हो सकते है। अर्द्ध विकसित देशों के सामने सदा भुगतान के असन्तुलन की समस्या तथा विदेशी विनिमय के अभाव की स्थिति बनी रहती है। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए इन देशों में निर्यातक उद्योगों तथा निर्यात सम्बद्धन योजनाओं (Export promotion Programmes) द्वारा पर्याप्त मात्रा में विदेशी विनिमय अर्जित करके विदेशों से बहुत ही आवश्यक आयात किए जा सकते है।

बैंकों का वर्गीकरण (Classification of Banks)

यद्यपि कार्यों के आधार पर बैंकों का वर्गीकरण करना कठिन है क्योंकि सभी देशों में बैंक के कार्य एक समान नहीं होते परन्तु ऐसा होते हुए भी बैंकों का वर्गीकरण सामान्य तथा उनके कार्यों के आधार पर ही किया जाता है। सामान्यतया कार्यानुसार बैंकों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जाता है।

(1) व्यापारिक बैंक (Commercial Bank)
(2) औद्योगिक बैंक (Industrial Bank)
(3) विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Bank)

(4) कृषि बैंक (Agricultural Bank) (सहकारी एवं भूमि विकास बैंक)
(5) बचत बैंक (Saving Bank)
(6) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)
(7) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank)

(1) **व्यापारिक बैंक (Commercial Bank)**—व्यापारिक बैंक वे बैंक होते हैं जो *साधारणतया व्यापार और उद्योग को अल्पावधि ऋण सहायता प्रदान करते हैं।* ये बैंक जनता से जमाओं के रूप में नकदी प्राप्त करते हैं। जमाकर्त्ताओं को ये जमा उनके माँगने पर स्वयं उनको अथवा उनके आदेशानुसार किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था को वापस लौटाते हैं। वर्तमान समय में वाणिज्य बैंक जमाओं का स्वीकार करने तथा व्यापारियों को ऋण देने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करते हैं। उदाहरणार्थ भारत में लगभग सभी व्यापारिक *बैंक हुण्डियों का क्रय विक्रय करते हैं। इसके अतिरिक्त ये ग्राहकों के ड्राफ्टों द्वारा द्रव्य* को एक स्थान दूसरे से स्थान पर भेजने का कार्य करता है। बड़ी बड़ी व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को लॉकर आदि की सुविधा भी प्रदान करती हैं।

(2) **औद्योगिक बैंक (Industrial Bank)**—औद्योगिक बैंक प्रमुख रूप से उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण सहायता प्रदान करके देश के औद्योगिक विकास में विशेष रूप से योगदान देती है। इन बैंकों द्वारा बड़ी बड़ी औद्योगिक फर्मों का अनेक ऋण पत्रों बान्ड्स तथा अंशों आदि की बिक्री करवाने में सहायता देते हैं और *उनके ऋण पत्रों की हामी (Underwriting) भी करते हैं।*

उद्योग को अचल (Fixed) तथा *कार्यशील (Working) पूँजी की आवश्यकता* होती है क्योंकि दीर्घावधि तक इसको वापस प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत वस्तु विनिर्माण प्रक्रिया में कच्चे माल को खरीदने तथा श्रमिकों को वेतनों का भुगतान करने के लिए अल्पावधि के लिए कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। कार्यशील तथा अचल पूँजी की मात्रा उद्योग की प्रकृति तथा इसके आकार द्वारा निर्धारित होती है। छोटे *तथा श्रम प्रधान उद्योगों को कम अचल तथा कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है।* इसके विपरीत लोहा तथा इस्पात के समान बड़े आकार के उद्योगों को अधिक कार्यशील तथा अचल पूँजी की आवश्यकता होती है। जर्मनी फ्रांस अमरीका आदि औद्योगिक विकसित देशों में इन बैंकों का काफी विकास हुआ है।

अधिकांश औद्योगिक बैंक दीर्घावधि ऋण प्रदान करती हैं तथा इस कारण ये जमाकर्त्ताओं से अचल अथवा दीर्घावधि जमा प्राप्त करने पर अधिक ध्यान देती हैं। भारत *में इस प्रकार के बैंकों का विकास सम्भव नहीं हो पाया है यद्यपि कुछ समय पूर्व देश में* औद्योगिक विकास की गति तीव्र करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने 1964 ई० में *औद्योगिक विकास बैंक* (Industrial Development Bank of India) की स्थापना की है। यह बैंक देश के औद्योगिक विकास के लिए सहायता दे रहा है।

(3) **विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Bank)**—विदेशी विनिमय बैंक का प्रमुख कार्य जैसा कि इनके नाम से प्रतीत होता है विदेशी हुण्डियों के क्रय *विक्रय द्वारा देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार—आयातों तथा निर्यातों को वित्तीय सहायता* करके प्रोत्साहित करना होता है। साधनों की उपलब्धि के अनुसार कभी-कभी ये बैंक घरेलू व्यापार को भी वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों का मुख्य कार्य विदेशी मुद्राओं को परिवर्तित करके आयात निर्यात में सहायता प्रदान करना होता है। यह बैंक विभिन्न देशों की मुद्राएँ अपने पास

रखते है तथा अन्य देशो में अपने बैंक की शाखाएँ खोलकर विदेशी व्यापार को सुगम बनाते हेतु करते हैं। इन बैंकों की कार्य पद्धति इस प्रकार होती है। जब कोई विनिमय बैंक विनिमय बिल खरीदती है तो उस विनिमय बिल की राशि उस उसी देश की मुद्रा में देनी रहती है। तब वह बैंक उस बिल को विदेश में स्थित अपनी शाखा को भेजता है तथा देश की वह शाखा आहार्यी (Drawee) से उस बिल में लिखित धनराशि को विदेशी मुद्रा में वसूल कर लेती है। ऐसा करने से विभिन्न देशों की मुद्राओं के स्थानान्तरण किए बिना ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान होता रहता है। इसके अलावा यह बैंक अग्रिम विनिमय प्रतिभूतियाँ या आयात निर्यात आदि विदेशी व्यापारिक क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं। यह बैंक विदेशी विनिमय दरों में होने वाले उतार चढ़ावों को रोककर उनसे होने वाली जोखिम को कम करते हैं।

(4) कृषि बैंक (Agricultural Bank) कृषि बैंक वे बैंक होती हैं जो कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु कृषकों को अल्पावधि, मध्यावधि तथा दीर्घावधि ऋण सहायता प्रदान करती हैं। कृषि से सम्बन्धित कुछ विशेष कठिनाइयों के कारण व्यापारिक बैंक कृषि को ऋण सहायता प्रदान नहीं कर पाते हैं। प्रथम कृषि उत्पादन निश्चित नहीं है तथा यह प्राकृतिक प्रकोपों के अधीन है। फसल के नष्ट होने की स्थिति में बैंक के लिए कृषक से ऋण वसूल करना काफी कठिन है तथा बैंक के धन डूबने का भय रहता है। भारत में कृषि वित्त की समस्या का आज भी समाधान नहीं हो सका है। यद्यपि स्टेट बैंक आफ इण्डिया की स्थापना 1955 ई० में इसी उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए की गई थी। अगस्त 1967 ई० में भारत सरकार ने कृषि वित्त की समस्या का समाधान करने हेतु एक राष्ट्रीय साख परिषद (National Credit Council) की स्थापना की है जो कि राज्य बैंकों द्वारा अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को साख के वितरण पर नियन्त्रण रखेगी। भारत में कृषि को दीर्घावधि तथा अल्पावधि ऋण भूमि बन्धक बैंक तथा कृषि साख समितियों द्वारा प्रदान किए जाते हैं।

(क) भूमि विकास बैंक (Land Development Bank)—भूमि विकास बैंक किसानों की दीर्घकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह 5 से 25 वर्ष तक की अवधि के लिए किसानों को ऋण देते हैं। इन ऋणों का आधार किसानों की भूमि को बन्धक के रूप में रखना है। इन ऋणों का भुगतान आसान किस्तों तथा एक निश्चित अवधि के बाद आरम्भ होता है। यह बैंक सहकारिता के आधार पर संगठित होते हैं। दुर्भाग्यवश इन्हें आशातीत सफलता नहीं मिल पाई है।

(ख) कृषि सहकारी बैंक (Agricultural Co-operative Banks)—यह बैंक किसानों की अल्पकालीन ऋणों की पूर्ति करते है। भारत में सहकारी बैंकों का स्वरूप इस प्रकार है। ग्रामीण स्तर पर सहकारी साख समिति (Village Coop Credit Society) जिसमें 10 या इससे अधिक व्यक्ति मिलाकर इस समिति का गठन करते हैं। इस समिति की पूँजी प्रवेश शुल्क, अंशों की बिक्री, जनता तथा सदस्यों द्वारा जमा किए गए निक्षेपों, सुरक्षित कोषों, सरकार तथा अन्य सहकारी बैंकों से ऋणों द्वारा प्राप्त होती है। इन्हीं समितियों के ऊपर सहकारी संघ होते हैं जिनसे यह समितियाँ सम्बद्ध होती हैं और इन संघों से ऋण प्राप्त करती हैं। इन सहकारी संघों के ऊपर केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks) होते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर सहकारी संघों को ऋण देते हैं। साधारणतया प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय सहकारी बैंक होता है। इनके ऊपर राज्य सहकारी बैंक (State Cooperative Banks) होते हैं जो जिला केन्द्रीय सहकारी बैंकों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इन राज्य सहकारी बैंकों के ऊपर रिजर्व बैंक आफ इण्डिया का कृषि साख विभाग होता है।

अधिक है वे बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की दूसरी सूची में सम्मिलित बैंक कहलाते हैं। जिन व्यापारिक बैंकों की चुकता पूंजी व आरक्षण 5 लाख रुपये से कम है वे बैंक गैर अनुसूचित बैंक कहलाते हैं। व्यापारिक बैंक जमाकर्त्ताओं से जिनमें व्यक्ति, उद्योग, वाणिज्यिक संस्थान तथा अन्य सम्मिलित हैं चालू, मियादी तथा बचत जमाएँ स्वीकार करते हैं। ये बैंक व्यापार तथा उद्योग को अल्पकालीन ऋण तथा अग्रिम प्रदान करते हैं। कुछ भारतीय बैंक विदेशी विनिमय लेन-देन भी करते हैं तथा इन बैंकों की विदेशों में शाखाएँ भी हैं। गत कुछ वर्षों में बड़े व्यापारी बैंकों ने अभिगोपन के रूप में कार्य करके उद्योगों के साधारण अंशों का अभिगोपन भी किया है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने गारन्टी योजना के अधीन लघु उद्योगों को भी ऋण सहायता प्रदान की है।

व्यापारिक बैंकों की वर्तमान स्थिति

अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की कुल जमाराशियाँ जुलाई 1988 में 1 26 009 करोड़ रुपये थी। 23 मार्च 1990 को कुल जमाराशि 1 66 005 करोड़ थी जबकि 24 अगस्त 1990 को जो बढ़कर 1 75 000 करोड़ रुपये तक पहुँच गई अर्थात् 5 महीनों में केवल 5 3% प्रतिशत की वृद्धि ही रिकार्ड की गई। बैंकिंग सूत्रों के अनुसार विगत वर्षों में बैंकों में जमा की उच्च वृद्धि के मामले अभी तक बैंकों की जमा में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है। बैंकों में समयावधि जमा राशि में वृद्धि की दर भी काफी धीमी है। इस वर्ष यह 6 प्रतिशत की दर से 8 242 करोड़ तक पहुँची जबकि पिछले वर्ष पहले 6 महीनों में इसकी वृद्धि 7 8 प्रतिशत की दर से बढ़कर 9146 करोड़ रुपये तक पहुँच गई थी। वर्ष 1989-90 की जमा वृद्धि 19·1 प्रतिशत की तुलना में रिजर्व बैंक ने 1990-91 के लिए जमा वृद्धि दर का अनुमान 16 6 प्रतिशत लगाया है। जमा वृद्धि दर में लम्बे समय से आ रही गिरावट के अभी बने रहने की सम्भावना है।

व्यापारिक बैंकों का कार्य
(Functions of Commercial Banks)

व्यापारिक बैंकों का कार्य निम्नलिखित है—

(1) जनता से जमा पर रुपया प्राप्त करना—बैंक को पूंजी दो प्रकार से प्राप्त होती है। प्रथम अंश या हिस्सों को मुद्रा बाजार में बेचकर दूसरे व्यापारिक बैंक जनता से जमा स्वीकार करते हैं तथा इन जमाराशियों पर ब्याज देते हैं, ये बैंक चार प्रकार से जमा ग्रहण करते हैं—(i) चालू खाता (ii) सेविंग्स बैंक खाता, (iii) निश्चितकालीन खाता (iv) घरेलू बचत खाता।

(i) चालू खाता (Current Account)—यह एक महत्वपूर्ण खाता होता है इसके धारक कितनी ही बार बैंक से लेन-देन इस खाते के माध्यम से करते हैं। इन खातों पर बैंक सामान्यत कोई ब्याज नहीं देते वरन् उल्टे ही बैंक ऐसे खातेदारों से आकस्मिक शुल्क वसूल कर लेता है। इस खाते की रकम का प्रयोग बैंक अपने हित के लिए न के बराबर करता है क्योंकि इसकी रकम कभी भी माँगी जा सकती है। इस खातेदार को एक न्यूनतम धनराशि अपने खाते में रखनी होती है।

(ii) बचत खाता (Savings Bank Account)—यह खाते अधिकतर छोटी बचतों या सामान्य व्यक्ति के द्वारा रखे जाते हैं। इन खातों पर सम्बन्धित बैंक ब्याज देता है। ऐसे खातों में रकम जमा तो कई बार की जा सकती है परन्तु धन निकालने की सुविधा सप्ताह में दो या तीन बार ही दी जाती है। वर्तमान समय में ऐसे खातों की रकम पर 5% से 6% ब्याज दिया जाता है।

(iii) निश्चितकालीन बचत (Fixed Deposit Account)—इन खातों में एक निश्चित अवधि के लिए लोग अपनी रकम जमा करवाते हैं। यह समयावधि सामान्यतः 3 महीने से 5 वर्ष तक की होती है। इस पर ब्याज जमा करवाई जाने वाली अवधि के अनुसार दिया जाता है। इसमें धन जमा करने वाले व्यक्ति को बैंक एक रसीद दे देती है।

इस जमा के खातेदार अपनी रकम निश्चित समयावधि के बाद ही ले सकते हैं परन्तु यदि उन्हें इस अवधि से पहले ही धन की आवश्यकता हो जाए तो बैंक इन खातों पर दिए जाने वाले ब्याज से अधिक ब्याज लेता है। यह खाता उन्हीं व्यक्तियों द्वारा खोले जाते हैं जिनको ब्याज से पर्याप्त आय की प्राप्ति करनी हो होती है और जो एक निश्चित अवधि के लिए रकम देने की स्थिति में होते हैं। ऐसी रकम को बैंक विनियोजित करती रहती है।

(iv) घरेलू बचत खाता (Home Safe or Savings Account)—कुछ बैंक घरेलू बचत खाते की सुविधाएँ अपने ग्राहकों को देते हैं। सामान्यतः बैंक अपने ग्राहकों के लिए छोटी-छोटी गुल्लकें या तिजोरी देते हैं और उसमें ताला लगाकर बैंक चाबी अपने पास रख लेता है एवं निश्चित समय के बाद बैंक का प्रतिनिधि ऐसे ग्राहक के घर जाता है और ताला खोलकर रकम उस ग्राहक के सामने गिनकर ले जाता है और उसकी जमा रसीद देकर उस रकम को ग्राहक के खाते में डाल देता है। बैंक इस पर साधारण ब्याज देता है। अल्प बचतें तथा बच्चों या गृहणियों को सुविधा तथा छोटी छोटी बचतों को आकर्षित करने के लिए ऐसे खाते खोले जाते हैं।

(II) ऋण प्रदान करना—ये बैंक अतिरिक्त धन को उत्पादकों तथा व्यवसायियों को विभिन्न प्रकार की जमानतों पर ऋण प्रदान करते हैं। ये बैंक अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नहीं देते हैं क्योंकि ऐसा करने में बैंक को जोखिम का सामना करना पड़ सकता है। ये बैंक व्यक्तिगत जमानत पर ऋण नहीं दे सकते हैं क्योंकि ऐसा करने में बैंक को जोखिम का सामना करना पड़ सकता है। भारत में ऐसी संस्थाओं का अभाव है जो बैंक को उनके ग्राहकों की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में सही सही सूचना दे सकें। व्यापारिक बैंक अपना अतिरिक्त धन व्यापारियों को ही अल्पकालीन ऋणों के रूप में देते हैं क्योंकि इनमें एक ओर तरलता रहती है तो दूसरी ओर उन्हें ऐसे ऋणों पर अपेक्षाकृत ऊँची ब्याज दर प्राप्त होती है।

ऋणों के प्रकार—व्यापारिक बैंक द्वारा निम्न प्रकार से ऋण दिए जाते हैं—

(i) नकद साख (Cash Credit)—व्यापारी वर्ग को नियमित रूप से धन की आवश्यकता पड़ती है। व्यापारी को कितने धन की आवश्यकता होती है इसका अनुमान पहले से लगा लेता है और उतनी ही रकम उधार लेने का समझौता बैंक से कर लेता है। यह रकम व्यापारी नकद न लेकर समय-समय पर बैंक से लेता रहता है। उसे निकाली गई रकम पर ही ब्याज देना पड़ता है। यह रकम पर्याप्त जमानत पर दी जाती है। व्यापारी वर्ग सामान्यतः अंश या सरकारी प्रतिभूतियों को धरोहर के रूप में बैंक के पास रखते हैं इस पर लाभांश तथा ब्याज ग्राहक को मिलता है।

(ii) अधिविकर्ष (Overdrafts)—यह सुविधा सामान्यतः चालू खातेदार लेते हैं। यह खातेदार बैंक में जमा रकम से अधिक रकम लेने का समझौता कर लेते हैं। यह रकम अधिविकर्ष कहलाती है। ग्राहक के लिए यह जरूरी नहीं है कि उसने जितनी रकम अधिविकर्ष के रूप में लेने का समझौता किया है उतनी रकम एक बार में निकाल ले। आवश्यकतानुसार वह अधिविकर्ष की रकम लेता रहता है और ग्राहक को वास्तविक निकासी जाने वाली राशि पर ब्याज देना होता है। अधिविकर्ष की रकम पर्याप्त जमानत तथा ग्राहक की साख पर दी जाती है।

(iii) **अग्रिम (Advances)**—बैंक की अधिकांश रकम ऋण अथवा अग्रिमों के रूप में जाती है। ऋण एक निश्चित रकम व निर्धारित ब्याज की दर पर दिए जाते हैं। जब बैंक किसी व्यक्ति को अग्रिम देता है तो यह रकम खातेदार के हिसाब में लिख दी जाती है। रकम बैंक के खाते में लिखे जाने के बाद उसी दिन से ब्याज ग्राहक पर लगता है चाहे ग्राहक यह रकम एक साथ ले ले अथवा किस्तों में बैंक से निकाले। इसके विपरीत नकद साख तथा अधिविकर्ष में जितनी रकम ग्राहक लेता है उसी पर ब्याज लगता है।

ऋण जमानत पर तथा निश्चित रकम अवधि के लिए दिए जाते हैं। यह ऋण पूर्णतः सुरक्षित ही होते हैं।

(iv) **व्यापारिक बिलों की कटौती (Discounting of Trade Bills)**—बैंक अपनी चालू पूंजी का एक भाग व्यापारिक बिलों में लगाता है। बैंक मीयादी बिलों (Usance bills) की कटौती तुरन्त करता है। बिलों की कटौती करते समय बैंक इस बात का ध्यान रखता है कि सम्बन्धित बिल व्यापारिक बिल ही हों। विकसित देशों में बिलों की कटौती करने के लिए कटौती गृह (Discount House) स्थापित किए गये हैं।

व्यापारिक बिलों में धनराशि लगाने पर व्यापारिक बैंक को अल्पकाल के लिए पैसा लगाना पड़ता है दूसरे व्यापारिक बैंक को आवश्यकता पड़ने पर इन्हें देश के केन्द्रीय बैंक में भुनाया जा सकता है। व्यापारिक बिलों के लेन-देन द्वारा ऋणदाता एवं ऋणी दोनों को लाभ रहता है।

(III) एजेन्सी अथवा प्रतिनिधि कार्य (Agency or Representative Functions)

व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए कुछ सेवाएँ उनके द्वारा माँगी जाने पर उपलब्ध करता है। कुछ सेवाएँ सशुल्क तथा कुछ निःशुल्क प्रदान की जाती हैं। यह सुविधाएँ निम्नलिखित हो सकती हैं—

(i) **ग्राहकों के चैक, बिलों आदि के भुगतानों को संग्रहीत करना**—बैंक ग्राहक के चैक, विनिमय बिल, हुण्डी आदि का भुगतान प्राप्त करके ग्राहक के खाते में डाल देता है। चालू खातेदारों को यह सुविधा प्रायः निःशुल्क दी जाती है अन्य स्थान के लिए बैंक शुल्क लेता है।

(ii) **ग्राहकों के चैक, बिल आदि का भुगतान देना**—बैंक अपने ग्राहकों द्वारा लिखे गए चैकों का भुगतान करते हैं। कभी-कभी तो ग्राहकों के आदेश पर स्वीकार किए गये बिलों का भुगतान कर देते हैं और इस कार्य के लिए ग्राहकों से शुल्क ले लेते हैं।

(iii) **नियमित भुगतान करना और संग्रह करना**—ग्राहकों के स्थाई आदेश (Standing Order) पर बैंक ग्राहकों के मकान के किराये, बीमा पॉलिसियों की किश्त तथा अन्य दायित्वों का निपटारा अर्थात् भुगतान प्राप्त करने तथा उन्हें संग्रहीत करने का कार्य करते रहते हैं। बैंक ग्राहकों से इन कार्यों को करने के लिए कुछ शुल्क लेते हैं।

(iv) **विप्रेषण सुविधाएँ (Remittance Facilities)**—बैंक अपने ग्राहकों के लिए रकम को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने की व्यवस्था करता है।

(v) **अंशों तथा प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय**—बैंक अपने ग्राहकों के आदेश पर विभिन्न प्रकार की कम्पनियों के अंश, सरकारी प्रतिभूतियाँ आदि खरीदते और बेचते रहते हैं।

(vi) **सन्दर्भ पत्र**—बैंक अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति की सूचना विदेशों तथा देश के विभिन्न स्थानों पर ग्राहकों की आवश्यकतानुसार देते हैं यह सेवा प्रायः निःशुल्क होती है।

(vii) **ट्रस्टी तथा प्रबन्धक के रूप में**—बैंक अपने ग्राहकों की सम्पत्ति की व्यवस्था विभाजन तथा प्रबन्ध का कार्य भी कर लेते हैं।

(viii) **वित्तीय सलाहकार**—बैंक अपने ग्राहकों के लिए पूंजी विनियोजन के लाभकारी क्षेत्रों की जानकारी देकर ग्राहकों को सुदृढ़ क्षेत्रों में पूंजी विनियोजन की सलाह भी देते हैं।

(IV) **विविध कार्य** (Miscellaneous Functions)—उपर्युक्त कार्यों के अलावा बैंक कुछ कार्य और करता है जिन्हें विविध कार्य कहा जाता है जैसे—

(i) **सम्पत्ति तथा बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा करना**—बैंक अपने ग्राहक को बहुमूल्य चल सम्पत्ति जैसे—सोना, चाँदी, हीरे-जवाहरात तथा कीमती पत्रों को रखने के लिए लाकर्स सुविधाएं प्रदान करते हैं। इन लाकर्स का एक चाबी बैंक के पास तथा दूसरी ग्राहक के पास रहता है। जब तक दोनों चाबियां नहीं लगेगी तिजोरी या लाकर नहीं खुलेगा। लाकर्स सुविधा के लिए बैंक वार्षिक किराया लेता है।

(ii) **विदेशी विनिमय तथा साख पत्रों अथवा यात्री चैक की सुविधा**—व्यापारिक बैंक ऐसे ग्राहकों के लिए यह सुविधाएं देता है जो विदेशी यात्रा पर जाते हैं या विदेशों से लेन देन करते हैं। विदेशों पर जाने वाले यात्री जोखिम से बच जाते हैं।

(iii) **उपभोक्ता साख देना**—बैंक अपने ग्राहकों के लिए उपभोक्ता वस्तुएं जैसे—स्कूटर, मोटर साईकिल, कार, फ्रिज, एयर कंडीशनर, कूलर आदि को खरीदने की सुविधा देते हैं। ऐसी सुविधाएं औद्योगिक विकास के लिए प्रायः दी जाती हैं।

(iv) **अंक संग्रह एवं विश्लेषण**—प्रायः सभी बड़े बैंक बैंकिंग वित्त तथा व्यापार आदि सम्बन्धी आँकड़े संग्रह कर उन्हें समय समय पर प्रकाशित करते रहते हैं। इनके प्रकाशन से जनता एवं बैंक के ग्राहकों के लिए जानकारी मिलती रहती है।

(v) **साख का निर्माण**—व्यापारिक बैंक के प्रमुख कार्यों में साख निर्माण का कार्य आता है। बैंक अपनी जमाराशि से कई गुना साख मुद्रा की मात्रा निर्मित करके ऋण प्रदान करते हैं।

बैंकों द्वारा साख मुद्रा का निर्माण (Credit Creation by Banks)

बैंकों को साख मुद्रा निर्माण कार्य के कारण वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रो० सेयर्स ने कहा है कि बैंक केवल मुद्रा का आदान प्रदान करने वाले नहीं होते परन्तु महत्वपूर्ण अर्थ में वह मुद्रा के निर्माता होते हैं (Banks are not merely surveyors of money but also in an important sense manufacturers of money) बैंक के साख निर्माण के कार्य द्वारा बैंक की कुल जमा पूंजी कई गुना बढ़ जाती है। एक बैंक की साख निर्माण शक्ति सीमित होती है। बैंकों को अपनी प्रारंभिक जमा पूंजी का एक भाग नकदी के रूप में रखना पड़ता है जिससे कि वह अपने बैंकिंग कार्यों को सुगमतापूर्वक निपटा सकता है।

वर्तमान समय में साख मुद्रा का एक देश की अर्थव्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस साख मुद्रा का निर्माण बैंकों द्वारा किया जाता है। बैंक अपने पास लोगों की जमा धनराशि के आधार पर साख मुद्रा का निर्माण करते हैं। साख मुद्रा निर्माण के समय दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य होता है। प्रथम तो यह है कि यद्यपि अर्थव्यवस्था में विभिन्न व्यक्तिगत बैंक (Individual banks) होता है कोई एक बैंक अपनी कुल नकद जमा का केवल कुछ प्रतिशत भाग ऋण के रूप में उधार पर दे सकता है परन्तु एक अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली कुल नकद जमाओं (Total cash

deposits) का कई गुना राशि उधार देकर साख मुद्रा का निर्माण कर सकती है। दूसरी जो साख मुद्रा निर्माण के विषय में है वह यह कि हम प्राथमिक जमाओं (Primary deposits) तथा गौण जमाओं (Secondary or derivative deposits) के बीच अन्तर ज्ञात होना चाहिए। प्राथमिक जमाओं को निष्क्रिय अथवा प्रत्यक्ष जमा तथा गौण जमाओं को सक्रिय अथवा अप्रत्यक्ष जमा (Indirect deposits) भी कहते हैं। प्राथमिक जमाओं का निर्माण जमाकर्ताओं की वास्तविक जमा के आधार पर होता है और बैंक द्वारा इनका निर्माण नहीं होता जबकि गौण अथवा सक्रिय जमाओं का निर्माण बैंक करते हैं और इनका आधार प्राथमिक जमा ही होता है। गौण जमा बैंकों द्वारा व्यापारियों तथा ऋणियों को अग्रिम तथा ऋण प्रदान करने के फलस्वरूप होता है। गौण जमाएँ प्राथमिक जमाओं का परिणाम होती हैं और गौण जमाओं के निर्माण से साख अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है।

बैंक एक व्यापारिक संस्था के समान होता है जिसका उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है। यह लाभ बैंक जमाओं को प्राप्त करके उन्हें ऋण के रूप में उठाकर ब्याज तथा अन्य बैंकिंग सेवाओं को प्रदान करके उठाते हैं। बैंक प्राथमिक जमाओं के आधार पर साख मुद्रा का निर्माण करके ऋणियों को ऋण प्रदान करते हैं और इन ऋणों पर मिलने वाले ब्याज में से जमाकर्ताओं को जमा पूँजी पर ब्याज देकर शेष धन ब्याज के रूप में प्राप्त करके लाभ कमाते हैं। इस प्रकार बैंक निष्क्रिय जमाओं को सक्रिय जमाओं में बदल देते हैं जिनका उपयोग विकास तथा अन्य सेवाओं के विस्तार हेतु किया जाता है। एक कुशल बैंकर वही होता है जो आवश्यकता तथा नियमानुसार नकदी से ज्यादा नकदी पास न रखकर उसे उपयुक्त समय पर ऋणों तथा अग्रिमों की माँग करने वालों को देकर अधिक से अधिक आय प्राप्त कर सके।

साख निर्माण प्रक्रिया (Process of Credit Creation)

साख निर्माण प्रक्रिया का आरम्भ बैंक के पास उनके जमाकर्ताओं की धनराशि को प्राथमिक जमाओं के रूप में अपनी नकदी को जमा करने के साथ होता है। बैंक अपने सामान्य अनुभव के आधार पर यह जानते हैं कि कोई भी जमाकर्ता बैंक के पास अपनी धनराशि जमा करते हैं वह एक साथ एक मुश्त अपनी धनराशि को वापस लेने नहीं आते। बैंक विभिन्न प्रकार की जमा पूँजी प्राप्त करते हैं जैसे सामान्य बचत खाते में, सावधि जमा खाते में आदि। बचत खाते (Savings Bank Account) में जो धनराशि जमा की जाती है उसको बैंक के नियमानुसार जमाकर्ता निकाल सकता है। सावधि जमा खाते अथवा निश्चित अवधि (Fixed Deposit Account) खाते में जो धनराशि जमा की जाती है उसको बैंक एक निश्चित अवधि तक ऋणियों को उधार दे सकता है जबकि बचत खाते में प्राप्त जमा पूँजी का एक निश्चित भाग को नकद अपने पास रखकर बैंक शेष धनराशि को उधार दे देता है। इस प्रकार बैंक अपनी नकद जमाओं को ऋण चाहने वालों को जमाओं की अनुपात के अनुसार उधार देकर उन ऋणों पर ब्याज प्राप्त करता है। सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली की दृष्टि से साख मुद्रा निर्माण की प्रवृत्ति बहुगुणक होती है। इस जमा गुणक की आय मूल रकम से अधिक परन्तु अनन्त से कम होता है। परन्तु एक बैंक की दृष्टि से कोई एक बैंक कुल प्राथमिक जमा का केवल कुछ प्रतिशत भाग ही उधार देकर साख मुद्रा का निर्माण करता है। एक बैंक की अधिक साख मुद्रा निर्माण शक्ति जमाकर्ताओं द्वारा प्राथमिक जमा राशि के ऊपर निर्भर करती है।

साख मुद्रा निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया में देश का मुद्रा अधिकारी अथवा केन्द्रीय बैंक, बैंकिंग प्रणाली अथवा बैंक जिसमें जमाकर्ता तथा प्रत्याहारकर्ता शामिल होते हैं, तथा उधारकर्ता वर्ग के चार पक्ष होते हैं। साख-मुद्रा निर्माण के सम्बन्ध में उधारकर्ता वर्ग

का यह महत्व होता है कि इस पक्ष द्वारा साख-मुद्रा की उस वास्तविक माँग राशि का निर्धारण होता है जिसका सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली निर्माण करती है अन्य तीनों पक्ष बैंकिंग प्रणाली की इष्टतम् साख-मुद्रा पूर्ति क्षमता अथवा साख मुद्रा की उस इष्टतम राशि का, जिसका निर्माण बैंकिंग प्रणाली द्वारा किया जा सकता है निर्धारित करते हैं।

प्रो० रिकार्डो कहते हैं कि बैंक के साख मुद्रा निर्माण कार्य का प्रारम्भ उस समय होता है जब बैंक दूसरे जमाकर्ताओं के धन का उपयोग करती है। जब तक बैंक अपनी पूँजी को उधार देती है तब तक वह केवल पूजीपति अथवा ऋणदाता मात्र होती है। संक्षेप में कहा यह जाता है कि बैंक अपने जमाकर्ताओं की धनराशि का विनियोग करती है इस कारण बैंक द्वारा साख मुद्रा निर्माण का सम्बन्ध इसके अपने जमाकर्ताओं की धनराशि का निवेशकर्ताओं को उधार देने से होना चाहिए। देश के केन्द्रीय बैंक का साख मुद्रा के विस्तार एवं संकुचन में बड़ा महत्व होता है। साख मुद्रा का विस्तार एवं संकुचन बैंक जमाओं के विस्तार एवं संकुचन से सम्बद्ध होता है। केन्द्रीय बैंक के पास साख नियन्त्रण के विभिन्न अस्त्र होते हैं जिनका उपयोग वह आवश्यकतानुसार करता रहता है।

बैंक जमा दो प्रकार से सृजित की जाती है। बैंक जमा का एक रूप उस समय हमारे सम्मुख आता है जबकि ग्राहक की नकदी या धन उसके पास जमा होती है। ऐसी जमा प्राथमिक जमा कहलाती है। यह प्राथमिक जमाएँ बैंक की परिसम्पत्ति (Assets) तथा दायताओं (Liabilities) दोनों में ही वृद्धि करती है। प्राथमिक जमा ही बैंक की जमा मात्रा के आकार का निर्धारण करती है। प्राथमिक जमाओं से चलन मुद्रा जमा मुद्रा के रूप में परिवर्तित हो जाती है और समुदाय के लिए उपलब्ध मुद्रा की पूर्ति अपरिवर्तित रहती है।

बैंक दूसरे प्रकार की जमाओं को प्राप्त करती है जिन्हें गौण जमा (Derivative deposits) या (Secondary deposits) कहते हैं यह जमा ऋणों के देने अथवा प्रतिभूतियों को खरीदने अथवा बैंक की परिसम्पत्ति में वृद्धि होने से होती है। व्युत्पन्न जमा अथवा गौण जमा (Derivative or Secondary Deposits) की मात्रा बैंक द्वारा ऋण प्रदान नीति तथा बैंक की विनियोग नीति पर निर्भर करती है। जब बैंक एक ग्राहक को ऋण प्रदान करता है अथवा एक विक्रेता से प्रतिभूति खरीदता है तो सामान्यतया वह इसका भुगतान नकद में करके ऋणी अथवा प्रतिभूति के विक्रेता का अपना यहाँ खाता खोल देता है और इतनी धनराशि उस खाते में डाल देता है जितने का ऋण दिया है अथवा प्रतिभूति उसने खरीदी है। ऋणी अथवा प्रतिभूति विक्रेता का यह धनराशि बैंक पर चेक लिखकर अदा करने या उसे देने का प्रावधान होता है। बैंक के इस प्रकार के चलन (Custom) के आधार पर यह कहावत प्रचलित है कि 'प्रत्येक ऋण एक जमा का निर्माण करता है।' (Every loan creates a deposit)।

व्युत्पन्न जमा बैंक द्वारा निर्मित होने से समुदाय की माँग जमाओं पर अधिकारों में वृद्धि बिना लोगों के पास मुद्रा में कमी किए होती है। इस प्रकार व्युत्पन्न जमाएँ समाज में मुद्रा के कुल स्टाक में वृद्धि करती है। सामान्य रूप से बैंक गौण अथवा व्युत्पन्न जमाओं को प्राथमिक जमा के आधार पर निर्मित करते हैं। प्रत्येक बैंक यह अनुभव करता है कि कुछ प्राथमिक जमाएँ उसके पास जमा होती हैं और कुछ उसके पास से निकलती रहती हैं। सामान्य अनुभव के आधार पर एक नियम यह भी माना जाता है कि जितने जमा कर्ता अपनी पूँजी बैंक के पास जमा करवाते हैं वह सारी की सारी पूँजी एक साथ नहीं निकालते अथवा कुल प्राथमिक जमाओं के एक भाग को ही बैंक से एक समय निकाला जाता है। बैंक नकदी रखने का कार्य करता है जिससे कि वह माँगने पर जमा धनराशि का भुगतान कर सके इस प्रकार नकदी रखने का Customary cash reserve ratio जो कि

10 प्रतिशत या फिर कुछ और हो सकता है। Customary cash reserve ratio भी बहुत से तत्वों पर निर्भर करता है। बैंक इस नकदी को आंशिक रूप से तरल मुद्रा तथा आंशिक रूप से केन्द्रीय बैंक के पास रखी जाने वाली नकदी का रखता है।

ऋण प्रदान करने जो व्युत्पन्न जमा बैंक द्वारा होती है उनका भुगतान को ऋण लेने वाला बैंक पर चैक लिखकर निकाल सकता है परन्तु जिनको यह धनराशि प्राप्त होती है वह दूसरे बैंकों में नकदी या चैक जमा करा सकते हैं। दूसरे बैंक के पास इस प्रकार नकदी या चैक जमा होने से उसकी व्युत्पन्न जमा बढ़ जाती है और उसके आधार पर वह अधिक साख मुद्रा का निर्माण कर सकते है। यह चैक किसी अन्य बैंक के पास चला जाता है और फिर यह उसकी प्राथमिक जमा का रूप धारण कर लेता है और यह प्रक्रिया उस समय तक चलता रहती है जब तक कि सारे की कुल मात्रा अथवा व्युत्पन्न जमाएं सभी बैंकों द्वारा पहली वाली बैंक की प्राथमिक धनराशि से कई गुना बढ़ जाती है।

हम व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली में साख निर्माण प्रक्रिया को एक उदाहरण द्वारा समझा सकते हैं इस उदाहरण द्वारा हमने यह भी माना है कि बैंक अपनी जमा का 10 प्रतिशत नकदी के रूप में रखता है। माना कि एक व्यक्ति बैंक A के पास 10 000 रुपये जमा करता है तो बैंक A का तुलन पत्र (Balance sheet) निम्न प्रकार होगी

बैंक 'A' तुलन पत्र-1 (Balance Sheet)

दयताएँ (Liabilities)		परिसम्पत्तियाँ (Assets)	
माग जमाएँ (प्राथमिक)	10 000 रु०	नकद जमा	10 000 रु०
		आवश्यक कोष	1,000 रु०
		अतिरिक्त कोष	9 000 रु०

बैंक A के पास 9000 रु० की अतिरिक्त राशि है। बैंक 1000 रु० नकद कोष के रूप में रखता है तथा 9000 रु० के बराबर की व्युत्पन्न जमा (Derivative deposits) का निर्माण कर सकता है। बैंक का तुलन-पत्र परिवर्तित होकर निम्न प्रकार से होगा—

बैंक 'A' तुलन-पत्र 2

दयताएँ (Liabilities)		परिसम्पत्तियाँ (Assets)	
माँग जमाएँ (प्राथमिक)	10 000 रु०	नकद कोष	10,000 रु०
माँग जमाएँ (व्युत्पन्न)	9 000 रु०	ऋण	9 000 रु०

माना कि बैंक 'A' से उधार लेने वाला X व्यक्ति 9000 रु० का चेक मिस्टर Y के लिए देता है और Y इस चेक को बैंक B में जमा कर देता है तो बैंक B का तुलन-पत्र इस प्रकार होगा —

बैंक 'B' तुलन पत्र-1

देयताएँ (Liabilities)		परिसम्पत्तियाँ (Assets)	
माँग जमाएँ (प्राथमिक) (Deposits Primary)	9 000 रु०	नकद कोष (Cash Reserve)	9 000 रु०
		नकदी जिसे रखना जरूरी है (Required Reserve)	900 रु०
		अतिरिक्त कोष (Excess Reserve)	8 100 रु०

उपर्युक्त तुलन-पत्र दर्शाता है कि बैंक B के पास अतिरिक्त कोष 8100 रु० के है और B बैंक 8100 रु० की व्युत्पन्न जमाओं का निर्माण कर सकता है। जब बैंक B अपने ऋणों का विस्तार करता है तथा अपने अतिरिक्त कोष के बराबर जमा कर लेता है तो इसका तुलन पत्र निम्न प्रकार से होगा —

बैंक 'B' तुलन पत्र 2

देयताएँ (Liabilities)		परिसम्पत्तियाँ (Assets)	
माँग जमाएँ (प्राथमिक)	9 000 रु०	नकद कोष	9 000 रु०
माँग जमाएँ (व्युत्पन्न)	8 100 रु०	ऋण	8,100 रु०

बैंक B 8,100 रु० का ऋण जब किसी व्यक्ति को देता है और यह व्यक्ति मिस्टर C इस 8,100 रु० ऋण राशि का भुगतान किसी अन्य व्यक्ति को करता है जो बैंक C में अपने खाते में जमा करा देता है तो बैंक C का तुलन पत्र निम्न प्रकार से होगा—

बैंक C तुलन-पत्र

देयताएँ (Liabilities)		परिसम्पत्तियाँ (Assets)	
माँग जमाएँ (प्राथमिक)	8 100	नकद कोष	8 100 रु०
		नकदी जिसे रखना जरूरी है	810 रु०
		अतिरिक्त कोष	7 290 रु०

उपर्युक्त तुलन-पत्र दर्शाता है कि बैंक C के पास अतिरिक्त कोष 7,290 रु० के बराबर है अर्थात् बैंक C 7,290 रु० के बराबर व्युत्पन्न जमा का सृजन कर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक बार बैंक की देयताओं में वृद्धि होती है परन्तु यह वृद्धि घटती हुई दर में होती है। साख सृजन की प्रक्रिया उस समय तक कार्य करती रहेगी जब तक कि प्रथम बैंक का मौलिक अतिरिक्त कोष 1 000 रुपए का विभिन्न बैंकों का नहीं हो जाता और यह बैंकों के अतिरिक्त कोष (excess reserve) नहीं हो जाते। साख सृजन की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कुल सभी देयताओं का योग प्राथमिक जमा के 10 गुना होने तक यह प्रक्रिया चालू रहेगी। दूसरे शब्दों में हम यह सकते हैं कि साख सृजन प्रक्रिया के अनुसार अर्थव्यवस्था में यदि एक बैंकिंग प्रणाली के प्रचलित होने पर एक बैंक में प्राथमिक मांग जमा की 10 गुना राशि के बराबर साख मुद्रा की मात्रा अथवा व्युत्पन्न जमा हो जाती है। इसी साख गुणक विस्तार को आरम्भिक उदाहरण के आधार पर इस प्रकार समझाया जा सकता है —

साख का गुणक विस्तार (Multiple Expansion of Credit)

1	2	3	4
बैंक	देयताएं (प्राथमिक जमाएं) रुपयों में	नकद कोष जो जरूरी होते हैं (रुपयों में)	अग्रिम (व्युत्पन्न जमा रुपयों में)
A	10 000	1 000	9 000
B	9 000	900	8 100
C	8 100	810	7 290
D	7 290	729	6 561
E	6 561	656 10	5 904 90
			.
Total	1 00 000	10 000	90 000

बीजगणितीय रूप में स्तम्भ संख्या (2) = 10 000 रुपए + 10 000 रुपए $(9/10)$ + 10 000 रुपए $(9/10)^2$ + 10 000 रुपए $(9/10)^3$ + ... + 10 000 $(9/10)$ यह गुणोत्तर प्रोग्रेशन का योग (sum of Geometric progression) होता है $a+ar+ar^2+ar^3+ \dots ar^n$ जहां n = ∞ अर्थात् अनन्त (infinity) अथवा $a \cdot 1/1-r$ इसमें उपर्युक्त उदाहरण में $r=9/10$ अर्थात् 90 प्रतिशत तथा $a=10,000$। इन मूल्यों को इस फार्मूले में रखने पर हम यह पाते हैं —

$$10\ 000\left(\frac{1}{1-9/10}\right)=10\ 000\ \frac{1}{1/10}$$
$$=10\ 000\times 10$$
$$=1\ 00,000 \text{ रुपए}$$

हम यह देखते हैं कि साख सृजन प्रक्रिया का अंत उस समय होता है जब किसी बैंक के पास कोई अतिरिक्त कोष (excess reserve) उधार देने को नहीं होता। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि साख-सृजन अथवा व्युत्पन्न जमा प्रक्रिया उस समय तक चलती रहती है जब तक कि बैंकों के अतिरिक्त कोष का वितरण दूसरे बैंकों की नकद कोष अनुपात (reserve ratio) के आधार पर होता रहता है।

इस जमा गुणक विस्तार प्रक्रिया में प्रमुख रूप में तीन पक्ष कार्य करते हैं (i) वे लोग जो अपने धन को बैंकों में जमा करते हैं (ii) बैंक जो कि अपनी जमा का एक भाग

ही नकदी के रूप में रखता है (iii) उधार लेने वाले (सार्वजनिक अथवा निजी) व्यक्ति जिनसे बैंकों को अपनी परिसम्पत्तियों को अर्जित करने में सहायता मिलती है।

बैंक की साख निर्माण शक्ति की सीमाएं (Limitations on Bank's Power of Credit Creation)

वर्तमान समय में बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत साख निर्माण व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जाता है परन्तु बैंकों की यह साख निर्माण शक्ति असीमित नहीं होती। प्रत्येक बैंक किसी दी हुई सीमा तक ही साख निर्माण कर सकती है। बैंकों की साख निर्माण शक्ति कई बातों पर निर्भर करेगी यह बातें निम्न प्रकार से हैं—

(1) **नकदी की मात्रा**—बैंकों की साख निर्माण की सीमा बैंकों के पास उपलब्ध प्राथमिक जमाओं (Primary deposits) की मात्रा पर निर्भर करेगी। प्राथमिक जमाएं ही बैंकों को नकदी प्रदान करके बैंकों के साख निर्माण का आधार होती हैं। प्राथमिक जमाओं की मात्रा जितनी अधिक होगी बैंकों की साख निर्माण शक्ति उतनी ही अधिक होगी। क्योंकि उतने ही अधिक अतिरिक्त कोष साख निर्माण के लिए उपलब्ध होंगे। प्रो० कीन्स ने प्राथमिक जमाओं के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस दर तक कोई बैंक ऋण देकर बिना कठिनाई के साख मुद्रा का निर्माण कर सकती है वह दर जमाकर्त्ताओं से नकदी के रूप में प्राप्त प्राथमिक जमाओं की दर पर निर्भर होती है।[1] बैंक के पास नकदी की मात्रा कई बातों पर निर्भर करती है जैसे देश में कुल नकद मुद्रा की मात्रा कितनी है लोगों में बैंकिंग आदत कैसी है तथा ब्याज की दर कितनी है आदि-आदि।

(2) **केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति**—साख मुद्रा के निर्माण की सीमा देश के केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति पर भी निर्भर करती है। देश के अन्य सदस्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक की नीति तथा आदेशों को मानना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक देश में साख नियन्त्रण कई तरीकों से कर सकता है जैसे बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियाएं, आवश्यक जमा सुरक्षित कोषानुपात, मार्जिन मांग सम्बन्धी सुधारों की कार्यवाही तथा प्रत्यक्ष कार्यवाही आदि आदि। वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक विभिन्न देशों में साख नियन्त्रण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। देश की बैंकिंग व्यवस्था केन्द्रीय बैंक नियन्त्रण एवं मार्ग निर्देशन पर काम करती है।

(3) **नकद कोष अनुपात**—जैसा कि हम जानते हैं कि साख निर्माण नकद कोषानुपात की मात्रा पर निर्भर करता है। नकद कोष जितने अधिक रखने का चलन होगा तो अतिरिक्त कोषों की मात्रा कम रहेगी और इसस साख निर्माण भी कम होगा इसके विपरीत स्थिति में साख निर्माण अधिक होगा। नकद कोष अनुपात कई बातों पर निर्भर करता जैसे देश में बैंकिंग कानून कैसे हैं लोगों की बैंकों में जमा तथा निकासी की आदतें कैसी हैं आवश्यकता के समय बैंकों की आपसी लेन देन की व्यवस्था कैसी है आदि-आदि।

(4) **अन्य सदस्य बैंकों का व्यवहार**—व्यक्तिगत बैंक की साख निर्माण शक्ति इस बात पर भी निर्भर करेगी कि अर्थव्यवस्था में अन्य बैंक किस सीमा तक साख निर्माण कर रही है। यदि कोई बैंक अन्य बैंकों की परवाह न करके अन्य बैंकों की तुलना में अधिक साख निर्माण कर रही है तो शीघ्र ही उस बैंक की समस्त नकदी समाप्त हो जाएगी और बैंक दिवालिया हो जाएगी क्योंकि बैंक के ऋणियों द्वारा अन्य व्यक्तियों को दिए गए चेक अन्य बैंकों को प्राप्त होंगे और इस कारण बैंक विशेष को उन सभी चेकों का बैंकिंग प्रणाली की अन्य सदस्य बैंकों को नकदी देकर भुगतान करना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि

---

1 'J M Keynes

बैंक विशेष अन्य साथी बैंकों की तुलना में कम मात्रा में साख मुद्रा का निर्माण करती है तो शीघ्र ही उसे इस बात का अनुभव हो जायगा कि उसकी चालू नकदी में वृद्धि हो रही है जिसे ऋणियों को ब्याज पर उधार देकर बैंक को लाभ प्राप्त करना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रो० हाम के विचार उल्लेखनीय हैं वे कहते हैं कि यदि एक व्यक्तिगत बैंक सामान्य साख-विस्तार की दर के साथ अपने को नहीं रख पाता तो यह बैंक नकदी अधिक प्राप्त करेगी और इसके पास इस प्रकार अतिरिक्त कोषों का संचय होगा जिसको कि यह ऋण के रूप में देने को तैयार होगा। यदि एक व्यक्तिगत बैंक अन्य बैंकों की तुलना में अधिक ऋण विस्तार या विनियोग की नीति अपनाता है तो इसकी नकदी कम होगी और यह आवश्यक कोषों को रखने की शर्त पूरी नहीं कर सकता और इसे अपने ऋणों तथा विनियोगों को कम करना होगा।[1]

(5) **बैंकिंग आदतें तथा बैंकिंग प्रणाली** — लोगों की बैंकिंग आदतों तथा बैंकिंग प्रणाली के विकास का सीधा सम्बन्ध साख मुद्रा की मात्रा से होता है और साख की मात्रा के निर्धारण में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यदि लोग सौदों का निपटारा नकदी द्वारा करना पसन्द करते और साख मुद्रा अथवा चेकों द्वारा भुगतान नहीं करते तो बैंकों के लिए गुणक साख विस्तार करना सम्भव नहीं होगा। लोगों में बैंकिंग आदतें तभी सक्रिय होती हैं जहाँ देश में बैंकिंग प्रणाली का विस्तार सुदृढ़ एवं व्यवस्थित रूप में हो।

(6) **रखी जाने वाली जमानत की पूर्ति** — बैंक की ऋण प्रदान करने की शक्ति इन ऋणों के लिए रखी जाने वाली जमानतों के स्वरूप पर निर्भर करती है। बैंक जो भी ऋण देता है उसके पीछे जमानत के रूप में सम्पत्ति जैसे बिल, अंश तथा स्टाक आदि (bills shares and stocks) को अपने पास रखवाता है। इसी आधार पर प्रो० क्राउथर का कहना है कि बैंक मुद्रा का सृजन नहीं करते यह तो अन्य प्रकार की सम्पत्ति को मुद्रा में परिवर्तित करते हैं।[2] जब बैंक साख का सृजन करता है तो वास्तव में यह अतरल जमानतों के धारकों को तरलता प्रदान करता है। बैंकों की साख निर्माण शक्ति उधार लेने वालों द्वारा रखी जाने वाली परिसम्पत्तियों तथा जमानतों के आकार एवं प्रकृति पर निर्भर करती है। यदि जमानत के रूप में अनुमोदित प्रतिभूतियाँ नहीं रखी गई हैं तो बैंक द्वारा साख सृजित करने में जोखिम अधिक होगा।

साख सृजन सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory of Credit Creation)

कुछ अर्थशास्त्रियों की ऐसी धारणा है कि बैंक साख या मुद्रा का सृजन नहीं करते। इन अर्थशास्त्रियों में प्रमुख रूप से डॉ० वाल्टर लीफ तथा डॉ० एडविन कैनन का नाम आता है। इन विद्वानों का कहना है कि यह सोचना त्रुटिपूर्ण है कि साख सृजन का प्रारम्भ बैंक द्वारा होता है जबकि वास्तविकता यह है कि साख सृजन का प्रारम्भ जमाकर्ताओं

1 If an individual bank fails to keep up with the general rate of credit expansion it will receive more cash than it loses and it will therefore, accumulate excess reserves which it will tend to loan out If an individual bank expands loans or investments more rapidly than other banks it will lose cash may not be able to fulfil the reserve requirements and will tend to reduce its loans or investments —G N Halm

2 'The bank does not create money out of thin air, it transmutes other forms of wealth into money. —G Crowther

द्वारा होता है जिनके धन को बैंक ऋण पर उठाते हैं। बैंक उस राशि से अधिक राशि उधार नहीं दे सकते जितनी कि जमाकर्त्ताओं ने जमा की हुई है। डॉ० वाल्टर लीफ एक व्यावहारिक बैंकर थे और वे कहते थे कि जब बैंक किसी जमा का निर्माण करता है तो वह जमा धनराशि बैंक से कुछ समय बाद निकाल ली जाती है इस प्रकार बैंक जमा धनराशि से अधिक उधार नहीं दे सकता। वास्तविकता यह है कि बैंक साख विस्तारण नहीं कर सकते।

डॉ० एडविन केनन (Dr Edwin Cannan) ने अपनी An Economist's Protest में बैंकिंग प्रणाली की तुलना रेलवे स्टेशन व सामान रखने वाले स्थान (Cloak Room) से की है। वे कहते हैं माना कि एक रात्रिक्लब में 100 सदस्य नियमित रूप से आते हैं और एक छाता लाते हैं जिसे कि क्लब के काउन्टर पर जमा कर देते हैं। काउन्टर क्लर्क अपने अनुभव के आधार पर यह जानता है कि एक घण्टे में दस सदस्य ही छाते की माँग करते हैं और 90 छातों को वह रात्रि भर के लिए किराए पर उठा देता है और इससे उसे कुछ मुद्रा प्राप्त होती है। तो इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि काउन्टर पर बैठे व्यक्ति ने 90 छातों का निर्माण कर दिया है? ऐसा कदापि नहीं हुआ है। इसी प्रकार बैंक भी यह जानते हुए कि सभी जमाकर्त्ता एक साथ अपनी जमा धनराशि को नहीं निकालते हैं इस जमा राशि का कुछ भाग उधार पर उठा देता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बैंक ने साख का निर्माण कर लिया है। सामान घर का चपरासी उन छातों से अधिक छाते उधार पर नहीं दे सकता जितने कि उसके पास जमा कराये गए थे और एक लापरवाह बैंकर भी अपने पास की धनराशि तथा दूसरे लोगों की धनराशि से अधिक नहीं उधार दे सकता है।[1] इस प्रकार साख निर्माण सही तरीके से उस प्रणाली की व्याख्या नहीं है जिसके द्वारा बैंक मुद्रा की उत्पत्ति होती है।

प्रो० क्राउथर ने प्रो० केनन के उपयुक्त तर्क के व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दो प्रकार के उत्तर दिए हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह बात एक बैंकर की दृष्टि से सही हो सकती है परन्तु यह उस समय सत्य नहीं होती जब कि हम इसे सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली के सन्दर्भ में देखें। जब एक बैंक साख का निर्माण करता है तो यह साख दूसरे बैंक में जाता है तो यह बैंक ऋणों को देकर मुद्रा निर्माण का कार्य करती है। इस प्रक्रिया में निर्मित मुद्रा का एक भाग प्रथम बैंक के पास वापस आ जाएगा जो कि इस प्रकार अपना कुछ नकदी को वापस प्राप्त कर लेगा। परन्तु यदि इसके अतिरिक्त कोष मौलिक रूप से बैंकिंग प्रणाली से कहीं बाहर से आये हैं तो इसे दूसरे बैंक के नकद कोषों का विस्तार करना चाहिए और जब तक बैंकिंग प्रणाली में नई जमा के गुणक रूप में कहीं इसका निर्माण नहीं होता तो इन बैंकों की नकद जमा अनुपात औसत रूप से इनका सामान्य संख्या से अधिक होगा। बदली हुई जमा तथा नकदी वापसी का क्रम उस समय तक चलना चाहिए जब तक कि अतिरिक्त गुणक धनराशि का निर्माण नहीं हो जाता।

प्रो० क्राउथर कहते हैं कि इसका व्यावहारिक पक्ष यह है कि बैंक जमा का आकार हम सभी समझ में आएगा जबकि इनकी तुलना हम चलन में मुद्रा की मात्रा तथा व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों से करें। उन्होंने उदाहरण के रूप में नवम्बर 1954 में ग्रेट ब्रिटेन के

---

1 The most abondoned cloak room attendant cannot lend out more umbrellas than have been entrusted to him and the most reckless banker cannot lend out more money then he has of his own plus what he has of other peoples

—*Edwin Cannan*

व्यापारिक बैंकों की शुद्ध जमा पूंजी की चर्चा की जो उस समय 6500 मिलियन पौंड थी। जबकि चलन में मुद्रा राशि उस समय 1647 7 मिलियन पौंड तथा बैंकों के नकद कोषों की राशि 237 मिलि पौंड थी। इस प्रकार यदि बैंकों ने साख निर्माण नहीं किया तो फिर यह 4615 मिलि पौंड की अतिरिक्त धनराशि यदि साख निर्माण से प्राप्त नहीं हुई तो यह कहां से आई। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बैंक कई गुना अनुपात में साख निर्माण करते हैं।

परीक्षा-प्रश्न

1 व्यापारिक बैंकों के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए।

(Discuss the main functions of the Commercial Banks)

2 बैंक आधुनिक व्यापार एवं उद्योग की आधारशिला है।' व्याख्या कीजिए।

(Bank is the foundation stone of modern Commerce and Industry Explain)

[संकेत—बैंकों का महत्व बैंक तथा आर्थिक विकास, बैंक व्यापार तथा उद्योग के लिए आवश्यक होते हैं तथा औद्योगिक विकास में बैंकों की भूमिका दीजिए। अन्त में बताइए कि किसी देश में व्यापार एवं उद्योग बिना बैंकों की सहायता से पनप नहीं सकते। अन्त में कहिए कि उपर्युक्त कथन सत्य ही प्रतीत होता है।]

3 एक व्यापारिक बैंक द्वारा साख-निर्माण कार्य की व्याख्या कीजिए।

(Discuss the credit creation function of a Commercial Bank)

4 साख निर्माण से क्या आशय है? व्यापारिक बैंक की साख निर्माण शक्ति की सीमाएँ क्या हैं?

(What is Credit creation ? What are the limitations on Bank's Power of Credit creation ?)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही तथा कौन गलत है—

(i) आर्थिक विकास तथा बैंक एक दूसरे पर पूर्णतया निर्भर है।

(ii) व्यापारिक बैंक साख-निर्माता होते हैं।

(iii) बैंकों की साख निर्माण शक्ति असीमित होती है।

(iv) व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते हैं।

(v) व्यापारिक बैंकों का उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) सही है। (iii) गलत है। (iv) गलत है। (v) सही है।

> A central bank is a bank that the government sets up to handle its transactions, to co-ordinate and control the commercial banks and most important to help and control the nation's money and credit conditions.
>
> — Samuelson

अध्याय 18

केन्द्रीय बैंक एवं उसके कार्य

(CENTRAL BANK AND ITS FUNCTIONS)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)

केन्द्रीय बैंकिंग का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से केन्द्रीय बैंकिंग प्रणाली के विकास में काफी सहायता मिली है। विश्व का सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंक स्वीडन का रिक्स बैंक था जिसकी स्थापना सन् 1656 में निजी पूँजी द्वारा की गई थी। ठीक 12 वर्ष बाद अर्थात् सन 1668 में इसकी समस्त पूँजी केन्द्रीय नियंत्रण में चली गई। इसे प्रारम्भ में नोट निर्गमन का अधिकार मिला। सन् 1897 में कानूनी रूप से इसे नोट निर्गमित करने का अधिकार मिल गया था। समय की दृष्टि से हम स्वीडन के रिक्स बैंक को सबसे पहला केन्द्रीय बैंक मानते हैं परन्तु एक आदर्श केन्द्रीय बैंक के रूप में बैंक आफ इंग्लैण्ड ने सबसे पहले कार्य किया जिसकी स्थापना सन 1694 में हुई थी। इसे केन्द्रीय बैंकों की माता (Mother of the Central Banks) कहा जाता है। ऐसा कहने का मुख्य कारण यह है कि बैंक आफ इंग्लैण्ड विश्व के अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों का मार्ग दर्शक रहा है और उसके द्वारा पद्धतियों एवं परम्पराओं की नींव डाली उनका दुनिया के अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों ने पालन किया। सन् 1826 में बैंक आफ इंग्लैण्ड को देश के अन्य भागों में अपनी शाखाएँ खोलने का अधिकार प्राप्त हो गया। सन 1833 में इसके द्वारा निर्गमित नोटों को कानूनी मुद्रा (Legal Tender Money) घोषित कर दिया गया था। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड के साथ साथ वहाँ संयुक्त पूँजी बैंकों का भी नोट निर्गमन का अधिकार मिला हुआ था यदि वे लन्दन के चारों ओर 65 मील क्षेत्र से बाहर बसे हों। नोट निर्गमन के आंशिक एकाधिकार एवं सरकारी प्रतिनिधि के रूप में उसका बढ़ाते हुए कार्यों से उसे महान एवं विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया। उसके इन कार्यों से प्रभावित होकर इंग्लैण्ड के अन्य संयुक्त पूँजी वाले बैंकों ने बैंक ऑफ इंग्लैण्ड में अपने खाते खोलने प्रारम्भ कर दिए। सन 1847, 1857 तथा 1866 के संकटों का सामना इस बैंक ने सफलतापूर्वक किया जिससे प्रभावित होकर विश्व के अन्य भागों में केन्द्रीय बैंक की स्थापना को बल मिला।

सन् 1800 में बैंक ऑफ फ्रांस 1814 में बैंक आफ नीदरलैण्ड 1817 में बैंक आफ आस्ट्रिया तथा बैंक आफ नार्वे 1818 में नेशनल बैंक आफ डेनमार्क 1850 नेशनल बैंक आफ बेल्जियम 1856 में बैंक आफ स्पेन 1860 में बैंक ऑफ रशिया में 1875 में रिश बैंक आफ जर्मनी 1882 में बैंक आफ जापान आदि ने केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य प्रारम्भ कर दिया।

केन्द्रीय बैंक की परिभाषा (Definition of a Central Bank)

केन्द्रीय बैंक की एक सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। केन्द्रीय बैंक की अधिकांश परिभाषाएँ केन्द्रीय बैंक के कार्यों पर आधारित है। समय-समय पर केन्द्रीय बैंक के कार्यों तथा उसके अधिकार क्षेत्र मे परिवर्तन हुआ है इसी को ध्यान मे रखकर विभिन्न विद्वानों ने केन्द्रीय बैंक की परिभाषाएँ दी हैं। प्रो० किश तथा एल्किन ने केन्द्रीय बैंक की परिभाषा देते हुए कहा है कि "केन्द्रीय बैंक वह बैंक होती है जिसका प्रमुख कार्य मुद्रा मान की स्थिरता को बनाए रखना होता है।"[1]

प्रो० वीरा स्मिथ के अनुसार "केन्द्रीय बैंकिंग का अभिप्राय उस बैंकिंग प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत किसी एक बैंक को नोट जारी करने का पूर्ण एवं अवशिष्ट अधिकार प्राप्त होता है।"[2] प्रो० आर० पी० कैण्ट ने केन्द्रीय बैंक की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी है "केन्द्रीय बैंक वह संस्था होती है जिसका कर्त्तव्य जनता के सामान्य कल्याण के हित में मुद्रा की मात्रा का विस्तार एवं संकुचन करना होता है।"[3] प्रो० आर० जी० हाट्रे के अनुसार, 'केन्द्रीय बैंक, बैंकों की बैंक होती है तथा इसकी प्रमुख विशेषता यह होती है कि बैंकों के लिए अंतिम ऋणदाता का कार्य करती है।"[4] प्रो० शॉ के अनुसार "केन्द्रीय बैंक वह बैंक होती है जो देश में साख पर नियंत्रण रखती है।"

• नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री सेम्युलसन के शब्दों मे 'केन्द्रीय बैंक एक ऐसा बैंक है जिसे देश की सरकार अपने लेन-देन के कार्य करने, व्यापारिक बैंकों का नियन्त्रण करने तथा राष्ट्र की मुद्रा की पूर्ति एवं साख व्यवस्था के नियन्त्रण में सहयोग देने के लिए स्थापित की जाती है।'[5]

प्रो० डी० कॉक (Prof M H De Kock) के मतानुसार "केन्द्रीय बैंक उस बैंक को कहते हैं जो देश की मौद्रिक तथा बैंकिंग प्रणाली का शिखर होती है तथा जो सम्पूर्ण देश के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर कार्य करती है। केन्द्रीय बैंक का जनता से प्रत्यक्ष रूप से केवल इस प्रकार के सम्बन्ध रखने चाहिए जो इसकी मौद्रिक तथा बैंकिंग नीति की सफलता के लिए आवश्यक हों। इसको जनता से जमाओं के रूप में नकदी को स्वीकार नहीं करना चाहिए तथा न ही जनता को प्रत्यक्ष रूप से ऋण इत्यादि प्रदान करने चाहिए। यह सब कार्य केन्द्रीय बैंक को देश की व्यापारिक बैंकिंग प्रणाली के द्वारा सम्पन्न कराने चाहिए।"[6]

---

1 "A central bank is that bank the essential duty of which is the maintenance of stability of the monetary standard"

—*Kisch & Elkin*

2 'The primary definition of central banking is a banking system in which a single bank has either a complete or residuary monopoly of note issue'

—*Vera Smith*

3 The central bank is an institution charged with the responsibility of managing the expansion and contraction of the volume of money in the interest of the general public welfare"

—*R P Kent*

4 R G Howtrey

5. 'A Central bank is a bank that the goverment sets up to handle its transactions to co-ordinate and control the commercial bank and most important to, help and control the nation's money and credit conditions"

—*P. A Samuelson*

6. M H. De Kock :

केन्द्रीय बैंक की उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने से हमें केन्द्रीय बैंक के स्वभाव एवं स्वरूप के बारे में जानकारी हो जाती है। आधुनिक अर्थशास्त्री केन्द्रीय बैंक द्वारा सम्पादित कार्यों को आधार मानकर केन्द्रीय बैंक की परिभाषा करते हैं। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग प्रणाली का शिखर होता है। इसका देश के सभी व्यापारिक बैंकों पर नियन्त्रण होता है। यह सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती है, नोटों के चलन का एक मात्र अधिकार रखते हुए देश की मौद्रिक आवश्यकताओं के अनुसार साख मुद्रा का नियमन एवं नियन्त्रण करती है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य (Functions of a Central Bank)

प्रो० डी काक के अनुसार केन्द्रीय बैंक के कार्य निम्नलिखित होने चाहिए—

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार

(2) सरकारी बैंकर एजेन्ट तथा सलाहकार

(3) सदस्य बैंकों की नकदी धनराशि का संरक्षण

(4) राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का संरक्षक

(5) अंतिम ऋणदाता

(6) सदस्य बैंकों का समाशोधन गृह

(7) व्यापारिक तथा मौद्रिक नीति की आवश्यकतानुसार साख मुद्रा का नियन्त्रण करना।

प्रो० डी० काक ने केन्द्रीय बैंक के कार्यों की जो भूमिका प्रस्तुत की थी उसी के आधार पर बाद में केन्द्रीय बैंक के कार्य बताए जाते हैं। इन कार्यों की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है—

1 नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of Note Issue)—केन्द्रीय बैंक की स्थापना से ही अधिकांश देशों में पत्र मुद्रा अथवा नोटों को निर्गमित करने का एक मात्र अधिकार (monopoly) उस देश के केन्द्रीय बैंक को मिला हुआ है। प्रो० डी० काक (Prof De Kock) कहते हैं कि केन्द्रीय बैंक के नोट निर्गमन के अधिकार के कारण केन्द्रीय बैंकों को 20 वीं शताब्दी में नोट निर्गमन बैंक (Bank of Note Issue) कहा जाता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमन के कई लाभ तथा विशेषताएं हैं

(i) एकरूपता—जब केन्द्रीय बैंक नोट छापता है तो उनमें एकरूपता का गुण पाया जाता है। जिससे धोखा धड़ी की सम्भावनाएं कम हो जाती हैं।

(ii) जनता का विश्वास—चूंकि केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंक होता है और नोट निर्गमन वह किसी न किसी सिद्धान्त एवं देश की आवश्यकता पड़ने पर ही इन्हें छापता है इसलिए जनता का विश्वास नोट निर्गमन में निहित रहता है।

(iii) साख निर्माण पर नियन्त्रण—चूंकि केन्द्रीय बैंक मुद्रा निर्गमन का एकमात्र अधिकारी होता है तो साख मुद्रा निर्माण पर नियन्त्रण करने की समस्या स्वयं ही हल हो जाती है। साख मुद्रा में वृद्धि या कमी स्वयं सरकार द्वारा मुद्रा निकासी पर निर्भर करता है और साख मुद्रा का आधार स्वयं कानूनी मुद्रा होता है।

(iv) मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य में स्थिरता—केन्द्रीय बैंक मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य में स्थिरता बनाए रखती है। यदि मुद्रा निर्गमन का कार्य व्यापारिक बैंकों का होता तो मुद्रा के मूल्य में स्थिरता बनाए रखना सम्भव नहीं था।

(v) स्थिति सापेक्षता—केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट निर्गमन के एकाधिकार से देश की मुद्रा प्रणाली स्थिति में सापेक्षता का गुण उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण यह है कि

केन्द्रीय बैंक मुद्रा की मात्रा में देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन करने में सक्षम होती है।

(vi) सरकार को लाभ नोट निर्गमित करने की एकाधिकारी संस्था केन्द्रीय बैंक होने के नाते जो लाभ प्राप्त होता है उसको सरकार को हस्तांतरित कर दिया जाता है।

2 सरकारी बैंकर एजेण्ट एवं सलाहकार (Government's Banker Agent and Advisor) केन्द्रीय बैंक का दूसरा मुख्य कार्य यह है कि यह सरकार के लिए बैंकर का कार्य करता है। अभिकर्ता तथा बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकारी नकदी शेष का संरक्षण करता है तथा विभिन्न सरकारी नकद मात्रा को रखता है। आवश्यकता पड़ने पर सरकार को अल्पकालीन ऋण भी देती है। यह सभी प्रकार के आर्थिक कार्यों में सरकार को सलाह देती है। केन्द्रीय बैंक सरकार की ओर से विदेशी मुद्राओं का क्रय विक्रय भी करता है तथा सरकार के द्वारा बैंक के माध्यम से ही जाता से ऋण लेती है। स्मरण रहे कि यह सभी सेवायें केन्द्रीय बैंक सरकार को निःशुल्क प्रदान करता है।

3 बैंकों का बैंक (Banker's Bank)—वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि यह देश में अन्य बैंकों के लिए बैंकर का कार्य करता है। केन्द्रीय बैंक का अन्य बैंकों के साथ वही सम्बन्ध होता है जो अन्य बैंकों का अपने ग्राहकों के साथ होता है। यह उनकी नकदी का संरक्षण करती है उनको ऋण प्रदान करती है तथा समय-समय पर आवश्यकता पड़ने पर उनको वित्तीय तथा आर्थिक मामलों में सलाह देता है तथा केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के बीच समाशोधन गृह (Clearing House) का कार्य भी करती है जिससे नकद मुद्रा के उपयोग में बचत होती है। व्यापारिक तथा अन्य बैंक को अपनी कुल जमाओं का निश्चित प्रतिशत न्यूनतम बैंक आरक्षित अनुपात के रूप में केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखना पड़ता है जिसके कारण नकदी का केन्द्रीयकरण हो जाता है इससे यह लाभ होता है कि देश का साख मुद्रा प्रणाली लोचदार हो जाती है तथा साख मुद्रा नियन्त्रण की समस्या भी हल हो जाती है। इसके अतिरिक्त नकद आरक्षण केन्द्रीय बैंक के पास हो जाने से किसी भी देश की सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली शक्तिशाली बन जाती है तथा नकद आरक्षणों का संकटकाल में इष्टतम उपयोग किया जा सकता है।

4 राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का संरक्षक (Custodian of the Nations Reserve of Foreign Currency) वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक राष्ट्र की सभी प्रकार की विदेशी मुद्रा के संचय का संरक्षण करती है। यह केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है क्योंकि देश की मुद्रा इकाई के बाह्य मूल्य को स्थिर रखना केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण कार्य है। इसको सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं के आरक्षण संचित करती है। उदाहरणार्थ यदि किसी देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगता है तो बैंक उस देश की मुद्रा को बेचने लगता है फलस्वरूप उस देश की मुद्रा की कीमत गिर जाता है। इसी प्रकार यदि किसी देश की मुद्रा की कीमत गिर जाती है तो उसे खरीदना प्रारम्भ कर देती है फलस्वरूप कीमत बढ़ने लगती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा की कीमतों में स्थायित्व बनाये रखता है।

5 सदस्य बैंकों का समाशोधन गृह (Clearing House of Member Banks)—वर्तमान समय में सम्बन्धित बैंकों को समाशोधनगृह अथवा निकासी गृह (Clearing house) की सुविधा प्रदान करना भी केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य बन चुका है। यह कार्य बैंक ऑफ इंग्लैण्ड द्वारा 1854 में सम्पन्न किया गया था। कुछ समय पश्चात अन्य केन्द्रीय बैंक भी इस कार्य को करने लग गयी। शा (Shaw) विलिस (Willis) तथा जान्सी (Jauncey) के विचार में सदस्य बैंकों के मध्य समाशोधन गृह द्वारा सदस्य बैंकों के बीच परस्पर व्यवसाय सम्बन्धी भुगतानों को सम्भव बनाना केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य है। इसमें केन्द्रीय बैंक के पास समस्त सम्बन्धित बैंकों के खाते होते हैं। केन्द्रीय बैंक के इस

कार्य के द्वारा प्रत्येक बैंक को अन्य बैंकों के साथ अलग-अलग लेन देन को नकदी के द्वारा निपटाने की समस्या समाप्त हो जाती है और इस प्रकार देश की समुचित बैंकिंग प्रणाली को काफी सुविधा होती है।

6 अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort)—वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को संकटकाल में वित्तीय सहायता प्रदान करके अन्तिम ऋणदाता का कार्य भी करती है। जब किसी बैंक को संकट का सामना करना पड़ जाता है तब केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता के रूप में उस बैंक को ऋण देकर दिवालिया होने से बचाती है। इस प्रकार से अन्तिम ऋणदाता के रूप में केन्द्रीय बैंक संकटकाल में देश की समस्त बैंकों की सहायक बनकर उनमें विश्वास उत्पन्न करती है। बैजहाट (Bagehot) ने 1873 ई० में प्रकाशित अपनी Lombard Street शीर्षक नामक पुस्तक में केन्द्रीय बैंक के इस कार्य के महत्व का वर्णन किया था तथा बैंक आफ इंग्लैण्ड का ध्यान संकटकाल में देश में अन्य बैंकों को ऋण देकर इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए आकर्षित किया था। बैजहॉट की पुस्तक के प्रकाशित होने के पश्चात् बैंक आफ इंग्लैण्ड ने अन्तिम ऋणदाता का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। वर्तमान समय में प्रत्येक केन्द्रीय बैंक इस कार्य को करती है भारत में 1960 ई० में पालाई सेन्ट्रल बैंक के दिवालिया हो जाने पर देश में अन्य व्यापारिक बैंकों से जब जमाकर्त्ताओं ने भारी मात्रा में अपनी जमाओं को वापस लेना आरम्भ कर दिया था तब व्यापारिक बैंकों को जमाकर्त्ताओं को भुगतान करने के सन्दर्भ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने अन्तिम ऋणदाता के रूप में पर्याप्त वित्तीय सहायता प्रदान की थी।

7 साख का नियन्त्रक (Controller of Credit)—केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य अर्थव्यवस्था में साख मुद्रा पर नियन्त्रण करके अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता बनाये रखना। इस कार्य का महत्व वर्तमान समय में इतना अधिक हो गया है कि साख मुद्रा नियन्त्रण के कार्य को ठीक प्रकार से सम्पन्न करने के लिए केन्द्रीय बैंक को देश की समुचित बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण रखने के लिए शक्ति तथा अधिकार दिए जाते है। साख मुद्रा नियन्त्रण से कीमत स्तर में स्थिरता विदेशी विनिमय दरों में स्थायित्व बनाये रखा जा सकता है। व्यापार चक्रों को नियमित करने देश की स्वर्ण निधियों को बचाने तथा उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि के अवसर प्रदान किये जा सकते है। अतएव साख नियन्त्रण अति आवश्यक है और यह केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य बन चुका है।

साख नियन्त्रण
(Credit Control)

साख नियन्त्रण की आवश्यकता (Need for Credit Control)

साख मुद्रा की हमारी वर्तमान अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका है। हमारा वर्तमान सम्पूर्ण वित्तीय ढाँचा साख मुद्रा प्रणाली पर आधारित है इसलिए साख हमारी अर्थव्यवस्था का अद्वितीय अंग बन गई है। इसे हम अपना वर्तमान व्यापारिक व्यवस्था का जीवन रक्त कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। साख एक ऐसा अद्वितीय एवं नाजुक यन्त्र है कि इसका दुरुपयोग हमारी अर्थव्यवस्था के लिए एक अभिशाप भी सिद्ध हो सकता है इसलिए साख मुद्रा को नियन्त्रित एवं नियमित करने की आवश्यकता होती है। प्रो० डी० कॉक साख मुद्रा की आवश्यकता बताते हुए कहते है कि "बहुत वर्षों से सभी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि साख का सृजन तथा वितरण बहुत से देशों में विद्यमान जटिल आर्थिक संगठन की दृष्टि से किसी न किसी प्रकार से नियन्त्रित होनी चाहिए। इसका मुख्य कारण यह था कि साख सभी प्रकार के मौद्रिक तथा व्यवसायिक निपटारों में एक मुख्य

भूमिका निभाती है और इस प्रकार यह अच्छाई या बुराई का एक शक्तिशाली तत्व के रूप में प्रतिनिधित्व करता है।[1]

केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण दो प्रकार से करता है—

(I) साख नियन्त्रण की परिमाणात्मक विधियाँ

(II) साख नियन्त्रण की गुणात्मक विधियाँ।

साख नियन्त्रण की परिमाणात्मक विधियों से अर्थ उन साधनों से है जो बैंकों की साख नीतियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। इसके विपरीत साख नियन्त्रण की गुणात्मक विधियों का अर्थ उन साधनों से है जिनके द्वारा बैंकों की साख प्रसार को बिना नकद कोषों को प्रभावित किए हुए नियन्त्रण किया जाता है। साख नियन्त्रण की गुणात्मक विधियों द्वारा देश की आवश्यकतानुसार साख वितरण, प्रयोग एवं दिशा को निर्धारित किया जाता है।

अब हम साख नियन्त्रण की प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष अर्थात् परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विधियों का पृथक् पृथक् अध्ययन करेंगे—

I परिमाणात्मक विधियाँ (Quantitative Methods)

(1) बैंक दर अथवा कटौती दर (Bank Rate or Discount Rate)
(2) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)
(3) न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात (Minimum Legal Reserve Ratio)
(4) तरलता अनुपात (Liquidity Ratio)

II गुणात्मक विधियाँ (Qualitative Methods)

(1) साख मुद्रा की राशनिंग (Rationing of Credit)
(2) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)
(3) नैतिक अनुनय या समझाना (Moral Suasion)
(4) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Controls)
(5) विज्ञापन तथा प्रचार (Publicity)।

I परिमाणात्मक विधियाँ

(1) बैंक दर अथवा कटौती दर (Bank Rate or Discount Rate)—सबसे पहले बैंक आफ इंग्लैंड ने 1839 में इसका प्रयोग किया। यह साख केन्द्रीय बैंक के अन्तिम ऋणदाता के रूप में कारण है। बैंक दर ब्याज की वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों को प्रथम श्रेणी तथा उत्तम ऋणपत्रों को बट्टा करके अथवा इनकी सहायता आदि के रूप में उधार ऋण प्रदान करता है। प्रो० पीटर फॉसेथ के अनुसार "कटौती दर न्यूनतम वह है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक अपने द्वारा चयन की हुई अल्पकालीन सम्पत्ति की पुनः कटौती की शर्तों का [illegible]

---

1 "For many years it has been almost universally accepted that the creation and distribution of credit under the intricate economic organisation existing in most of the countries should be subjected to some form of control The main reason was that credit comes to play a predominant part in the settlement of monetary and business transactions of all kinds and thus represent a powerful force for good or evil' —*De Kock Central Banking*

('Discount Policy may conveniently be defined as the varying of the terms, and of the conditions in the broadest sense under which the market may have temporary access to Central Bank Credit through discounts of selected short term assets or through secured advances)

वाणिज्य बैंक ब्याज का जिस दर पर व्यापारियो को ऋण देती है उस दर मे तथा बैंक दर मे इस विशेष प्रकार का सम्बन्ध है कि जब बैंक की दर म वृद्धि हो जाती है तो वाणिज्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर म समान अथवा अधिक वृद्धि कर देती है। इसके विपरीत बैंक दर म कमी होने पर वाणिज्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर म कमी कर देता है। बैंक दर म परिवर्तनो के द्वारा केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था म साख मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखती है। यदि केन्द्रीय बैंक को यह ज्ञात होता है कि देश म स्फीति उत्पन्न हो गई है तो केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था मे स्फीति को समाप्त करने के उद्देश्य से बैंक दर म उपयुक्त वृद्धि कर देती है। इसका परिणाम यह होता है कि वाणिज्य बैंक भी अपनी ब्याज की दर मे वृद्धि कर देती है। जब वाणिज्य बैंक व्यापारियो से अपने ऋणो पर पहले की तुलना मे अधिक ब्याज लेने लगती है तो वस्तुओ की उत्पादन लागतो मे वृद्धि हो जाती है क्योकि ब्याज की दर उत्पादन लागत का भाग है। वस्तुओ की कीमतें स्थिर रहते हुए उत्पादन लागत म वृद्धि होने पर व्यापारी बैंको से उधार लेना कम कर देते हैं। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था म समस्त निवेश की मात्रा कम हो जाती है। निवेश की राशि मे कमी हो जाने से उत्पादन साधनो की माँग म कमी हो जाने के कारण वे बेरोजगार हो जाते ह और उनकी आयें कम हो जाती है। उत्पादन साधनो की आयो मे कमी हो जाने के कारण कुल उपभोग म कमी हो जाती है क्योकि उपभोग व्यय आय द्वारा निर्धारित होता है। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थव्यवस्था मे वस्तुओ तथा सेवाओ की माँग म कमी हो जाती है तथा इनकी कीमतो मे भी कमी हो जाती है।

इसके विपरीत देश मे अवस्फीति तथा बेरोजगारी उत्पन्न हो जाने पर केन्द्रीय बैंक द्वारा दर म कमी कर दी जाती है। बैंक दर मे कमी हो जाने पर वाणिज्य बैंक भी अपनी उधार दान दरो म कमी कर देती है। इससे उद्यमकर्त्ता को पहले से अधिक निवेश करने का उत्साह प्रदान होता है। अधिक निवेश होने पर अर्थव्यवस्था मे उत्पादन साधनो को अधिक रोजगार प्राप्त होने लगता है जिसके कारण उनकी आयो मे वृद्धि हो जाती है। आय म वृद्धि होने पर उपभोग माँग मे वृद्धि हो जाती है माँग मे वृद्धि हो जाने क कारण कीमतो म गिरावट समाप्त हो जाती है। अर्थव्यवस्था मे बैंक दर मे होने वाले परिवर्तन आर्थिक स्थिति क सूचक का कार्य करते है। बैंक दर मे वृद्धि देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध म चेतावनी देती है परन्तु बैंक दर मे कमी इस बात को सूचित करती है कि देश की अर्थव्यवस्था अभिवृद्धि से दूर है तथा देश म अधिक निवेश किया जा सकता है।

बैंक दर के प्रभाव—बैंक दर म परिवर्तन के दो प्रभाव होते है —(i) आन्तरिक प्रभाव (ii) बाह्य प्रभाव।

(I) **आन्तरिक प्रभाव**—*इसका आशय उन प्रभावो स है जिनको देश के अन्दर अनुभव किया जाता है जैसे—*

(i) **साख की मात्रा पर प्रभाव**—जब केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर बढा देता है तो इससे बाजार की ब्याज दर बढ़ जाती है ऋण महँगे हो जाते है तथा उनकी माँग म गिरावट आती है तथा साख सकुचन होता है। इसके विपरीत बैंक दर घटने से बाजार की ब्याज दर भी घटती है। इसके प्रभाव से ऋण लेना सस्ता हो जाता है ऋणो की माँग बढ़ती है और साख का विस्तार होता है।

(ii) आन्तरिक मूल्य स्तर तथा मजदूरी पर प्रभाव— बैंक दर में वृद्धि के कारण ऋण महँगे हो जाते हैं जिससे व्यापार तथा उद्योग में सुस्ती आती है। रोजगार का स्तर गिरता है। लोगों की क्रय शक्ति में गिरावट आती है और वस्तुओं की माँग गिरती है। फलस्वरूप उनके मूल्यों में भी कमी आती है। लोग वस्तुओं की माँग संचय हेतु नहीं करते, इस कारण वस्तुओं की माँग में और भी गिरावट आती है। बेरोजगारी बढ़ती है क्योंकि माँग में कमी से उत्पादन का स्तर गिरता है। उत्पादन इकाइयाँ उत्पादन बन्द करने लगती हैं लोगों की आय गिरती है। इसके विपरीत अर्थात् बैंक दर में कमी के कारण इसके बिल्कुल विपरीत परिणाम होते हैं।

(II) बाह्य प्रभाव—इनका सम्बन्ध देश की बाहरी अर्थव्यवस्था से होता है।

(i) विदेशी-विनिमय दर पर प्रभाव जब किसी देश का केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर में वृद्धि कर देता है तो विदेशी पूँजी उस देश में आयातित होती है, देश के निर्यातों में वृद्धि होती है, आयात घट जाते हैं क्योंकि जनता की क्रयशक्ति में गिरावट आती है। इन सबका प्रभाव यह होता है कि उस देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर अनुकूल हो जाती है। भुगतान सन्तुलन तथा व्यापार सन्तुलन भी अनुकूल होने की प्रवृत्ति दिखाता है। इसके विपरीत बैंक दर में गिरावट होने से बिल्कुल विपरीत परिणाम निकलते हैं।

(ii) विदेशी पूंजी आवागमन पर प्रभाव—बैंक दर में परिवर्तन से विदेशी पूँजी के आयात निर्यात पर प्रभाव पड़ता है। जब बैंक दर बढ़ती है तो विदेशी पूँजी विनियोजक उस देश में अपनी पूँजी लगाकर बढ़ी हुई बैंक दर का लाभ कमाते हैं। बैंक दर घटने से देश की पूँजी एवं विदेशियों की पूँजी भी देश के बाहर जाने लगती है।

दर में परिवर्तन किन कारणों से किया जाता है

बैंक दर में वृद्धि निम्न कारणों से की जाती है

(1) देश के बाहर पूँजी प्रवाह रोकने के लिए।

(2) विदेशी विनिमय दर की प्रतिकूलता को रोकने हेतु।

(3) देश के बाहर स्वर्ण प्रवाह को रोकने हेतु।

(4) देश में बढ़ती हुई सट्टा प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने हेतु।

(5) मुद्रा बाजार में मुद्रा पूर्ति की अधिकता से मूल्य स्तर वृद्धि रोकने हेतु।

बैंक दर में कमी निम्न कारणों से हो सकती है—

(1) देश में विनियोगों में वृद्धि के लिए।

(2) पूँजी की माँग में गिरावट होने पर उसमें वृद्धि के लिए जिससे कि बैंकों के कोष व्यर्थ में न पड़े रहें।

(3) विदेशी पूँजी के अन्धाधुन्ध आयात की स्थिति पर काबू पाने के लिए।

(1) बैंक दर नीति की सीमाएँ (Limitations of the Bank Rate Policy)

मात्र मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण करके केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति सीमित रूप में ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को बनाये रख सकती है। बैंक दर की सीमाएँ कई बातों पर निर्भर होती हैं।

(1) केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों के मध्य सम्बन्ध—यह इस बात पर निर्भर होता है कि केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों के मध्य किस प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है। यदि यह सम्बन्ध अति निकट तथा गहरा है तो वाणिज्य बैंक बैंक दर में परिवर्तनों के अनुसार अपनी ब्याज की दर में उपयुक्त परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक की नीति को सफल बनाने में सहयोग देगा। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों में दूर का सम्बन्ध है और वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक से विशेष मात्रा में उधार नहीं

होती है तो केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति को विशेष सफलता प्राप्त नहीं होगी। अतिरिक्त देशों में जहाँ केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंकों का ऋणी तथा ऋणदाता के रूप में विशेष सम्बन्ध नहीं होता है बैंक दर नीति को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता प्राप्त नहीं होती है। बैंक दर नीति की सफलता के लिए देश में केन्द्रीय बैंक तथा वाणिज्य बैंकों के मध्य गहरा सम्बन्ध एवं समन्वय होना आवश्यक है।

(2) **निवेशकर्त्ताओं की मनोवृत्ति**—बैंक दर नीति की सफलता निवेशकर्त्ताओं की मनोवृत्ति पर भी निर्भर होती है। क्योंकि तेजी में जब कीमतों में प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है व्यापारी भविष्य के सम्बन्ध में आशावादी होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि केन्द्रीय बैंक कीमत स्तर को स्थिर रखने के उद्देश्य से अपनी बैंक दर में वृद्धि करता है और देश में वाणिज्य बैंक भी केन्द्रीय बैंक के साथ अपनी ब्याज की दरों में वृद्धि करके सहयोग देता है तो भी केन्द्रीय बैंक को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता नहीं मिलेगी। ब्याज की दर में वृद्धि होने पर भी यदि देश में निवेशकर्त्ता भविष्य में वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने की आशा करते हैं तो वे बैंकों से अधिक ऋण प्राप्त करेंगे क्योंकि ऊँची ब्याज की दर पर ऋण लेकर भी उनको लाभ प्राप्त होने की आशा होती है। इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। यदि भविष्य में निवेशकर्त्ता यह आशा करते हैं कि कीमतों में 20 प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी तो ब्याज की दर में यदि 19 प्रतिशत की वृद्धि भी हो जाती है तो भी वे बैंकों से ऋण लेना नहीं रोकेंगे। अभिवृद्धि के काल में मौद्रिक मुद्रा की माँग पूर्णतया ब्याज निरपेक्ष हो जाती है और बैंक दर में वृद्धि होने का इस माँग पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त ब्याज की दर में वृद्धि होने का प्रभाव कुल उत्पादन लागत पर बहुत कम पड़ता है क्योंकि ब्याज कुल उत्पादन लागत का एक बहुत कम भाग होता है। इसके अतिरिक्त बहुत से व्यवसायों में पूँजी की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है और इस कारण ऐसे व्यवसायों पर ब्याज की दर में परिवर्तनों का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। यद्यपि दीर्घकाल में बैंक दर का निवेश पर अवश्य प्रभाव पड़ता है परन्तु अल्पकाल में यह प्रभाव अनिश्चित तथा कम होता है और जीवन में अल्पकाल का महत्त्व दीर्घकाल की तुलना में अधिक होता है।

मन्दी में बैंक दर का प्रयोग अभिवृद्धि (boom) के काल की तुलना में अधिक असफल सिद्ध होता है। मन्दीकाल में जब निवेशकर्त्ताओं की मनोवृत्ति निराशावादी रूप धारण कर लेती है तथा भविष्य में वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर गिरावट होने की आशंका होने के हेतु भविष्य अनिश्चित हो जाता है तब बैंक दर में कितनी भी अधिक कमी क्यों न की जाये निवेशकर्त्ता वर्ग ब्याज की दर पर भी बैंकों से ऋण प्राप्त करके निवेश करना नहीं चाहते है। यदि निवेशकर्त्ता यह अनुमान लगाता है कि भविष्य में 10 प्रतिशत की कमी होगी तो 9 प्रतिशत ऋणात्मक ब्याज की दर (जो सम्भव नहीं है क्योंकि वाणिज्य बैंकों का उद्देश्य ऋण देकर लाभ प्राप्त करना है) पर ऋण लेकर भी उसको हानि होगी। मन्दी में बैंक दर नीति की सीमा को क्राउथर ने एक सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। अर्थव्यवस्था में निवेशकर्त्ता वर्ग की तुलना घोड़े से तथा बैंकों से प्राप्त होने वाली ऋण सहायता की तुलना पानी से करते हुए क्राउथर ने लिखा है कि केन्द्रीय बैंक घोड़े—निवेशकर्त्ता वर्ग—के सामने पीने के लिए पानी (ऋण) रख सकता है परन्तु वह घोड़े को पानी पीने पर बाध्य नहीं कर सकते है। यदि घोड़े को प्यास नहीं है तो अधिक पानी सामने होते हुए भी वह पानी नहीं पियेगा। मन्दी में इस घोड़े की प्यास बिल्कुल समाप्त हो जाती है और यदि उसको मुफ्त भी पानी मिलता है तो भी वह नहीं पीता है।

(2) **खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)**

खुले बाजार की क्रियायें केन्द्रीय बैंक की साख मुद्रा नियन्त्रण की दूसरी प्रमुख रीति है। इस रीति का प्रयोग केन्द्रीय बैंक बहुधा बैंक दर के पूरक के रूप में करती है। इस

रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार में स्फीति तथा उत्तम ऋण पत्रों तथा प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय करके अर्थव्यवस्था के संचालन में मुद्रा की मात्रा में उपर्युक्त कमी अथवा वृद्धि करके साख-मुद्रा की मात्रा पर नियन्त्रण रखता है। स्फीति—अभिवृद्धि—में केन्द्रीय बैंक ऋणपत्रों को कम कीमत पर बेचकर अर्थव्यवस्था में से दर्शी मुद्रा को वापस लेकर कीमत स्तर में कमी करने का प्रयास करती है। अर्थव्यवस्था में जब क्रेता ऋणपत्रों को खरीदते हैं तो वाणिज्य बैंकों के पास नकदी कम हो जाती है और उनको अपनी साख-मुद्रा निर्माण की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। ऐसा वे नए ऋणियों को ऋण न देकर तथा पुराने ऋणियों से अपने ऋणों का भुगतान लेकर करते हैं। साख-मुद्रा की मात्रा में कमी होने के कारण निवेश की मात्रा में कमी होती है और कीमत स्तर भी कम हो जाता है।

इसके विपरीत मन्दी में केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों तथा ऋणपत्रों को अधिक कीमत पर खरीद कर अर्थव्यवस्था के संचालन में वृद्धि करके मन्दी को समाप्त करने की चेष्टा करती है। नकदी बढ़ जाने पर वाणिज्य बैंकों की नकदी में वृद्धि हो जाती है और वे अधिक नकदी के आधार पर अधिक साख मुद्रा का निर्माण करती है। जिसके कारण अर्थव्यवस्था में निवेश की मात्रा में वृद्धि होने से अर्थव्यवस्था को मन्दी से मुक्ति मिलती है।

खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए आवश्यक बातें—(1) बाजार में हुण्डियों का क्रय-विक्रय साख-मुद्रा नियन्त्रण का अप्रत्यक्ष रीति है। इसकी सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि वाणिज्य बैंक अपने नकदी कोषों में कमी अथवा वृद्धि करती है अथवा नहीं। खुले बाजार में हुण्डियों को खरीदने तथा बेचने की रीति इस मान्यता पर आधारित है कि साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि तथा कमी बैंकों की नकदी में वृद्धि तथा कमी पर निर्भर होता है। परन्तु ऐसा होना सदैव आवश्यक नहीं है। अभिवृद्धि में बैंकों के पास कम नकदी होते हुए भी साख मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत मन्दी में यद्यपि वाणिज्य बैंकों की कुल नकदी में वृद्धि हो जाती है परन्तु फिर भी वे अधिक साख-मुद्रा का निर्माण नहीं करती है।

(2) केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि केन्द्रीय बैंक के पास उपयुक्त ऋणपत्रों की कितनी मात्रा है और कितनी मात्रा में वह ऋणपत्रों को मन्दी के काल में अधिक मूल्य पर खरीदने को तैयार है। यदि केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता बनाए रखने के उद्देश्य से हानि सहन करने के लिए तैयार भी होती है तो भी यह सम्भव है कि इसको अपने इस उद्देश्य में सफलता न प्राप्त हो। यह सम्भव है कि स्फीति के समय केन्द्रीय बैंक के पास बेचने योग्य ऋणपत्रों की मात्रा इतनी कम हो कि सारे ऋणपत्रों को बेचकर भी अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता प्राप्त न हो सके। केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं की सीमाओं की व्याख्या करते हुए कीन्स ने लिखा है कि केन्द्रीय बैंक अभिवृद्धि को रोकने के लिए केवल उतनी ही बारूद का प्रयोग कर सकती है जितनी कि उसको मंदी से लड़ने के समय प्राप्त हुई है और बारूद की यह मात्रा अभिवृद्धि पर काबू पाने के लिए अपर्याप्त हो सकती है।

(3) खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि देश का मुद्रा बाजार संगठित एवं विकसित हो। यदि ऐसा नहीं होता तो केन्द्रीय बैंक के लिए प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय द्वारा वांछित परिणाम मिलने की आशा नहीं होगी।

(4) खुले बाजार की क्रियायें तभी सफल हो सकती है जब कि व्यापारिक बैंकें प्रतिभूतियों में धन विनियोजित करने के लिए एक प्रकार से आदी हो गई हों।

(5) केन्द्रीय बैंक का प्राहिए कि अनुमादित या सरकारी प्रतिभूतियाँ जिनका कि क्रय विक्रय केन्द्रीय बैंक करता है उनके मूल्यों में शीघ्र परिवर्तन न होने दे यदि मूल्य में शीघ्र परिवर्तन होगे तो विनियोगकर्ता इनमें पूंजी विनियोजन से कतरायेंगे और क्रियाएँ सफल नहीं हो सकेगी।

खुले बाजार की क्रियाओं की लोकप्रियता के कारण

वर्तमान समय में साख नियन्त्रण के उपाय के रूप में खुले बाजार की क्रियाओं की लोकप्रियता निम्नलिखित कारणों से अधिक हो गई है—

(1) खुले बाजार की क्रियाएँ तुरन्त बैंकों के नकद कोषों को वांछित दिशा में ले जाने में सहायक होती हैं।

(2) यह विधि प्रथम विश्व युद्ध के बाद साख नियन्त्रण के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है।

(3) मुद्रा बाजार में सरकारी एवं अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय का चलन बढ़ता जा रहा है इसलिए केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार की क्रियाएं संपादित करने में काफी सुविधा मिली है।

(4) बैंक दर नीति के वांछित परिणाम न निकलने तथा इसकी सीमाओं एवं अन्य क्षेत्रों में सफलता को देखते हुए खुले बाजार की क्रियाएँ बैंक दर नीति के अच्छे विकल्प के रूप में साबित हुई है।

बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओं में अन्तर अथवा दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?

साख नियन्त्रण की परिमाणात्मक अथवा प्रत्यक्ष रीतियों में बैंक दर एवं खुले बाजार की क्रियाएं दोनों ही महत्वपूर्ण हैं परन्तु बैंक दर नीति की अपेक्षा खुले बाजार की क्रियाएँ अधिक श्रेष्ठ हैं। यह बात दोनों में निम्नलिखित अन्तर द्वारा स्पष्ट हो जाती है

(1) **नकद कोषों पर प्रभाव**—बैंक दर नीति की अपेक्षा खुले बाजार की क्रियाएँ व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों को तुरन्त एवं प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं। जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा प्रतिभूतियाँ खरीदता है तो व्यापारिक बैंक इन प्रतिभूतियों को बेचते हैं तो तुरन्त ही इन बैंकों के नकद कोष प्रभावित अर्थात् बढ़ जाते हैं। यदि केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को मुद्रा बाजार में बेचता है तो बैंकों के नकद कोष तुरन्त ही कम हो जाते हैं। बैंक दर नीति इतनी शीघ्रता से प्रत्यक्ष रूप से बैंकों के नकद कोष को प्रभावित नहीं करती।

(2) **बारम्बारता**—बैंक दर में बार बार परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता। क्योंकि बैंक दर नीति द्वारा स्वदेशी बैंकों के नकद कोष ही प्रभावित नहीं होते वरन् विदेशी बैंकों एवं पूंजी के आवागमन पर भी प्रभाव पड़ता है। इसके साथ व्यापारिक बैंकों के कोषों में होने वाले परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगाना कठिन होता है इसके विपरीत खुले बाजार की क्रियाओं को कितने ही बार केन्द्रीय बैंक अपना सकता है और निश्चित तथा वांछित दिशा में साख परिवर्तन करना सम्भव हो सकता है।

(3) **ऐच्छिक**—खुले बाजार की क्रियाएं ऐच्छिक होती हैं अर्थात यह व्यापारिक बैंकों पर अनुचित दबाव नहीं डालता। ब्याज की दर में परिवर्तन द्वारा व्यापारिक बैंक लाभ कमाने की दृष्टि से प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय करते हैं। इसके विपरीत बैंक दर नीति में जब परिवर्तन होते हैं तो ऋण प्रदान करने वाले बैंक एवं संस्थाओं को अपनी ब्याज दर में इसी परिवर्तनानुसार परिवर्तन लाने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

दीर्घकालीन दरों पर प्रभाव—बैंक दर नीति ब्याज की अल्पकालीन दरों को प्रभावित करती है। क्योंकि व्यापारिक बैंक अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं। इसके विपरीत खुले व्यापार की क्रियाओं में सरकारी प्रतिभूतियाँ दीर्घकालीन समय के लिए भी बेची जाती हैं इसलिए इनके द्वारा ब्याज की दीर्घकालीन दरें तथा साख नीति को भी प्रभावित किया जा सकता है।

साख नियन्त्रण की दोनों रीतियाँ एक दूसरे की प्रतिस्पर्धी न होकर एक दूसरे की पूरक के रूप में ही प्रयोग में लानी चाहिए। अर्थव्यवस्था की आवश्यकतानुसार ही दोनों का समय समय पर प्रयोग वांछित होगा। यदि आवश्यकता हो तो दोनों को एक साथ भी उपयोग में लाना चाहिए। दोनों विधियों में कौन सी विधि श्रेष्ठ है इसका उत्तर देने के लिए हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि बैंक दर नीति की अपेक्षा खुले बाजार की क्रियाएँ अधिक श्रेष्ठ एवं उत्तम हैं।

(3) न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात अथवा परिवर्तनशील तरल कोषानुपात (Minimum Legal Reserve Ratio or Variable Reserve Ratio)

अर्थव्यवस्था में वाणिज्य बैंकों के लिए निर्धारित न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में जो प्रत्येक बैंक को केन्द्रीय बैंक के पास अपनी कुल जमाओं का निर्धारित प्रतिशत नकद आरक्षण के रूप में रखना पड़ता है उपर्युक्त परिवर्तन करके भी केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में बैंकों की साख मुद्रा निर्माण क्रियाओं पर नियन्त्रण कर सकती है। प्रत्येक देश में जहाँ केन्द्रीय बैंक होती है वाणिज्य बैंकों को अपनी कुल जमाओं का विधान द्वारा निर्धारित न्यूनतम प्रतिशत भाग केन्द्रीय बैंक के पास न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात के रूप में जमा रखना पड़ता है। इस अनुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों के पास नकदी की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करके अर्थव्यवस्था के संचालन में कुल साख मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि कर सकती है।

अमरीका में इस रीति का प्रयोग सर्वप्रथम अगस्त 1906 ई० में न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में 50 प्रतिशत की वृद्धि के रूप में अत्यधिक साख-मुद्रा निर्माण की हानियों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से किया था। इस अनुपात में वृद्धि हो जाने पर सदस्य बैंकों की नकदी 3,100 मिलियन डालर राशि से घट कर केवल 1,800 मिलियन डालर राशि रह गई थी। तत्पश्चात् मई 1937 ई० में इस अनुपात में पुनः वृद्धि की गई थी। गत कुछ वर्षों में न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात रीति का प्रयोग 1951 ई० में कोरिया युद्ध (Korean War) के कारण उत्पन्न स्फीति को रोकने के उद्देश्य से किया गया था।

साख-मुद्रा नियन्त्रण की अन्य रीतियों के समान इस रीति की भी सीमाएं हैं। प्रथम जब वाणिज्य बैंकों के पास अधिक नकदी होती है तो वे केन्द्रीय बैंक की न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात रीति का अनादर कर सकते हैं। दूसरे वाणिज्य बैंक अपनी जमाओं के ढाँचे में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक की रीति का उल्लंघन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि चालू तथा मियादी जमाओं पर केन्द्रीय बैंक के पास इन जमाओं का 2 प्रतिशत तथा 5 प्रतिशत भाग न्यूनतम वैध निधि के रूप में जमा करना पड़ता है तो ऐसी स्थिति में वाणिज्य बैंक अपनी मात्रा में मियादी जमाओं में कमी तथा चालू जमाओं में वृद्धि दिखलाकर केन्द्रीय बैंक की कम नकदी भेजने में सफल हो सकते हैं।

साख की मात्रा साख की पूर्ति पर ही निर्भर नहीं होती वरन् उसकी माँग पर भी निर्भर करती है। व्यापारिक बैंकों की साख सृजन की क्षमता में परिवर्तन द्वारा

वांछित उद्देश्यों की पूर्ति सफलता में केन्द्रीय बैंक को उस समय नहीं मिलेगी यदि माँग में परिवर्तन उस दिशा में नहीं होता जिसमें केन्द्रीय बैंक चाहता है। उदाहरणार्थ मन्दी के समय प्रारक्षित निधि अनुपात में कमी होने पर भी साख में विस्तार नहीं होने पाता।

जल्दी-जल्दी निधि माँग में परिवर्तन करना उचित नहीं होता। इसको वर्तमान मुद्रा की पूर्ति हेतु बार-बार प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। यह एक प्रकार से गैर-लचीला (Inflexible) अस्त्र होता है। प्रो० डी० कॉक इस सम्बन्ध में कहते हैं "जबकि यह बैंक नकद माल उपलब्ध पूर्ति तथा वांछित परिवर्तन का बहुत चुस्त एवं प्रभावशाली तरीका है इसकी कुछ तकनीकी तथा मनोवैज्ञानिक सीमाएँ हैं जो बताती हैं कि इसका सोच समझकर और स्वविवेकानुसार केवल असाधारण परिस्थितियों में ही प्रयोग करना चाहिए।"[1]

आलोचनाएँ—(1) विभिन्न बैंकों के पास विभिन्न प्रकार की अतिरिक्त निधियाँ होती हैं इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन का प्रभाव विभिन्न बैंकों पर एक सा नहीं पड़ता। कुछ बैंकों पर इसका प्रभाव बहुत गहरा तथा कुछ पर बहुत अधिक हल्का रहता है। इस पर एक आरोप यह भी लगाया जाता है कि गैर बैंकिंग वित्तीय मध्यस्था जैसे बीमा कम्पनियाँ, विनियोग बैंक, आवास समितियाँ आदि पर जो कि व्यापारिक बैंकों की प्रतिस्पर्धी होती हैं कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(2) निधि माँगों में परिवर्तन कुछ व्यापारिक बैंकों के लिए अनिश्चितता लाता है। कभी-कभी इसमें किये गये परिवर्तनों का प्रभाव बहुत ही कष्टपूर्ण होता है इसलिए इस बड़े सोच-समझकर अपनाना चाहिए। कीन्स कहते हैं कि निधि मात्रा में परिवर्तन थोड़ी मात्रा में तथा जाँच परख के बाद किये जाने चाहिए।

(3) यह साख की लागत में वृद्धि करता है। चूँकि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों द्वारा न्यूनतम वैध आरक्षित निधि पर कोई ब्याज नहीं देता इसलिए व्यापारिक बैंक न्यूनतम निधि की माँग बढ़ने से अपने ब्याज की क्षतिपूर्ति अपने ऋणियों से अधिक ब्याज की वसूली द्वारा करते हैं।

(4) इसकी आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसका प्रतिभूतियों के बाजार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जब केन्द्रीय बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों की न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात में वृद्धि कर दी जाती है तो व्यापारिक बैंक की नकदी का एक भाग केन्द्रीय बैंक को हस्तांतरित होने लगता है और वे अपने पास रखी हुई प्रतिभूतियाँ (Securities) को बेचने लगते हैं। इस प्रकार के प्रभाव को रोकने के लिए अर्थात् प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट न आने देने के लिए यह सुझाव दिया जाता है कि केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा प्रतिभूतियों का क्रय कर लेना चाहिए जिससे कि इसकी मुद्रा बाजार में पूर्ति अधिक न बढ़ने पाए और उनकी कीमतें स्थिर रहें।

न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात की उपर्युक्त सीमाओं तथा आलोचनाओं के बावजूद भी साख नियंत्रण एक उपयोगी एवं शक्तिशाली अस्त्र है। प्रो० सेयर्स कहते हैं कि

---

1 "While it is a very prompt and effective method of bringing about the desired changes in the available supply of bank cash, it has some technical and psychological limitations which prescribe that it should be used with moderation and discretion and only under obviously abnormal conditions."

—*M. H. De Kock*

यह एक ऐसा अस्त्र है जिसको केन्द्रीय बैंक के हाथ में रहना चाहिए। ... केन्द्रीय बैंक उपयोगी तरीके से कार्य कर सकता है ... जिसकी कि व्यापारिक बैंकों से करने की आशा नहीं की जा सकती। 1

(4) तरल कोषानुपात (Liquidity Ratio)

देश के व्यापारिक बैंक को अपनी कुल पूँजी का एक भाग तरल रूप में रखना पड़ता है। इस तरल मुद्रा का एक भाग नकद राशि और एक भाग अनुमोदित प्रतिभूतियों ... रूप में रखना पड़ता है। इस प्रकार एक निश्चित सीमा के अन्दर तरल मुद्रा नकद तथा प्रतिभूतियों के रूप में रखा जाता है। ... अपने साधनों का एक अंश ... केन्द्रीय बैंक ... प्रतिभूतियों में लगाना पड़ता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण करता है।

इसका उद्देश्य व्यापारिक बैंकों की उस शक्ति पर अंकुश लगाना होता है ताकि वे अपनी परिसम्पत्तियाँ (Assets) को नकदी में न बदल पाएँ और उनकी साख सृजन में विस्तार की क्षमता में वृद्धि न हो पाए।

मुद्रा स्फीतिक स्थितियों पर काबू पाने के लिए साख नियन्त्रण का यह तरीका महत्वपूर्ण होता है। कुछ स्थितियों में इसका ... प्रभाव सरकार की हीनार्थ प्रबन्धन नीति से सम्बन्धित होता है। जब कानून द्वारा केन्द्रीय ... व्यापारिक बैंकों को ... पूँजी का एक भाग सरकारी प्रतिभूतियों में लगाना अनिवार्य कर देता है तो सरकार के लिए हीनार्थ प्रबन्ध (Deficit financing) को अपनाना आसान हो जाता है। वित्तीय प्रबन्धन की यह नीति स्फीति के विरुद्ध होती है क्योंकि जितनी वित्तीय सहायता सरकार को दी जाती है व्यापारिक बैंक उस राशि को सामान्य व्यवसाय के लिए साख-सृजन में नहीं ला पाते। यदि आर्थिक विकास तथा अन्य असाधारण परिस्थितियों के कारण ... स्फीतिक दबाव बढ़ रहा हो तो मौद्रिक नीति के ... स्फीति नीति के लिए साख नियन्त्रण की यह रीति लाभकारी होती है।

II गुणात्मक विधियाँ

(1) साख मुद्रा राशनिंग (Credit Rationing or Rationing of Credit)

इसी रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक देश के वाणिज्य बैंकों की वित्तीय आवश्यकताओं का ध्यान में रखकर साख मुद्रा निर्माण की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देता है तथा विभिन्न व्यवसायों के लिए अभ्यंश (quota) निर्धारित कर दिए जाते हैं। ... बैंक को उनका निर्धारित अभ्यंश से अधिक साख मुद्रा उत्पन्न करना ... होता है। यह रीति साख मुद्रा नियन्त्रण की बड़ी प्रभावशाली रीति है परन्तु इस रीति में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं

(1) केन्द्रीय बैंक ... वित्तीय आवश्यकताओं तथा ... सम्बद्ध साख मुद्रा निर्माण की मात्रा का ... अनुमान लगाना ... कठिन कार्य है।

1 It is a weapon which should always be placed in the hands of a central bank whose technique is circumscribed by the conditions hindering the effective utilisation of open market operations. Given such power the central bank can perform useful functions that commercial banks cannot be expected to perform.

—*R. S. Sayers*

(2) केन्द्रीय बैंक को प्रत्येक बैंक के अभ्यंशो की मात्रा को निर्धारित करना होता है।

(3) इस रीति में व्यापार का विकास साख मुद्रा की मात्रा से सीमित हो जाता है। जर्मनी में रीचम बैंक जो वहाँ की केन्द्रीय बैंक थी ने इस रीति का प्रयोग 1924 ई० 1629 ई० तथा 1931 ई० में किया था।

(4) जर्मनी के अतिरिक्त रूस तथा मेक्सिको आदि देशो में भी इस रीति का प्रयोग उपलब्ध साख मुद्रा का भिन्न व्यवसायो में न्यायपूर्ण वितरण करने के उद्देश्य से किया गया है। साख मुद्रा तथा पूँजी का राशनिंग तानाशाही दशा में गहन तथा विस्तृत योजनाओ की सफलता के लिए अतिआवश्यक होता है। तानाशाही राज्यों के अतिरिक्त अविकसित देशो में भी साख मुद्रा अभ्यंशो की राशि को विभिन्न व्यवसायो के लिए निर्धारित करना देश के आर्थिक हितो के लिए आवश्यक है।[1] उदाहरणार्थ मैक्सिको में साख मुद्रा राशनिंग की रीति का उस देश में साख मुद्रा पर नियन्त्रण करने के लिए उपयोग किया गया है।

(2) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)

प्रत्यक्ष क्रिया का अभिप्राय प्रतिरोधी नियमों से होता है। जब कोई बैंक केन्द्रीय बैंक के आदेशो का पालन नहीं करती है तो केन्द्रीय बैंक उस बैंक के विरुद्ध अनेक प्रकार की सीधी कार्यवाहियाँ—उस बैंक की हुण्डियो को न भुनाना तथा उसको ऋण देने से इन्कार करना इत्यादि करके उस बैंक को अपने आदेश मानने पर बाध्य कर सकती है। प्रवरात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) की रीति के द्वारा केन्द्रीय बैंक देश में साख मुद्रा का अच्छे प्रकार से नियन्त्रण कर सकती है। अमरीका में फेडरल रिजर्व सिस्टम (Federal Reserve System) ने 1928 1929 ई० में इसके आदेश का उल्लंघन करने वाली बैंकों की हुण्डिया को भुनाने से इन्कार करके प्रत्यक्ष कार्यवाही का प्रयोग किया था। हमारे देश में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया 1956 ई० से प्रवरात्मक साख मुद्रा नियन्त्रण की रीति का सफल प्रयोग कर रही है।

केन्द्र नियोजित देशो में केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंको के साख नियन्त्रण का पूरा एवं प्रत्यक्ष अधिकार होता है। साख निर्माण संस्थाएँ अर्थात् बैंके केन्द्रीय बैंक द्वारा अग्रिमो तथा निवेशो के लिए निर्धारित नीति का अनुसरण करते हैं। केन्द्रीय बैंक द्वारा यह तय कर दिया जाता है कि अग्रिमो की राशि उद्देश्य तथा ब्याज की दर क्या होगी केन्द्रीय बैंक स्वयं सरकार के अधीन कार्य करने वाला बैंक होता है। इस सम्बन्ध में इन सरकारी निर्देशो का पालन भी व्यापारिक बैंको से कराना होता है। प्रत्यक्ष कार्यवाही करने का अधिकार युद्ध तथा अन्य असाधारण परिस्थितियो में सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक को सौंप दिया जाता है।

प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) उन देशो में साख नियन्त्रण की एक अच्छी विधि साबित हो सकती है जहाँ मुद्रा बाजार में बड़ी बड़ी संस्थाएँ हो तथा उनकी

1 Rationing of credit and capital is a logical concomitant of the intensive and extensive planning adopted in regimented economics Not only is this method resorted to in authoritarian economics but as Wagemann rightly claims even in more primitive economic conditions the setting of credit quotas is the only decisive method which the central bank has in order to prevent excessive credit demands on the port of business" —E Wagemann

शाखाएँ बहुत अधिक मात्रा में पायी जाएँ। इसके अतिरिक्त व्यापारिक बैंकों के लिए केन्द्रीय बैंक पर कोषों के लिए निर्भर रहना पड़ता है। पुनः ऐसी सुविधाओं के लिए व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास जाते हों आदि आदि।

प्रत्यक्ष कार्यवाही रीति में बहुत सी कठिनाइयाँ पाई जाती हैं। केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंकों की साख विस्तार करने की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। केन्द्रीय बैंक को यह भी मालूम होना चाहिए कि उचित एवं अनुचित में कैसे भेद किया जाय साथ ही साख के उपयोग का दूसरी-तीसरी तथा चौथी पार्टी द्वारा कितना किया जा रहा है। सभी बातें एक साथ पाई नहीं जाती इसलिए केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रत्यक्ष कार्यवाही के प्रयोग से कभी-कभी अवांछित परिणाम प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष कार्यवाही करते समय केन्द्रीय बैंक को काफी सूझबूझ से काम लेना चाहिए।

(3) नैतिक अनुनय या समझाना (Moral Persuation)

केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था में वाणिज्य बैंकों को सम्मान की रीति के द्वारा सुझाव के रूप में प्रार्थना करके अपने साख-मुद्रा नियन्त्रण के कार्य में बैंकों का सहयोग प्राप्त करता है। देश में स्फीति उत्पन्न हो जाने पर केन्द्रीय बैंक देश में सभी वाणिज्य बैंकों को उनके ऋणों की मात्रा में उपयुक्त कमी करने का सुझाव देती है। इसके विपरीत यदि देश में मंदी विद्यमान है तो केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को उदार उधारदान नीति को अपनाकर उनके ऋणों की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि करने का सुझाव देती है। वाणिज्य बैंक साधारणतया केन्द्रीय बैंक के सुझावों का पालन करती हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्वीडन, हालैण्ड इत्यादि देशों में जहाँ वाणिज्य बैंक केन्द्रीय बैंक को अपना नेता मानती हैं इस रीति को काफी सफलता प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त भारत, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में भी जहाँ केन्द्रीय बैंकों को स्थापित हुए अधिक समय नहीं हुआ है यह रीति काफी सफल सिद्ध हुई है।

भारत में सर्वप्रथम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने इस रीति का प्रयोग 1949 ई० में रुपये के अवमूल्यन के समय किया था। 1949 ई० में रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बड़े वाणिज्य बैंकों के प्रतिनिधियों का बम्बई में एक अधिवेशन आयोजित किया था जिसमें गवर्नर ने बैंकों से सट्टेबाजी के लिए ऋण न देने का सुझाव दिया। केन्द्रीय बैंक के इस सुझाव का काफी अच्छा प्रभाव पड़ा तथा वाणिज्य बैंकों ने सट्टेबाजी के लिए दिए जाने वाले अग्रिमों में पर्याप्त कमी करके रिजर्व बैंक को अपने सहयोग का परिचय दिया। तब से रिजर्व बैंक द्वारा इस रीति का प्रयोग किया जा रहा है तथा वाणिज्य बैंकों ने रिजर्व बैंक की इच्छाओं का आदर किया है।

(4) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)

चयनात्मक साख नियन्त्रण की विधियाँ केन्द्रीय बैंक द्वारा मौद्रिक व्यवस्था की वर्तमान नीतियाँ हैं। इन विधियों की विशेषता इसलिए भी और अधिक है क्योंकि इनका उद्देश्य किसी विशेष कार्य के लिए साख की दिशा निर्धारित करना होता है और साख की कुल मात्रा को प्रभावित करना इनका उद्देश्य नहीं होता। कभी-कभी सामान्य साख पर नियन्त्रण करना अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है और साख का उपयोग उन कामों में अधिक मात्रा में हो जाता है जिनकी आवश्यकता अर्थव्यवस्था के लिए नहीं होती। साख को केवल उन्हीं क्षेत्रों तथा कार्यों तक सीमित रखना चाहिए जिनका प्रयोग अर्थव्यवस्था के लिए उपयोगी तथा लाभप्रद हो। इसके लिए बहुत से देशों में केन्द्रीय बैंक चयनात्मक साख नियन्त्रण को अपनाते हैं जो स्वतन्त्र होते हैं। साख नियन्त्रण के यह तरीके साख की स्थिति पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हुए अच्छे परिणाम सामने लाते हैं जबकि

इन्हें सही समय तथा सही दिशा में अपनाया जाय। इनकी उपयोगिता उस समय और भी बढ़ जाती है जबकि सामान्य साख रीतियों के साथ इन्हें अपनाया जाता है।

चयनात्मक साख नियन्त्रण के उद्देश्य (Objectives of Selective Credit Control)

चयनात्मक साख नियन्त्रण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं

(1) बैंक साख के जरूरी तथा गैर जरूरी उपयोगों के मध्य भेद करना तथा अर्थव्यवस्था के गैर-जरूरी क्षेत्रों के लिए बैंक अग्रिमों के सम्बन्ध में प्रथम नीति अपनाना।

(2) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के स्थान पर अर्थव्यवस्था के केवल कुछ क्षेत्रों अथवा बिन्दुओं को प्रभावित करना जिनकी अधिक आवश्यकता महसूस की जाती हो।

(3) किस्तों अथवा किराये पर खरीद योजनाओं (Instalment and Higher Purchase Schemes) के अन्तर्गत खरीदी जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं पर रोक लगाना। स्फीतिक स्थितियों से निपटने के लिए सामान्यतया बैंकों द्वारा आसान किस्तों तथा किराये खरीद योजनाओं के अन्तर्गत उपभोक्ता वस्तुओं पर खरीद के लिए साख पर रोक लगाई जाती है।

(4) देश के भुगतान सन्तुलन की स्थिति को प्रभावित करना। इसके अन्तर्गत निर्यात उद्योगों के विनिमय बिलों की पुनर्कटौती सुविधा देना। भुगतान सन्तुलन की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक आयात हेतु विनिमय बिलों को हतोत्साहित करने के लिए पुनर्कटौती दर (Re-discount rate) ऊँची कर देता है तथा निर्यात बिलों के लिए यह दर नीची रखता है।

(5) इसका उद्देश्य सभी प्रकार की साख को नियन्त्रित करना होता है इसमें व्यापारिक तथा वित्तीय साख भी शामिल की जा सकती है।

साख-मुद्रा नियन्त्रण की इस रीति का निर्माण सर्वप्रथम अमरीका में राष्ट्रपति के आदेश अनुसार अगस्त 1941 ई० में हुआ था। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को उपभोक्ताओं को ऋण देने का आदेश देती है। अमरीका तथा यूरोप के देशों में जहाँ उपभोक्ता बैंकों से ऋण प्राप्त करके वस्तुओं को क्रय करते हैं साख-मुद्रा की इस रीति का विशेष महत्त्व है। इस रीति का निम्नलिखित रूपों में प्रयोग किया जा सकता है—

(क) विभिन्न कटौती दर— *इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के विनिमय बिलों के लिए भिन्न प्रकार की कटौती दरें निर्धारित कर देता है। इसका उद्देश्य कुछ क्षेत्रों में ऋण की उपलब्धता को सरल तथा कुछ क्षेत्रों में कठिन करना होता है। यदि सरकार कृषि के लिए ऋण सुविधाओं को बढ़ाना चाहती है तो कृषि विनिमय बिलों की कटौती दर कम कर दी जाती है। इससे कृषि कार्यों तथा व्यापार हेतु विनिमय बिल बढ़ेंगे।*

(ख) उपभोक्ता किस्त साख का नियमन— *इसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक उपभोक्ता वस्तुओं के क्रय के लिए दिये जाने वाले ऋण को महँगा अथवा ऋण बन्धन अपनाता है। कभी कभी उपभोक्ता वस्तुओं को दिये जाने वाले ऋण की मात्रा निश्चित कर दी जाती है अथवा किस्त की न्यूनतम धनराशि तथा ऋण अदायगी की सीमा तथा समय निश्चित कर दिया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यूरोप के सभी देशों में ऐसी रीति अपनाई गई थी। इस रीति का उद्देश्य उपभोक्ताओं के वस्तुओं को ऋण पर खरीदने, विक्रेताओं द्वारा उधार पर माल बेचने तथा बैंकों द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं पर ऋण बन्धन लगाना होता है जिससे कि साख-प्रसार न हो।*

(ग) अन्तर निर्धारण—व्यापारिक बैंक जो भी ऋण देते हैं वह किसी न किसी जमानत या सम्पत्ति की धरोहर पर दिये जाते हैं। जमानत की धनराशि का प्राय: ऋण के मूल्य का अन्तर 20 से 50 प्रतिशत रखा जाता है। परन्तु कभी-कभी केन्द्रीय बैंक इस प्रकार निश्चित अन्तरों में हस्तक्षेप करके इस अन्तर निर्धारण की सीमा को बढ़ा देता है। उदाहरणार्थ, यदि व्यापारियों ने गोदामों में गेहूँ अधिक मात्रा में भर लिया है और बाजार में कृत्रिम कमी कर दी है। मान लीजिए कि बैंक ने गेहूँ पर ऋण देते का 25% मार्जिन रखा है, तो केन्द्रीय बैंक इसकी सीमा 25% से 40% कर देता है तो व्यापारियों को 15% अतिरिक्त जमानत के रूप में या तो धनराशि या फिर उतने मूल्य का गेहूँ रखना पड़ता है। इस प्रकार बाजार में गेहूँ की पूर्ति बढ़ने से उसके मूल्यों में गिरावट आती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक अन्य उपभोक्ता अथवा अन्य कमी वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में यह रीति अपना सकती है।

(घ) आयात पूर्व जमा—केन्द्रीय बैंक आयातक के प्रार्थना पत्र के साथ ही आयात राशि का कुछ भाग जमा करवा लेता है। इस प्रकार इस धनराशि पर मिलने वाली ब्याज की हानि होती है। इस रीति का उद्देश्य आयातों को निरुत्साहित करना होता है।

(ङ) नकद कोषों का चयनात्मक प्रयोग—इस विधि के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंक अनिवार्य रूप से जो नकद कोष रखते हैं उसमें भी पृथक नीति अपनाई जाती है केन्द्रीय बैंक कुछ विशेष क्षेत्र में विनियोजन धनराशि को अपने पास नकद जमा के रूप में न रखते हैं। इससे उन क्षेत्रों विशेष में पूँजी निवेश बढ़ाया जाता है।

(च) ऋणों की जाँच तथा नियन्त्रण—केन्द्रीय बैंक एक निश्चित धनराशि से अधिक ऋण देने पर इस प्रकार की पाबन्दी लगा सकता है। इस रीति का उद्देश्य कुछ क्षेत्रों में ऋणों को प्रोत्साहित करना तथा कुछ क्षेत्रों में निरुत्साहित करना होता है। प्रथम विश्व-युद्ध के पहले काल में नीदरलैण्ड, कनाडा, न्यूजीलैण्ड तथा स्वीडन में इस रीति का प्रयोग हुआ था।

विज्ञापन प्रचार (Puplicity)

वर्तमान युग में केन्द्रीय बैंक अपनी साख मुद्रा नियन्त्रण रीति को सफल बनाने के उद्देश्य से विज्ञापन के द्वारा जनता तथा निवेशकर्ताओं का ध्यान अपनी नीति की ओर आकर्षित करती है। उन देशों में जहाँ नागरिक शिक्षित होते हैं विज्ञापन प्रचार की रीति केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण रीति का एक मुख्य अंग हो जाती है। इस रीति का उद्देश्य कुछ क्षेत्रों में ऋणों को प्रोत्साहित करना तथा कुछ क्षेत्रों में निरुत्साहित करना होता है। प्रथम विश्व युद्ध के पहले काल तथा नीदरलैंड में इस रीति का प्रयोग हुआ था।

सारांश

यद्यपि केन्द्रीय बैंक को अर्थव्यवस्था में साधारण से साख मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण करने के लिए अनेक यन्त्र प्राप्त होते हैं परन्तु अनुभव बतलाता है कि यह आर्थिक अस्थिरता पर पूर्ण नियन्त्रण करने में पूर्णतया सफल नहीं हो पाती है। केन्द्रीय बैंक की साख-मुद्रा नियन्त्रण नीति की असफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि स्फीति तथा अवस्फीति अब भी समय-समय पर देश की अर्थव्यवस्था में असन्तुलन को भंग करती रहती है। केन्द्रीय बैंक के अधिकारों का विस्तार होने के साथ-साथ स्फीति की समस्या पहले की अपेक्षा अधिक गम्भीर होती जा रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्फीति तथा अवस्फीति उत्पन्न होने के अनेक मौद्रिक तथा अमौद्रिक कारण होते हैं। केन्द्रीय बैंक केवल मौद्रिक कारणों पर अपनी साख मुद्रा नियन्त्रण नीति के द्वारा प्रभाव डाल सकती है। मूल्यवृद्धि तथा मन्दी पर विजय पाने के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक अपने यन्त्रों का आर-

म्भिक अवस्था में ही पूरी शक्ति के साथ प्रयोग करे। परन्तु दुर्भाग्यवश राजनीतिक कारणों से केन्द्रीय बैंक ऐसा करने में असफल रहती है। वास्तव में अभिवृद्धि तथा मन्दी को कभी भी आरम्भिक अवस्था में रोकने का प्रयास नहीं किया जाता है।

इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक निवेशकर्ताओं की मनोवृत्ति पर प्रभाव नहीं डाल सकती है। यही कारण है कि केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक तथा साख मुद्रा नियन्त्रण नीतियों के द्वारा एक निश्चित सीमा तक ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता को बनाये रख सकती है। परन्तु यह होते हुए भी केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक तथा साख मुद्रा नियन्त्रण नीति के द्वारा अर्थव्यवस्था में स्थिरता स्थापित करने में एक बड़े अंश तक सरकार की सहायता करके समाज की सेवा करती है।

अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक

अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में जहाँ बैंकिंग प्रणाली का विकास नहीं हुआ होता है जहाँ वाणिज्य बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं का अभाव तथा मुद्रा बाजार अविकसित होता है केन्द्रीय बैंक का कार्य अर्थव्यवस्था में केवल साख मुद्रा का नियन्त्रण करना नहीं है। इसका अधिक महत्वपूर्ण कार्य देश में संगठित बैंकिंग प्रणाली के सन्तुलित विकास को सम्भव बनाकर अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास में पर्याप्त योगदान देना है। यदि देश में बैंकिंग का विकास नहीं हुआ है तो केन्द्रीय बैंक को वाणिज्य बैंक का भी कार्य करके देश में साधारण बैंकिंग सुविधायें प्रदान करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अपनी उदार नीति तथा सरकार पर अपना उदार प्रभाव डाल कर केन्द्रीय बैंक को देश में वाणिज्य बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहित करना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक को देश में संगठित मुद्रा बाजार की भी स्थापना करने का प्रयास करना चाहिए। अविकसित अर्थव्यवस्था में संगठित मुद्रा बाजार का होना अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि मुद्रा बाजार के माध्यम द्वारा ही अल्पावधि ऋण पूँजी उपलब्ध होती है। मुद्रा बाजार अर्थव्यवस्था की औद्योगिक प्रगति का आधार होता है इसके माध्यम द्वारा उद्योग तथा वाणिज्य को वित्तीय सहायता प्राप्त होती है। केन्द्रीय बैंक को अर्थव्यवस्था में संगठित बिल बाजार को विकसित करने पर विचार करना चाहिए। अर्द्ध विकसित देशों में केन्द्रीय बैंक की भूमिका कृषि तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए साख को प्रोत्साहित करना होना चाहिए। देश में सहकारिता के आधार पर सहकारी तथा भूमि विकास बैंक की स्थापना एवं उसके संगठन में केन्द्रीय बैंक की निर्णायक भूमिका होनी चाहिए। केन्द्रीय बैंक को कम ब्याज की दर पर इन बैंकों के लिए मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण सहायता उपलब्ध करनी चाहिए। केन्द्रीय बैंक को देश में पूँजी बाजार को भी विकसित एवं संगठित करना चाहिए जिससे देश के औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त बैंक मिल सकें। पूँजी बाजार के द्वारा औद्योगिक निगमों तथा संस्थाओं के ऋण पत्रों तथा अंशों (Debentures and Shares) का क्रय-विक्रय होता है और उद्योगों के लिए तथा अन्य उत्पादक कार्यों के लिए पूँजी प्राप्त हो जाती है।

भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (केन्द्रीय बैंक के रूप में) अर्थव्यवस्था के नियमन तथा नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य तथा सन्तुलित आर्थिक विकास के लिए कार्य कर रही है। भारत में रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India) के बैंकिंग विकास की स्थापना सन 1950 में की गई है जिसका मुख्य उद्देश्य छोटे छोटे कस्बों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विकास करना है, यह विभाग ग्रामीण क्षेत्रों में बचतों को प्रोत्साहित करता है। कृषि साख सम्बन्धी नीति निर्माण हेतु रिजर्व बैंक ने कृषि साख विभाग की स्थापना की है। आवश्यकता पड़ने पर यह विभाग भारत सरकार राज्य सरकार तथा सहकारी संस्थाओं के लिए कृषि साख सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान करता है। सन् 1947 में

भारत सरकार ने विदेशी विनिमय नियन्त्रण एक्ट पास किया। रिजर्व बैंक के इस विभाग द्वारा समस्त विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय किया जाता है।

भारत में बिल बाजार को विकसित करने की दृष्टि से रिजर्व बैंक ने 16 जनवरी 1952 को बिल बाजार योजना प्रारम्भ की जिसके अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों को मुद्दती प्रतिज्ञा पत्रों (Usance Promissory Notes) के आधार पर माँग ऋण प्राप्त करने की सुविधा दी गई थी। सन् 1970 में नई बिल पुनर्कटौती योजना (Bill Re-discounting Scheme 1970) प्रारम्भ की गई। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक उन बिलों की पुनर्कटौती करता है जिन्हें सहमति हो गया था जो सरकारी विभागों को माल की पूर्ति करने से उत्पन्न होते थे। 1976 में रिजर्व बैंक ने अपनी साख संकुचन नीति (Credit Squeeze Policy) के आधार अनुसूचित बैंकों की मूल पुनः कटौती कोटा (Basic Re-discount Quota) तय कर दिया था। सन् 1978 में रिजर्व बैंक ने नवीन बैंक शाखा लाइसेन्स नीति (New Branch Licensing Policy) की घोषणा की जिसमें इन बातों पर जोर दिया गया था

(i) उन क्षेत्रों में बैंक की शाखाएँ जहाँ जहाँ पहले बैंक नहीं थे।
(ii) कमजोर वर्गों को अधिक बैंक साख प्रदान की जाए।
(iii) विकास की विभिन्न योजनाओं में बैंकों की भागीदारी बढ़े।

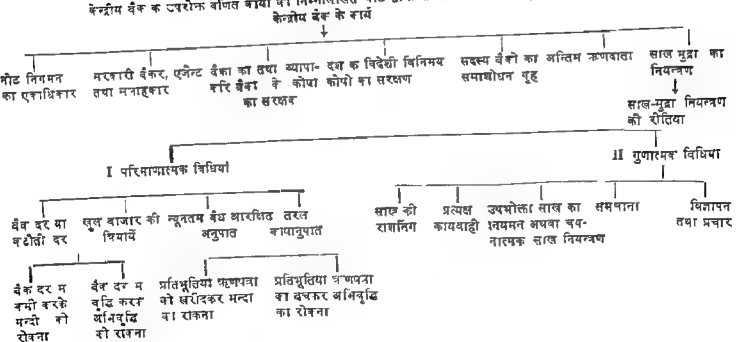
भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान है इसलिए इसका विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि कृषि का विकास नहीं होता। रिजर्व बैंक ने कृषि विकास हेतु कृषि साख विभाग स्थापित किया जिसका मुख्य कार्य कृषि वित्त से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन एवं अनुसंधान करना है। कृषि विकास हेतु रिजर्व बैंक ने दो कोषों की स्थापना की थी—

(i) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष [National Agricultural Credit (Long Term) Operation Fund] जिसकी स्थापना 1 फरवरी 1956 में की गयी।

(ii) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] जिसकी स्थापना 30 जून 1956 को की गई। कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियाएँ) कोष की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य राज्य सरकारों को विभिन्न उद्देश्यों के लिए ऋण प्रदान करना था जैसे —(अ) सहकारी बैंकों एवं प्रारम्भिक कृषि साख समितियों की शेयर पूँजी में हिस्सा लेना (ब) कृषि उद्देश्यों के लिए राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण प्रदान करना (स) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों को खरीदना तथा उन्हें दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना। इसी प्रकार राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष की स्थापना का उद्देश्य राज्य सहकारी बैंकों को मध्यकालीन ऋण विभिन्न उद्देश्यों के लिए देना था जैसे (अ) सूखा बाढ़ आदि प्राकृतिक विपदाओं के समय किसानों के अल्पकालीन ऋणों को मध्यकालीन ऋणों में परिवर्तित करना (ब) कृषि कार्यों हेतु वित्त पोषण करना।

उपर्युक्त दोनों कोषों को 12 जुलाई 1982 को नव-स्थापित कृषि एवं ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय बैंक (National Bank for Agriculture and Rural Development (NABARD) में मिला दिया गया है। इसके अलावा 1963 में स्थापित कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम (Agricultural Refinance and Development Corporation) को भी NABARD में मिला दिया गया है। NABARD ने 'कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम' के सभी कार्य प्राप्त कर लिए हैं। इतना ही नहीं राजकीय सहकारी बैंकों तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों (State Co-orperative Banks and Regional Rural Banks) से सम्बन्धित सभी कार्य NABARD को सौंप दिए गए हैं। कृषि साख के क्षेत्र में NABARD राष्ट्रीय सर्वोच्च संस्था के रूप में सामने आई है।

केन्द्रीय बैंक के उपरोक्त वर्णित कार्यों को निम्नलिखित चार्ट द्वारा समझाया जा सकता है—



औद्योगिक वित्त के विकास हेतु रिजर्व बैंक ने पृथक रूप से औद्योगिक वित्त विभाग की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य दीर्घकालीन औद्योगिक वित्त व्यवस्था में सहायता देना है। इसके अतिरिक्त इसने विभिन्न राज्यों में राज्य वित्त निगमों (State Financial Corporations) की अंश पूँजी में भी भाग लिया है। रिजर्व बैंक इन निगमों को अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करता है। इनके अलावा औद्योगिक साख एवं निवेश निगम तथा पुनर्वित्त निगम (Industrial Credit and Investment Corporation and Refinance Corporation) की स्थापना की गई थी। सन् 1964 में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India IDBI) की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य देश में औद्योगिक विकास में सहायता देना है। इस प्रकार भारत में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया केन्द्रीय बैंक के रूप में सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। देश में मुद्रा बाजार एवं पूँजी बाजार के पर्याप्त विकास के अभाव में रिजर्व बैंक को आशातीत सफलता नहीं मिल पाई है। आने वाले समय में रिजर्व बैंक की निर्णायक एवं और अधिक प्रभावी भूमिका होगी ऐसी आशा हमें करनी चाहिए। रिजर्व बैंक द्वारा तथा औद्योगिक विकास हेतु दिशा निर्देश राष्ट्रीयकृत बैंकों तथा अन्य व्यापारिक बैंकों को देता रहता है।

परीक्षा-प्रश्न

1. केन्द्रीय बैंक क्या है? केन्द्रीय बैंक के कार्यों का विवेचन कीजिए।

   (*What is a Central Bank? Discuss the functions of a Central Bank*)

2. केन्द्रीय बैंक से क्या तात्पर्य है? केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के कार्य बताइए।

   (What do you mean by a Central Bank? Give functions of the Reserve Bank of India as a Central Bank)

   [संकेत—रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है तथा रिजर्व बैंक के विभिन्न कार्यों को जो वह केन्द्रीय बैंक के रूप में करता है, व्याख्या कीजिए। रिजर्व बैंक के कार्यों को अध्याय 19 में दर्शें। इससे पहले इसी अध्याय में अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय बैंक' नामक शीर्षक का matter भी दर्शें।]

3. "साख नियन्त्रण की दृष्टि से खुले बाजार की क्रियाएँ बैंक दर नीति की पूरक हैं।" विवेचना कीजिए।

   (From the standpoint of credit control open market operations are complementary to bank rate policy" Discuss)

   [संकेत—सर्वप्रथम बताइए कि बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाएँ, केन्द्रीय बैंक की परिमाणात्मक विधि के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण विधियाँ है। दोनों की आवश्यकता साख नियन्त्रण के लिए होती है। दोनों में अन्तर बताइए तथा अन्त में निष्कर्ष दीजिए कि दोनों एक दूसरे की पूरक हैं प्रतिस्पर्धी नहीं।]

4. केन्द्रीय बैंक की परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विधियों में अन्तर कीजिए तथा उनके तुलनात्मक महत्त्व को बताइए।

   (Distinguish between quantitative and qualitative methods of credit control and examine their relative importance)

[संकेत—दोनों विधियों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए अन्त में बताइए कि साख नियन्त्रण के लिए कभी-कभी केन्द्रीय बैंक को दोनों प्रकार की विधियों को आंशिक रूप में प्रयोग करना पड़ सकता है।]

5 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही तथा कौन गलत है

(i) जब बैंक दर बढ़ा दी जाती है तो साख संकुचन होता है।
(ii) बैंक दर में कमी साख विस्तार हेतु की जाती है।
(iii) खुले बाजार की क्रियाएँ बैंक दर नीति से श्रेष्ठ होती है।
(iv) खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए मुद्रा बाजार विकसित एवं संगठित होना चाहिए।
(v) केन्द्रीय बैंक आर्थिक अस्थिरता को नियन्त्रित करने में पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं कर सका है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) सही है। (iii) सही है। (iv) सही है। (v) सही है।

बैंक का मुख्य कार्यालय बम्बई में स्थित है। केन्द्रीय कार्यालय में बैंक के प्रधान गणनिक का कार्यालय, सचिव का कार्यालय, वैधानिक विभाग, कृषि साख विभाग, बैंकिंग विकास विभाग, विनिमय नियन्त्रण विभाग तथा अनुसन्धान शास्त्र व संख्या शास्त्र विभाग स्थित है।

देश में केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों को सफलतापूर्वक करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय प्रधान कार्यालय तथा शाखाएँ स्थापित की हैं। नई दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थानीय प्रधान कार्यालय तथा कानपुर, बंगलौर, पटना, हैदराबाद, नागपुर इत्यादि स्थानों पर बैंक ने अपनी शाखायें स्थापित की हैं। इसके अतिरिक्त जयपुर, लखनऊ तथा अन्य स्थानों पर भी रिजर्व बैंक के सार्वजनिक ऋण कार्यालय स्थित हैं। जिन स्थानों में रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं, वहाँ स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा रिजर्व बैंक के कार्यों का सम्पादन किया जाता है। बैंक का एक कार्यालय लन्दन में भी है जिसका कार्य अभिकर्त्ता के कार्यों को करने के अतिरिक्त भारत के उच्च आयुक्त (High Commissioner for India) का हिसाब रखना भी है।

रिजर्व बैंक के विभाग
(Departments of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के वर्तमान समय में विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने के लिए 20 विभाग हैं जो निम्नलिखित हैं —

(1) **चयन या निर्गमन विभाग** (Issue Department)—रिजर्व बैंक का यह प्रमुख विभाग है जिसका मुख्य कार्य नोटों का निर्गमन करना होता है। नोट छापने का कार्य नासिक में स्थित प्रेस में होता है। यह नोटों को देश के विभिन्न सरकारी खजानों में उनकी माँग के अनुसार भेजता है। निर्गमन विभाग की शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता, नागपुर, कानपुर, बंगलौर, हैदराबाद, पटना तथा नई दिल्ली में स्थित हैं।

(2) **बैंकिंग विभाग** (Banking Department)—इस विभाग की स्थापना 1 जुलाई 1950 को हुई थी। इस विभाग का प्रमुख कार्य अनुसूचित बैंकों की कुल जमा पूँजी का एक निश्चित प्रतिशत अपने पास जमा करवाना होता है। यह विभाग अनुसूचित बैंकों के लिए समाशोधन गृह (Clearing House) का भी कार्य करता है। इसके अलावा सरकार के लिए ऋण व्यवस्था तथा अन्य प्रकार के लेन देन का कार्य भी यह विभाग करता है।

(3) **कृषि साख विभाग** (Agricultural Credit Department)—यह विभाग कृषि साख तथा कृषि सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए कार्य करता है।

(4) **बैंकिंग विकास विभाग** (Department of Banking Development)—देश में बैंकिंग सुविधाओं के विकास का कार्य इसी विभाग को सौंपा गया है। ग्रामीण बचतों को प्रोत्साहित करने का दायित्व भी इस विभाग का है।

(5) **बैंकिंग क्रियाओं का विभाग** (Department of Banking Operations)—इस विभाग का मुख्य कार्य अनुसूचित बैंकों का निरीक्षण एवं परामर्श देना है। नये बैंकों को खोलने के लिए यह विभाग लाइसेंस देता है तथा पुराने बैंकों की नई शाखाओं को खोलने की अनुमति भी इसी विभाग से दी जाती है। अनुसूचित बैंक अपनी पूँजी में वृद्धि इस विभाग की पूर्व अनुमति के बिना नहीं कर सकता।

(6) **विनिमय नियन्त्रण विभाग** (Exchange Control Department)—विदेशी विनिमय एवं विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यों की समस्त देख रेख इस विभाग के सुपुर्द होती है। भारत सरकार ने 1947 में विनिमय नियन्त्रण एक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को

विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी कानून एव माग निर्देशन के लिए व्यापक अधिकार प्रदान किए थ । विदेशी विनिमय एव विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यों का देश की अथव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पडता है । इसकी महत्ता को देखते हुए रिजव बैंक ने विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी विभाग की स्थापना की है जिसका काय विनिमय नियन्त्रण क बारे म सरकार द्वारा बनाए गए नियमो का पालन करना एव सरकार की ओर से विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करना होता है ।

(7) औद्योगिक वित्त विभाग (Industrial Finance Department)—इस विभाग का मुख्य काय औद्योगिक वित्त सम्बन्धी मामलो मे राज्य वित्त निगमा को परामश देना तथा छोटे पैमाने और मध्यम श्रेणी के उद्योगो को वित्तीय सहायता देना होता है ।

(8) कानून विभाग (Legal Department)—इस विभाग म कानूनी विशेषज्ञ होते है जो रिजव बैंक को विभिन्न क्षेत्रो पर कानूनी सलाह देते हैं । इस विभाग द्वारा समय समय आदेशो एव विज्ञप्तियो को जारी किया जाता है और उनके कानूनी पहलू पर भी विचार किया जाता है ।

(9) गैर बैंकिंग कम्पनीज विभाग (Non Banking Companies Department) इस विभाग की स्थापना वष 1966 मे हुई और इसका मुख्य कार्यालय कलकत्ता मे स्थित है । जैसा कि इसके नाम से ही विदित है यह विभाग गैर बैंकिंग कम्पनीज एव वित्तीय सस्थाओ के लिए परामशदाता एव उनके कार्यों पर निगरानी रखता है ।

(10) अनुसधान एव सांख्यिकी विभाग (Department of Research and Statistics) इस विभाग का मुख्य काय अथव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो से सम्बधित आकडो का सकलन कर उन्हे प्रकाशित करना होता है । रिजव बैंक के विभिन्न प्रकाशनो के माध्यम से यह विभाग रिजव बैंक की मौद्रिक वित्तीय एव उत्पादन सम्बन्धी नीतियो का प्रचार करता होता है । इससे सरकार को अपनी आर्थिक एव वित्तीय नीतियो के निर्माण म काफी सहायता मिलती है ।

रिजर्व बैंक के कार्य
(Functions of the Reserve Bank)

रिजव बैंक का प्रमुख काय सरकार की आर्थिक नीति के अनुसार भारतीय मुद्रा प्रणाली का इस प्रकार नियमन करना है कि आर्थिक स्थिरता के साथ देश की अथव्यवस्था का सन्तुलित आर्थिक विकास सम्भव हो सके । सक्षप म बैंक के प्रमुख काय निम्न है —

(1) कागजी मुद्रा का निर्गमन (Issue of Paper Currency)

रिजव बैंक आफ इण्डिया को देश म नोट प्रचलन का पूण एकाधिकार प्राप्त है । नोट प्रचलन काय बैंक का नोट प्रचलन विभाग करता है पहले स्वण तथा विदेशी ऋण पत्रो के आरक्षणो के आधार पर नोटो का प्रचलन करता था ।

आरम्भ म अधिनियम के अनुसार नोटो का प्रचलन अनुपाती आरक्षित प्रणाली (Proportional Reserve System) के अनुसार किया जाता था । अधिनियम के अनुसार कुल नोट प्रचलन राशि का 40% स्वण धातु स्वण सिक्का तथा विदेशी ऋणपत्रो के रूप म तथा शेष 60% भारत सरकार के रुपया ऋणपत्रो सरकारी सिक्का तथा रुपयो के रूप मे रक्षित कोष मे रखना आवश्यक था । नोट प्रचलन की अनुपाती आरक्षित प्रणाली देश मे लगभग 20 वष से अधिक समय तक विद्यमान रही ।

सन् 1957 मे योजना को सफल बनाने के कारण अनुपाती आरक्षित प्रणाली को विद्यमान रखना कठिन हो गया । अनुपाती आरक्षित प्रणाली के अन्तगत अधिक मुद्रा का

प्रचालन जो योजना की पूर्ति के लिए आवश्यक था आरक्षणों में स्वर्ण अथवा विदेशी ऋण-पत्रों को बढ़ाये बिना सम्भव नहीं था। वास्तव में विदेशी आयातों में वृद्धि होने के कारण रिजर्व बैंक के विदेशी विनिमय आरक्षणों में कमी होती जा रही थी। अतः अक्टूबर 1956 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में पर्याप्त संशोधन करने के उपरान्त अनुपाती आरक्षित प्रणाली का परित्याग करके न्यूनतम आरक्षित प्रणाली को अपना लिया गया। जिसके अनुसार रक्षित कोष में 115 करोड़ रु० की राशि का स्वर्ण तथा 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा न्यूनतम आरक्षण निर्धारित की गयी। परन्तु दुर्भाग्यवश विदेशी ऋणपत्रों की मात्रा कुछ ही समय पश्चात् 400 करोड़ रुपये की न्यूनतम राशि से भी कम हो गयी। ऐसी चिन्ताजनक स्थिति में रिजर्व बैंक अधिनियम में पुनः संशोधन करना आवश्यक हो गया अतः कुछ समय पश्चात् रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (द्वितीय संशोधन) अधिनियम बना जिसके अनुसार रिजर्व बैंक के प्रचालन विभाग आरक्षित कोषों में स्वर्ण की राशि और विदेशी ऋणपत्रों की न्यूनतम राशि 400 करोड़ से घटाकर 200 करोड़ कर दी गयी जिसमें 115 करोड़ रुपये का सोना अथवा सोने के सिक्के तथा 85 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ होना आवश्यक था।

चलन तिजोरियाँ (Currency Chests)

रिजर्व बैंक की चलन तिजोरियों से आशय उन तिजोरियों से है जो मुद्रा की पूर्ति हेतु होती हैं और उनमें नोट होते हैं। देश भर में ऐसी 3506 चलन तिजोरियाँ हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की शाखाएँ सभी स्थानों पर नहीं हैं इसलिए स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया उसके सहायक बैंकों तथा राष्ट्रीयकृत बैंकों की प्रमुख शाखाओं में इस प्रकार की तिजोरियाँ रहती हैं इन चलन तिजोरियों के अलावा 487 स्थानों पर 34 तिजोरियाँ (Sub chests) रहती हैं जो मुद्रा डिपो भी कहलाती हैं। रिजर्व की शाखाएँ जहाँ नहीं हैं वहाँ स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा अन्य राष्ट्रीयकृत बैंक रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं। जब कभी व्यापारिक बैंकों को रोकड़ की आवश्यकता होती है तो इसकी पूर्ति के लिए वे उस बैंक से सम्पर्क करते जिसके पास चलन तिजोरी है। रिजर्व बैंक का प्रतिनिधि सम्बन्धित व्यापारिक बैंक से इस मात्रा की जमानत के रूप में अनुमोदित प्रतिभूतियाँ तथा विनिमय बिलों को (Bills of exchange) रखवा लेता है तथा चलन तिजोरी में से मुद्रा निकालकर व्यापारिक बैंक को दे देता है।

चलन तिजोरियों में से जितनी धनराशि निकाली गई है उसका हिसाब चलन तिजोरी रखने वाले बैंक को रखना पड़ता है। जब कोई बैंक चलन तिजोरी में जो भी पैसा लाता उसे रिजर्व बैंक के नाम लिख दिया जाएगा और धनराशि वापसी के समय भी ऐसी धनराशि रिजर्व बैंक की जमा के रूप में अंकित कर दी जाएगी। जितनी धनराशि इस चलन तिजोरी से निकाली जाती है उसे ही मुद्रा की पूर्ति में शामिल किया जाता है। जो भी धनराशि चलन तिजोरी में रहेगी वह मुद्रा की पूर्ति नहीं मानी जाएगी। सम्बन्धित प्रतिनिधि बैंक इस चलन तिजोरी का हिसाब रखता है तथा इसकी सूचना रिजर्व बैंक कार्यालय में सप्ताह में एक बार या फिर जैसे भी निर्देश रिजर्व बैंक दे उसी के अनुसार भेजता रहता है चलन तिजोरियों का हिसाब लगाते समय तिजोरियों में जमा धनराशि रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग में जमा समझी जाती है।

वर्तमान समय में भारत के रिजर्व बैंक द्वारा 2, 5, 10, 20, 50, 100, 500 रुपये के नोट निर्गमित किये जाते हैं। जबकि उसे 1,000, 5,000 तथा 10,000 रुपये के नोट निर्गमन का अधिकार मिला हुआ है। सन् 1977 में अवैध स्थानों से काले धन की समाप्ति के लिए अभियान चलाया गया था। उस समय यह समझा जाने लगा कि काले धन की अधिकांश राशि 1,000, 5,000 तथा 10,000 रुपये के नोटों में छिपाकर रखी

अत रिजर्व बैंक के सामने साख नियन्त्रण की एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी। इस समस्या को हल करने के लिए 15 नवम्बर 1951 को बैंक ने बैंक दर म ½% (अर्थात 3 प्रतिशत से बढ़ाकर 3½%) की वृद्धि की साथ ही रिजर्व बैंक ने यह भी घोषणा की कि वह इस तिथि से सरकारी प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण देगा परन्तु उन्हें खरीदेगा नहीं। इस प्रकार रिजर्व बैंक ने साख नियन्त्रण करने के उद्देश्य से बैंक दर में पहली बार वृद्धि की। इस वृद्धि का तत्कालिक प्रभाव यह हुआ कि मुद्रा बाजार में साख मुद्रा महँगी हो गई तथा बैंकों ने अपनी उधारदान में वृद्धि कर दी। इसके अतिरिक्त बैंकों ने व्यापारियों को निश्चय राय के लिए अग्रिम देने बन्द कर दिए।

16 मई 1957 को रिजर्व बैंक अपनी बैंक दर 3½% से बढ़ाकर 4 प्रतिशत कर दिया और बाद में 2 जनवरी 1963 को इसे 4 प्रतिशत से बढ़ाकर 4½ प्रतिशत कर दिया। इसका मुख्य उद्देश्य उस समय प्रचलित मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित एवं नियमित करना था। बढ़ती हुई मुद्रा स्फीति को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से रोकने के लिए 26 सितम्बर 1964 तथा 17 फरवरी 1965 को बैंक दर बढ़ाकर क्रमश 5% और 6% कर दी। लेकिन 2 मार्च 1968 को रिजर्व बैंक ने बैंक दर घटाकर 6% से 5% कर दिया। 8 जनवरी 1971 को पुन बढ़ाकर 5% से 6% कर दी गयी। 30 मई 1973 को बढ़ाकर 7% कर दी गई तत्पश्चात् 23 जुलाई 1974 को बैंक दर में पुन वृद्धि कर 9% कर दी गयी। बैंक दर में विभिन्न वर्षों में जो वृद्धि अथवा कमी की गई उसे हम तालिका द्वारा आसानी से समझ सकते हैं

भारत में बैंक दर

परिवर्तन की तिथि	बैंक दर
15 नवम्बर 1951	3 5%
16 मई 1957	4 0%
2 जनवरी 1963	4 5%
26 सितम्बर 1964	5%
17 फरवरी 1965	6%
4 मार्च 1968	5%
8 जनवरी 1971	6%
30 मई 1973	7%
23 जुलाई 1974	9%
11 जुलाई 1981	10%

27 फरवरी 1982 को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने घोषणा की कि अनुसूचित बैंकों द्वारा जमा धनराशि पर 0 5 प्रतिशत से 1 5 प्रतिशत ब्याज की धनराशि 1 मार्च 1982 से दय होगी।

रिजर्व बैंक ने बैंक दर जो 23-7-74 को 9 प्रतिशत घोषित की थी उसको बढ़ा कर 10 प्रतिशत कर दिया गया है। सरकार ने आशा की है कि वर्ष 1981-82 के अन्तर व्यावसायिक क्षेत्र में साख विस्तार की गति 19 प्रतिशत रहेगी जो देश के उत्पादन क्षेत्र के लिए उसकी साख सम्बन्धी वैधानिक माँग को पूरा कर सकेगी। वर्ष 1981-82 में बैंक औसत साख का 36% (Aggregate Bank Credit) प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को दिया जाएगा जबकि 1979 में इन क्षेत्रों को औसत बैंक साख का 33% ही मिलता था। छठी पंचवर्षीय योजना के अन्त तक यह बढ़कर 40% करने का विचार था। 1 मार्च 1982 से बैंक ने निश्चित कालीन बचत खाता पर थोड़ी सी वृद्धि कर दी है। अनुसूचित व्यापारिक बैंकों ने यह वृद्धि 5% से 1 5% तक की है। यह वृद्धि दर नये बचत खाता

एव पुराने बचत खातो की परिपक्वता पर लागू होगी। निम्न तालिका द्वारा निश्चित कालीन बचत खातो पर ब्याज की दरो का दिखलाया जा सकता है —

निश्चित कालीन बचत	2 मार्च 1981 से लागू	1 मार्च 1982 से लागू
15 दिन से 45 दिन तक	2 5%	3%
46 दिन से 90 दिन तक	3 0%	4%
91 दिन से 6 महीने तक	4 0%	5%
6 महीने से अधिक तथा 9 माह से कम	4 5%	6%
9 महीने से अधिक परन्तु 1 वर्ष से कम	5 5%	7%
1 वर्ष से अधिक परन्तु दो वर्ष से कम	7 5%	8%
2 वर्ष से अधिक परन्तु तीन वर्ष से कम	8 5%	9%

(ii) **खुले बाजार की क्रियाएँ**—देश मे साख नियन्त्रण करने के लिए केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाएँ भी अपनाते है। खुले बाजार की क्रिया से अभिप्राय है कि देश का केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियो प्रथम श्रेणी के बिलो एव प्रतिज्ञा पत्रो का क्रय विक्रय करता है। रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण करने के लिए भारतीय मुद्रा बाजार मे समय समय पर सरकारी ऋणपत्रो का क्रय विक्रय करता है। दूसरे युद्ध से पूर्व रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाएँ केवल सीमित मात्रा मे ही हुआ करती थी। उस समय इन क्रियाओ का उद्देश्य मुद्रा बाजार मे होने वाली मौसमी कमी को दूर करना था। युद्ध काल मे भी खुले बाजार की क्रियाओ मे विशेष वृद्धि नही हुई। युद्ध के पश्चात् केन्द्रीय बैंक द्वारा देश मे साख मुद्रा का नियमन करने हेतु बड़े पैमाने पर खुले बाजार की क्रियाए अपनायी गयी। अब भी मुद्रा बाजार की परिस्थिति को देखते हुए केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक) समय-समय पर खुले बाजार की क्रियाएँ अपनाता है।

(iii) **परिवर्तनीय आरक्षित अनुपात** (Variable Reserve Ratio)—प्रारम्भ मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम के अनुसार सभी अनुसूचित बैंको को अपनी कुल जमाओ तथा मियादी जमाओ का 5 प्रतिशत तथा 2 प्रतिशत न्यूनतम वैधानिक आरक्षित अनुपात के रूप मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के पास नकदी के रूप मे जमा कराना पड़ता था। सन 1956 मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम मे सभी बैंको पर अधिक नियन्त्रण करने के उद्देश्य से इस अधिनियम मे सशोधन किया गया।

इस सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को यह अधिकार दिया गया कि वह अनुसूचित बैंको की माँग तथा मियादी जमाओ सम्बन्धी न्यूनतम वैध आरक्षित अनुपात मे क्रमश 5% से 20% और 2% से 8% तक वृद्धि कर सकता है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह न्यूनतम प्रतिशत के अलावा कुछ और भी नकद कोष जमा करने के लिए आदेश दे सकता है।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट मे 1962 मे एक और सशोधन हुआ जिसके अनुसार रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के पास न्यूनतम वैधानिक आरक्षित अनुपात मे सभी प्रकार की जमाओ पर 3 प्रतिशत जमा कराना होगा परन्तु रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को यह भी अधिकार दिया कि वह चाहे तो इसे बढाकर 15% तक कर सकता है। वर्तमान समय मे यह 15% है।

साख नियन्त्रण उद्देश्य से नकद कोषो मे परिवर्तन करने की नीति को रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने समय-समय पर अपनाया है। 29 जून 1973 को अनुसूचित बैंको द्वारा रिजर्व बैंक के पास रखी जाने वाली न्यूनतम राशि का अनुपात 3 से बढाकर 5% कर दिया। तत्पश्चात 8 सितम्बर 1973 को यह अनुपात 6% तथा 22 सितम्बर 1973 से यह प्रतिशत 7% कर दिया था। वर्ष 1982 83 के लिए यह अनुपात 8% था। वर्तमान समय मे यह 15% है।

(iv) तरलता अनुपात अथवा वैधानिक तरलता अनुपात (Liquidity Ratio or Statutory Liquidity Ratio SLR)—इसके अन्तर्गत समस्त अनुसूचित बैंकों को अपनी सम्पत्ति का एक निश्चित भाग तरल मुद्रा के रूप में रखना पड़ता है। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया देश के केन्द्रीय बैंक की भाँति साख नियमन के लिए वैधानिक तरलता अनुपात में परिवर्तन करके साख का नियन्त्रण करता है। 28 नवम्बर 1978 को रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया ने अनुसूचित बैंकों को यह आदेश दिया था कि वे अपने वैधानिक तरलता अनुपात को 33% से बढ़ाकर 34% कर दें। जिसे व्यापारिक बैंकों ने मान लिया। वर्ष 1989 में इसे बढ़ाकर 38% कर दिया गया है जो वर्तमान समय तक लागू है। मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण के लिए रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया इसका प्रयोग करता है।

(v) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)—चयनात्मक साख नियन्त्रण से अभिप्राय उस नियन्त्रण से है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए ही सदस्य बैंकों को साख प्रदान करता है। वास्तव में एक नियोजित एवं विकासशील अर्थव्यवस्था में चयनात्मक साख नियन्त्रण अनिवार्य हो जाता है क्योंकि नियोजन में कुछ उद्देश्यों को प्राथमिकता दी जाती है।

रिज़र्व बैंक भी कुछ वर्षों से साख नियन्त्रण के लिए चयनात्मक साख नियन्त्रण का प्रयोग कर रहा है। उदाहरणार्थ सन् 1956 में भारत में सट्टेबाजी की अत्यधिक प्रोत्साहन मिला जिससे देश के कीमत स्तर में अत्यधिक वृद्धि हुई। इस वृद्धि को रोकने के लिए रिज़र्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को यह आदेश दिया था कि वह सट्टेबाजी के लिए साख प्रदान न करें। इसी प्रकार भारतीय व्यापारियों में खाद्य पदार्थों के संग्रह करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए अनुसूचित बैंकों को यह आदेश दे रखे हैं कि वे खाद्य पदार्थों की आड़ पर व्यापारियों को कम से कम मात्रा में ऋण प्रदान करें। इसी प्रकार समय-समय पर अन्य वस्तुओं के संग्रह को रोकने के लिए अनुसूचित बैंकों को उनकी आड़ पर कम ऋण देने के आदेश दिये थे। 7 अप्रैल 1982 रिज़र्व बैंक ने कपड़ा उद्योग में अधिक स्टॉक जमा होने तथा कम बिक्री होने के कारण धरोहर पर ऋण देने के मूल्यान्तर (Margin) में 10% छूट देने की घोषणा की थी जिससे इस उद्योग में मन्दी का वातावरण न पनप सके।

इसके अलावा भी रिज़र्व बैंक चयनात्मक साख नियन्त्रण विधि के अन्तर्गत कुछ क्षेत्रों में ऋण देने पर प्रतिबन्ध लगाता तथा अनुसूचित बैंकों को यह भी आदेश समय-समय पर दिये हैं कि अमुक राशि से अधिक कोई भी बैंक ऋण देता है तो उसकी पूर्व अनुमति उसे रिज़र्व बैंक से लेना होगा।

(vi) नैतिक प्रभाव की नीति—उपरोक्त नीतियों के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक अपने सदस्य बैंकों को समझा-बुझाकर अपनी निश्चित नीति का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रिज़र्व बैंक समय-समय पर सदस्य बैंकों के प्रतिनिधियों की सभा बुलाता है और समय-समय पर सदस्य बैंकों को परिपत्र भेजकर भी उन्हें साख की मात्रा को नियन्त्रित करने का सुझाव देता है। उदाहरण के लिए सितम्बर 1949 में भारतीय रुपये का अवमूल्यन के पश्चात् रिज़र्व बैंक के गवर्नर ने देश के सभी प्रमुख बैंकों के प्रतिनिधियों की सभा बुलाई थी और उनसे अनुरोध किया था कि वे सट्टे के कार्यों के लिए व्यापारियों को साख प्रदान न करें।

(3) सरकारी बैंकर, प्रतिनिधि एवं सलाहकार (Government Banker Agent and Adviser)

देश में मुद्रा प्रचलन का एकाधिकार प्राप्त होने तथा साख मुद्रा का नियमन करने की शक्तियाँ प्राप्त होने के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया देश में केन्द्रीय तथा राज्य

सरकारों के प्रति बैंकर का कार्य भी करती है। यह सरकार को आर्थिक मौद्रिक सम्बन्धी मामलों में परामर्श भी देती है। सरकारी बैंकर होने के नाते रिजर्व बैंक का कार्य सरकारी ऋणपत्र बाजार में सरकार की उधार तथा भुगतान नीतियों को सफल बनाना होता है। यह केन्द्रीय व राज्य सरकारों की ओर से कर्जों का चालू करती है तथा उनके कर्जों की राशि तथा कर्जों को चालू करने के समय सम्बन्धी परामर्श भी देती है। यह सार्वजनिक ऋण का प्रबन्धन भी करती है। रिजर्व बैंक आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार की ओर से टेण्डर द्वारा साप्ताहिक नीलाम में राजकोष पत्रों को भी बेचती है। रिजर्व बैंक केन्द्रीय व राज्य सरकारों को अल्पावधि ऋण भी देती है जिनका भुगतान ऋण देने की तारीख से तीन महीने के भीतर किया जाता है। सरकार बहुधा नए कर्जों को चालू करने धन के निवेश कृषि साख औद्योगिक वित्त तथा नियोजन एवं आर्थिक विकास सम्बन्धी वित्तीय समस्याओं आदि विषयों पर रिजर्व बैंक से परामर्श प्राप्त करती है।

(4) विदेशी विनिमय की व्यवस्था (Regulation of Foreign Exchange)

रिजर्व बैंक मुद्रा के विनिमय मूल्य को स्थिर रखता है। रुपए के विनिमय मूल्य को निर्धारित दर पर स्थिर बनाए रखने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार निर्धारित विनिमय दर पर विदेशी विनिमय दर का क्रय विक्रय करती है। रिजर्व बैंक भारत के विदेशी विनिमय एवं मुद्राओं तथा स्वर्ण एवं अन्य बहुमूल्य धातुओं का संरक्षक भी होता है।

(5) बैंकों की बैंक (Banker's Bank)

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया देश में अन्य बैंकों के प्रति बैंक का कार्य करती है। बैंकों के बैंक के रूप में रिजर्व बैंक अन्य बैंकों के प्रति वे सब कार्य करती है जो कोई बैंक अपने ग्राहकों के प्रति करती है। अन्य शब्दों में यह बैंकों से जमा स्वीकार करती है उनको कर्ज देती है उनके प्रति शोधन गृह का कार्य करती है तथा अन्तिम ऋणदाता के रूप में कठिनाई के समय उनको वित्तीय सहायता प्रदान करती है। यह बैंकों को कठिनाई के समय परामर्श भी देती है।

(6) अन्तिम ऋणदाता (Lender of the Last Resort)

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना के बाद उसने अन्य अनुसूचित बैंकों के लिए अन्तिम ऋणदाता की भूमिका निभायी है। जैसा कि बताया जा चुका है कि प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी माग जमाओं तथा मियादी जमाओं (Demand Liabilities and Time Liabilities) का कुछ भाग रिजर्व बैंक के पास जमा करवाना होता है अर्थात् न्यूनतम आरक्षित अनुपात (VRR) तथा कानूनी तरल कोषानुपात (SLR) जो कि वर्तमान समय में 15% तथा 38% है। इस प्रकार रिजर्व बैंक के पास अनुसूचित बैंकों के पर्याप्त कोष पहुँचते रहते हैं और इन्हीं में से वह आवश्यकता पड़ने पर अनुसूचित बैंकों को ऋण प्रदान करता रहता है। संकटकालीन परिस्थितियों में अनुसूचित बैंकों के लिए रिजर्व बैंक ही अन्तिम ऋणदाता की भूमिका निभाता है।

(7) समाशोधन गृह कार्य (Clearing House Functions)

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया देश का केन्द्रीय बैंक है इसलिए यह विभिन्न बैंकों के लिए समाशोधन गृह का कार्य करता है। जहाँ रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है वहाँ स्टेट बैंक आफ इण्डिया रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि के रूप में समाशोधन गृह की सुविधाएँ प्रदान करता है।

औद्योगिक विकास बैंक आफ इण्डिया (Industrial Development Bank of India) जिसकी स्थापना 1 जुलाई 1964 को हुई थी पूर्णतया रिजर्व बैंक का सहायक है। इस बैंक का उद्देश्य लघु तथा विभिन्न क्षेत्रों की औद्योगिक इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने एक राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष (National Industrial Credit Longterm Operation Fund) 1 जुलाई 1964 को स्थापित किया था। इस कोष का उपयोग रिजर्व बैंक औद्योगिक विकास बैंक द्वारा जारी किये गये बाण्ड और डिबेंचरों को खरीदने तथा औद्योगिक विकास बैंक को अन्य वित्तीय संस्थाओं के अंशों, बाण्ड तथा डिबेंचरों को खरीदने के लिए ऋण देने में किया जा सकता है।

लघु उद्योगों को सहायता प्रदान करने के लिये रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने सरकार की ओर से एक गारण्टी योजना भी चालू कर रखा है जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक अधिकतम निश्चित राशि तक अन्य बैंकों द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों के भुगतानों की गारण्टी करता है। यह योजना 1960 में लागू की गयी थी। जिसको साख गारण्टी योजना (Credit Guarantee Scheme) कहा जाता है। यह योजना शीर्ष सहकारी बैंकों (Apex Co operative Banks) द्वारा लघु उद्योगों को दिये गये सभी प्रकार के ऋणों पर लागू होती है। इसके अतिरिक्त 1964 में आरम्भ में यूनिट ट्रस्ट आफ इण्डिया की स्थापना करने में भी रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण भाग लिया है। लघु उद्योगों के लिए एवं लघु उद्योगों के विकास के लिए 100 करोड़ रुपये की पूंजी से लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना हुई जिसको IDBI से भी सहायता मिलेगा।

रिजर्व बैंक तथा कृषि वित्त
(Reserve Bank and Agricultural Finance)

देश में कृषि विकास के लिये सभी सम्भव सहायता देने के उद्देश्य से 1935 में आरम्भ से ही रिजर्व बैंक आफ इण्डिया में एक कृषि साख विभाग को स्थापित किया गया। कृषि को वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंकों को कृषि हुण्डियों की जमानत पर 15 महीने के लिए बैंक दर से भी कम ब्याज दर पर ऋण देता है। मौसमी कृषि कार्यों तथा फसलों को वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु रिजर्व बैंक ने राज्य सहकारी बैंकों को बैंक दर से 2% नीची ब्याज दर पर 1967-68 में 314.16 करोड़ रुपये की राशि की स्वीकृति प्रदान की थी।

संक्षेप में रिजर्व बैंक कृषि वित्त सम्बन्धी निम्न कार्य करता है—

(1) यह बैंक राज्य सहकारी बैंकों तथा भूमि विकास बैंकों को स्वीकृत प्रतिभूतियों एवं ऋणपत्रों के आधार पर अल्पकालीन साख प्रदान करता है।

(2) यह बैंक लाइसेंस प्राप्त गोदामों में रखी गई कृषि उपज के आधार पर ऋण देता है।

(3) कृषि कार्यों के आधार पर दिये गये ऋणों पर ब्याज में 2% की छूट दी जाती है।

(4) भूमि विकास बैंकों के ऋणपत्रों को खरीदकर उनकी कार्यशील पूंजी को बढ़ाने में योगदान देता है।

(5) बैंक राज्य सहकारी बैंकों को दीर्घकालीन ऋण देता है कि वह सहकारी साख संस्थाओं के अंश खरीद सकें।

(6) बैंक राज्य सहकारी बैंकों के कृषि बिलों को पुनः कटौती करता है तथा उनके आधार पर ऋण भी प्रदान करता है। परन्तु इस प्रकार के बिल 15 माह की अवधि में परिपक्व हो जाने चाहिए।

फरवरी 1956 में कृषि को और अधिक सहायता देने के लिये नये कोषों की स्थापना की गई थी—

(1) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit Long-Term Fund)

(2) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष (National Agricultural Credit Stabilisation Fund)

इन कोषों की सहायता से राज्य सहकारी बैंकों के साधनों में काफी वृद्धि हुई है। 30 जून 1977 तक राष्ट्रीय कृषि साख कोष में कुल धनराशि 334 करोड़ रुपये थी। सन् 1975-76 में रासायनिक खाद की खरीद एवं उसके वितरण के लिए भी रिजर्व बैंक ने 28.20 करोड़ रुपये स्वीकार किये थे।

सूखाग्रस्त क्षेत्रों में भी रिजर्व बैंक ने कृषि विकासार्थ मध्यमकालीन ऋण प्रदान किये हैं, जिनकी राशि 1977-78 में 81.32 करोड़ रुपये थी। विगत कुछ वर्षों से रिजर्व बैंक ने भूमि विकास बैंकों को भी मध्यमकालीन ऋण प्रदान किये हैं।

सन् 1963 में रिजर्व बैंक ने एक कृषि पुनर्वित्त निगम स्थापित किया था जिसे अब पुनर्वित्त एवं विकास निगम कहा जाता है। इस निगम का उद्देश्य कृषि, लघु सिंचाई, मुर्गीपालन एवं मछली पालन आदि है। इस निगम को केन्द्रीय बैंक ने सन् 1874-75 में 40 करोड़ रुपये के एवं 1979-80 में 85 करोड़ रुपये के दीर्घकालीन ऋण प्रदान किये हैं।

12 जुलाई, 1982 को कृषि एवं ग्रामीण विकास का दायित्व कृषि एवं ग्रामीण विकास [redacted] राष्ट्रीय बैंक (NABARD) को मिल गया है। अब केन्द्र सरकार द्वारा राष्ट्रीयकृत एवं ग्रामीण बैंकों द्वारा दी जाने वाली ऋण साख प्राथमिकताएँ निर्धारित की जाती हैं। अब दोनों कोषों, राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष तथा राष्ट्री कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष का विलय NABARD में हो चुका है। अब कृषि एवं ग्रामीण विकास की साख हेतु रिजर्व बैंक के स्थान पर NABARD अपना दायित्व निभा रहा है। नाबार्ड (NABARD) की स्थापना से ग्रामीण एवं कृषि विकास के लिए एक शीर्ष संस्था की स्थापना हुई है। अब नाबार्ड ग्रामीण एवं कृषि विकास के लिए बहुत से ऋणों के पुनर्वित्त की व्यवस्था करता है। भारत जैसे कृषि प्रधान एवं ग्रामीण बाहुल्य अर्थव्यवस्था वाले देश के लिए इस प्रकार की शीर्ष संस्था की आवश्यकता बहुत दिनों से महसूस की जा रही थी।

रिजर्व बैंक की सफलताएँ
(Achievements of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक की सफलता का मूल्यांकन निम्न तथ्यों से लगाया जा सकता है —

(1) **सरकार के बैंकर के रूप में**— रिजर्व बैंक ने सरकारी बैंकर के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सरकारी आय-व्यय का सम्पूर्ण लेने-देन का ब्यौरा यह रखता है। सरकार के लिए पर्याप्त आय जुटाने की दृष्टि से यह उसके लिए ऋण उपलब्ध कराता है। समय-समय पर केन्द्रीय सरकार के लिए ऋण लेने एवं उनके भुगतान तथा ब्याज आदि की अदायगी की R. B. I. हिसाब रखता है।

(2) **सरकार का परामर्शदाता**—रिजर्व बैंक के पास अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों का दल होता है जो अपनी विशेषज्ञ सेवाएँ समय-समय पर प्रदान करते हैं। केन्द्र सरकार के आदेश पर यह विशेषज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे IMF, IBRD, तथा अन्य देशों की सरकारों का तथा देश में जीवन बीमा निगम, यूनिट

ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, कृषि पुनर्वित निगम औद्योगिक विकास बैंक, स्टट बैंक तथा क्षेत्रीय किसान ग्रामीण बैंको आदि न काय कर रहे ह।

(3) औद्योगिक वित्त दश क औद्योगिक विकास रा सुधार रूप तथा सतुलित रचन की दृष्टि स उद्योगा क लिए अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋणा को उपलब्ध करान क लिए विभिन्न वित्त निगमा को सहायता प्रदान की है।

(4) कृषि वित्त रिजव बैंक की स्थापना क तुरन्त बाद ही इसन कृषि क विकास क लिए कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना की। साथ ही दश म क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (Regional Rural Bank) की स्थापना द्वारा भी कृषि क्षेत्र के विस्तार क लिए काफी प्रयत्न किए है।[1]

(5) समाशोधन गृहा की व्यवस्था—रिजव बैंक न विभिन्न बैंक द्वारा आपसी लेन-दन क निपटारे के लिए समाशोधन गृहा की स्थापना की है। वतमान समय म लगभग 100 अधिक समाशोधन गृह स्थापित किए गए है। जहाँ R B I क कार्यालय नहीं ह वहाँ स्टट बैंक रिजव बैंक के प्रतिनिधि क रूप म यह सुविधा प्रदान करता है। इस गृह म एक निश्चित तिथि पर सभी बैंको क प्रतिनिधि एकत्रित होत ह और आपसी लेन-देन को नकद न करक चैको के माध्यम स दनदारा एव लनदारा निपटात ह।

(6) अथव्यवस्था मे महत्वपूण क्षत्रो क आंकडो का प्रकाशन—रिजव बैंक अर्थ-व्यवस्था क महत्वपूण क्षेत्रा जैस मुद्रा एव साख बैंकिंग सहकारिता विभिन्न क्षेत्रा क उत्पादन सम्बन्धी आंकडा का सकलन कर उन्ह प्रकाशित करता ह। इसस अथव्यवस्था की आधुनिक एव वतमान स्थिति की जानकारी मिलती रहती ह तथा सरकार का इन क्षेत्रा मे अपनी नीतिया क निर्माण म इन आंकडा स काफी सहायता मिलती है।

(7) विदेशी विनिमय के सरक्षक का कार्य—रिजव बैंक न विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्यों म महत्वपूर्ण योगदान दिया। सम्पूण विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय तथा विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी सभी काय इसी क द्वारा म सम्पन्न होते है। देश की बहुमूल्य धातुओं क सरक्षक क अलावा यह विदेशी विनिमय कोषो का सरक्षक होता है। यह विनिमय दरा क निधारण सम्बन्धी काय पर भी नजर रखता है। यह सरकार को समय समय पर विदेशी विनिमय कोषो की स्थिति की जानकारी भी देता है। आयात एव निर्यात सम्बन्धी कार्यों क लिए भी रिजव बैंक स लाइसेंस प्राप्त करना जरूरी है।

(8) देश के बैंकिंग विकास म सहायता—रिजव बैंक न अधिनियम क अनुसार इसन विभिन्न बैंको की शाखा विस्तार तथा बैंकिंग क्रियाओ द्वारा बैंकिंग विकास किया है।

उपयुक्त कार्यों क अलावा धन क स्थानान्तरण सम्बन्धी सुविधाएँ साख नियन्त्रण तथा बैंकिंग विकास आदि क लिए भी रिजव बैंक का योगदान महत्वपूण है। देश म शीर्ष बैंक क नात भी रिजव बैंक की सेवाएँ सराहनीय रही ह।

रिजर्व बैंक की असफलताएँ
(Failures of the Reserve Bank)

इसकी असफलताओ को निम्नलिखित तथ्यो म आंका जा सकता है —

(1) मुद्रा बाजार मे समन्वय का अभाव—भारतीय मुद्रा बाजार क विभिन्न अंगो अर्थात् सगठित एव असगठित मुद्रा बाजारो क बीच समन्वय का अभाव पाया जाता है। अधिकाश मुद्रा बाजार का क्षेत्र असगठित ह और इस पर रिजव बैंक का कोई प्रभाव नहीं

1. अधिक विवरण क लिए रिजव बैंक तथा कृषि वित्त शीर्षक देखिए।

रहता। रिजर्व बैंक को अपनी नीतियो के क्रियान्वयन मे इस कारण भी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है।

(2) साख नियन्त्रण मे कठिनाई—रिजर्व बैंक को साख मुद्रा के नियमन म काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है हालांकि रिजर्व बैंक ने समय-समय पर विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को अपनाया है। इस क्षेत्र म रिजर्व बैंक की असफलता की चर्चा हमने इसी अध्याय म की है।

(3) ब्याज की दरों मे असमानताएँ—रिजर्व बैंक की भारतीय मुद्रा बाजार के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण एव समन्वय के अभाव म यहा के मुद्रा बाजार म ब्याज की दरों म भिन्नता पाई जाती है। जब तक कि रिजर्व बैंक का देशी बैंकर्स एव असगठित मुद्रा बाजार पर अपना प्रभाव नहीं होता तब तक ब्याज की दरों की यह असमानताएँ बनी रहेगी।

(4) बैंकिंग सुविधाओं का असतुलित विकास—रिजर्व बैंक की स्थापना के 47 वर्षों के बाद भी देश म बैंकिंग सुविधाओं का सन्तुलित विकास नहीं हो पाया है। स्टेट बैंक तथा 20 व्यापारिक बैंको के राष्ट्रीयकरण के बाद देश म इनकी शाखाओं का विस्तार काफी हुआ है परन्तु बहुत से क्षेत्र ऐसे भी हैं जहाँ आवश्यकताओं के अनुरूप बैंकिंग सुविधाएँ जनता के बहुसख्यक वर्ग तक नहीं पहुँच सकी हैं। इस ओर अभी प्रयास करना शेष है।

(5) मुद्रा स्फीति को रोकने म असमर्थ—रिजर्व बैंक अपनी नीतियों के माध्यम से मुद्रा स्फीति जैसी घातक बुराई पर अकुश पूर्णतया नहीं लगा पाया है। आशा है कि रिजर्व बैंक अपनी साख एव मुद्रा की पूर्ति की व्यवस्थाओं द्वारा मुद्रा-स्फीति जैसी बुराई पर काबू पा लेगा। अप्रैल, 1982 तक सरकार का दावा है उसने मुद्रा-स्फीति की दर शून्य तक प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त करली थी परन्तु यदि यह सही भी मान लिया जाय तो कीमतो म बढने की प्रवृत्ति जो अब भी बनी हुई है उसे क्या कहा जायेगा। रुपये का आन्तरिक मूल्य बराबर गिरता जा रहा है। कीमत वृद्धि पर अकुश यह नहीं लगा पाया है।

(6) बिल बाजार के विकास मे असफलता—अपनी स्थापना के 47 वर्षों के बाद भी रिजर्व बैंक एक अच्छे बिल बाजार के विकास म सफल नहीं हो पाया है। बिल बाजार योजना के अन्तर्गत और अधिक उदारतापूर्ण व्यवहार अपना कर रिजर्व बैंक व्यापारिक गतिविधियो म और तेजी ला सकता है।

परीक्षा-प्रश्न

1 रिजर्व बैंक के कार्यों पर प्रकाश डालिए।
(Discuss the functions of the Reserve Bank)

अथवा

रिजर्व बैंक के कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
(Examine critically the functions of the Reserve Bank)

अथवा

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की कार्यशीलता का मूल्याकन कीजिए।
(Evaluate the working of the Reserve Bank of India)

2 रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की साख नियन्त्रण सम्बन्धी नीति पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
(Write a short essay on Reserve Bank of India's credit control policy)

अथवा

भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा अपनाए गए मुद्रा एवं साख नियन्त्रण के विभिन्न तरीकों को बताइए।

(Describe various methods of monetary and credit control adopted by the Reserve Bank of India.)

[संकेत—साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को बताइए। भारत में न्यूनतम निधि प्रणाली अपनाकर रिजर्व बैंक मुद्रा की निकासी करता है। साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों का मूल्यांकन करते हुए इसकी असफलता की भी चर्चा कीजिए।]

3 रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण नीति की प्रमुख विशेषताओं को बताइए। यह कहाँ तक प्रभावशाली रही है?

(Explain the chief characteristics of credit control policy of the Reserve Bank. How far they have been effected?)

[संकेत—रिजर्व बैंक की साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को बताइए। उसके बाद बताइए कि साख नियन्त्रण की उसकी नीति अधिक प्रभावशाली नहीं रही है। इस ओर उसकी असफलताओं की चर्चा कीजिए।]

4 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही तथा कौन गलत है।

(i) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है।

(ii) रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण 1 जनवरी 1949 को हुआ था।

(iii) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को साख नियन्त्रण के क्षेत्र में आशातीत सफलताएँ मिली हैं।

(iv) रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण हेतु परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दोनों ही विधियों को अपनाता है।

(v) रिजर्व बैंक मुद्रा बाजार के असंगठित क्षेत्र पर भी नियन्त्रण करता है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) सही है। (iii) गलत है। (iv) सही है। (v) गलत है।

> A trade cycle is composed of periods of good trade characterised by rising prices and low unemployment percentages alternating with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentages
>
> —J M Keynes

> Business cycle is nothing more than rhythmic fluctuations in the overall level of employment income and output
>
> —D Dillard

> the business cycle is peculiarly a manifestation of the industrial segment of the economy from which prosperity or depression is redistributed to other groups in the highly interrelated modern society
>
> —A H Hansen

अध्याय 20

व्यापार चक्र
(TRADE CYCLE)

व्यापार चक्र अर्थव्यवस्था म आर्थिक क्रियाओ की गतिशीलता जिनका सम्बन्ध रोजगार उत्पादन आय कीमतो तथा लाभ स होता है से सम्बन्धित होता है। परन्तु प्रत्येक आर्थिक क्रियाओ की गतिशीलता को हम व्यापार चक्र (Trade or Business Cycle) की सज्ञा नही दे सकत। हम केवल उन्ही आर्थिक क्रियाओ के उतार चढाव को व्यापार चक्र की सज्ञा देत है जिनको हम एक निश्चित समय अतराल क बाद महसूस करत है। यदि हम ससार की आर्थिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करें तो हम ज्ञात होगा कि दुनिया की विभिन्न अर्थव्यवस्था विशेषरूप से पूजी वादी अर्थव्यवस्थाए दीर्घ अवधि और अल्पावधि तथा आकार की दृष्टि स कम या अधिक उच्चावचनो के रूप पूजीवादी अर्थव्यवस्था की एक सामान्य घटनाए साबित हुई है।

आर्थिक क्रियाओ मे उच्चावचन अर्थव्यवस्था म विभिन्न रूप क हो सकत है। सामान्यतया यह दीर्घकाल अथवा अल्पकाल मे होत है। इसी प्रकार से कुछ उच्चावचनो का आकार तथा अवधि अधिक तथा कुछ का आकार कम होता है कुछ उच्चावचनो की अवधि केवल कुछ महीनो की होती है और इनका अर्थव्यवस्था पर प्रभाव भी सीमित तथा हल्का होता है जबकि कुछ कुछ उच्चावचन कई वर्षो की समयावधि वाले होत है जो अर्थव्यवस्था पर अपना गहरा प्रभाव छोडते है। दुनिया क विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने इन उच्चावचनो का अध्ययन करक इनकी प्रकृति प्रभाव तथा विशेषताओ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

व्यापार चक्र की परिभाषा (Definition of Business Cycle)

अमरीका के अर्थशास्त्री प्रो० डब्लू० सी० मिचिल (Prof W C Mitchell) के शब्दो मे व्यापार चक्र को अग्र प्रकार से परिभाषित किया गया है

'— व्यापार चक्र उच्चावचनों का वह रूप होते हैं जो उन राष्ट्रों की जो अपना कार्य प्रमुख रूप से व्यवसायिक प्रतिष्ठानों में संगठित करते हैं की सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाओं में पाए जाते हैं। व्यापार चक्र में सामान्य विस्तार की स्थिति में लगभग एक ही समय में बहुत सी आर्थिक क्रियाओं में विस्तार होता है। इसके बाद सामान्य सुस्ती, गिरावट, मन्दी विमुक्ति की अवस्थाएँ पाई जाती हैं जो अगले व्यापार चक्र की विस्तार अवस्था में मिल जाती है। परिवर्तनों का यह क्रम आवर्तीय होता है।[1]

प्रो० मिचिल की व्यापार चक्र की उक्त परिभाषा द्वारा उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि वे उच्चावचन जिनका प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से होता है। व्यापार चक्र कहलाते हैं। उनके अनुसार व्यापार चक्र उन चक्र उच्चावचनों से अलग होते हैं जो अर्थव्यवस्था के किसी भाग में पाए जाते हैं। वैसे यहाँ यह कहना उचित है कि हम उन व्यापक उच्चावचनों तथा ऐसे क्षेत्रीय उच्चावचनों में भेद करना चाहिए जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था के किसी भाग में विद्यमान होते हैं। ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की समस्याएँ अर्थव्यवस्था के छोटे छोटे भागों से भिन्न होती हैं। प्रो० मिचिल ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है कि व्यापार चक्र का तात्पर्य उन उच्चावचनों से होता है जो व्यापारिक क्षेत्र में आते हैं तथा नियमित रूप से आवर्तीय होने की प्रवृत्ति रखते हैं।

प्रो० जे० एम० कीन्स ने अपनी दोनों पुस्तकों (A Treause on Money (1930) तथा The General Theory of Emphryment Interest and Money(1936) में व्यापार चक्र की परिभाषा इस प्रकार दी है। अपनी पुस्तक A Treause of Money में वे कहते हैं 'व्यापार चक्र उत्तम व्यापार अवधि जिसमें मूल्यों में वृद्धि तथा बेरोजगारी के आकार में गिरावट होती है तथा खराब व्यापार अवधि जिसमें मूल्यों में गिरावट तथा बेरोजगारी में वृद्धि होती है का योग होता है।[2]

General Theory में कीन्स ने व्यापार चक्र को परिभाषित करते हुए लिखा है चक्रवत गति से हमारा आशय उस स्थिति से होता है जिसमें अर्थव्यवस्था प्रगति करती है अर्थात् ऊपरी दिशा में गतिमान होती है तो उन शक्तियों को जो इस अर्थव्यवस्था को ऊपर की ओर धकेलता है अधिक शक्ति प्राप्त हो जाती है और यह एक दूसरे पर सचयी रूप से प्रभाव डालती है किन्तु उनकी शक्ति क्रमशः घटती जाती है और कुछ समय के बाद एक बिन्दु पर आकर इनका स्थान विरोधी दिशा में गतिमान शक्तियों को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि यह शक्तियाँ भी अपने पूर्वजों (विरोधी शक्तियों) के समान आरम्भ में कुछ समय तक अधिक शक्ति प्राप्त करता है परन्तु अपने अधिकतम विकास को प्राप्त करके

---

1 ' business cycles are a type of fluctuation found in the aggregate economic activity of nations that organise their work mainly in bussiness enterprises A cycle consist of expansions occuring at about the same time in many economic activities followed by similar general recessions contractions and revivals which merge with the expansion phase of the next cycle, this sequence of changes in recurrent but not periodic' —*W C Midell*

2. ' A trade cycle is composed of priods of good trade characterised by rising prices and low unemployment percentage alternating with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentages ' —*J M Keynes*

यह भी कम हो जाती है तथा अन्त में अपनी विरोधी शक्तियों को स्थान दे देती है। इसके अतिरिक्त व्यापार चक्र की एक अन्य विशेषता संकट की घटना है अर्थात् ऊपरी प्रवृत्ति के स्थान पर नीचे की ओर प्रवृत्ति का स्थानापन्न आकस्मिक रूप से प्रबलता के साथ होता है किन्तु जब नीचे की ओर की प्रवृत्ति की जगह ऊपरी प्रवृत्ति का स्थानापन्न होता है तो इस प्रकार तीक्ष्ण निर्णायक अवस्था विद्यमान नहीं होती है।[1]

जे० एम० कीन्स द्वारा प्रस्तुत व्यापार चक्र की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम व्यापार चक्र की निम्नलिखित विशेषताएँ प्राप्त होती हैं —

(1) व्यापार चक्रों में प्रसार तथा संकुचन (expansion and Contraction) की सामान्य वैकल्पिक प्रक्रियाएँ विद्यमान रहती हैं। चक्रीय उतार चढ़ाव की प्रवृत्ति लहर जैसी होती है।

(2) व्यापार चक्र की ऊपरी एवं नीचे की ओर की गतियों की अवधि में तथा समय के अनुक्रम में एक प्रकार की नियमितता पाई जाती है।

(3) व्यापार चक्र में संकट की घटना उपस्थित होती है इसका अर्थ यह है कि ऊर्ध्व बिन्दु (Peak) तथा अधोबिन्दु (trough) यथाप्रमाण नहीं होते दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि ऊपरी दिशा की गति में जब परिवर्तन होता है तब यह परिवर्तन एकाएक होता है तथा नीचे की ओर की दिशा की गति में होने वाले परिवर्तनों की अपेक्षाकृत अधिक प्रचण्ड होता है। इसके फलस्वरूप व्यापार चक्र की चोटी नोकीली तथा तली चपटी होती है।

एक अन्य प्रमुख अर्थशास्त्री प्रो० बेनहम ने व्यापार चक्र को इस प्रकार परिभाषित किया है "व्यापार चक्र वैभव तथा सम्पन्नता की वह अवधि है जिसके बाद अवसाद और मन्दी की स्थिति आती है।"[2]

प्रो० रेगनर फ्रिश (Prof Ragnar Frisch) द्वारा दी गई व्यापार चक्र की परिभाषा निम्न प्रकार से है—

'बाह्य प्रवृत्तियाँ अर्थव्यवस्था पर प्रभाव डालकर इसे लहर की तरह उसी प्रकार गतिमान करती है जिस प्रकार कोई बाहरी धक्का घड़ी के लंगर को झुला देता है। लेकिन लहरवत गति की लम्बाई झूलती हुई अर्थव्यवस्था के आन्तरिक ढाँचे द्वारा निर्धारित होती है अर्थव्यवस्था की हलकोरों में ऊँचे दर्जे की नियमितता हो सकती है चाहे इन हलकोरों (oscillation) को जन्म देने वाली प्रवृत्तियाँ बिल्कुल अव्यवस्थित हों।"[3]

व्यापार चक्र की उक्त परिभाषाओं के अध्ययन के बाद हम व्यापार चक्रों की प्रवृत्ति के बारे में कह सकते हैं कि इसका आशय आर्थिक क्रियाओं के उन उच्चावचनों (Fluctuations) से होता है जो निश्चित अवधि के बाद बार-बार उत्पन्न होते हैं। संसार की विभिन्न पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं के पिछले लगभग 200 वर्षों का इतिहास बताता

1 J M Keynes
2 Benham
3. "Impulses from outside operate upon the economy, causing it to *move in a wave-like manner just as an external shock will set a pendulum swinging But it is the inner structure of the swinging* system which determines the length of the wave movement The oscillation of the system may have a high degree of regularity, even though the impulses which set it going are quite irregular in their behaviour" —*Quoted by A H Hansen*

है कि यह देश व्यापार चक्रों से पीड़ित रहे हैं। कोई भी दो चक्र एक से नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में प्रो० सैम्युलसन (Prof Samuelson) के विचार अति उल्लेखनीय हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि वो एक जैसे बच्चे नहीं होते परन्तु उन्हें एक ही परिवार का सदस्य होने के रूप में पहिचाना जा सकता है। व्यापार चक्र में सामयिकता (Periodicity) तथा समक्रमिकता (Synchronism) जैसी दो प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं। सामयिकता से आशय व्यापार के उतार चढ़ाव अर्थात् विस्तार (Expansion) तथा संकुचन (Contraction) एक दूसरे के ऊपर नियमित रूप से घटित होते दिखाई देते हैं। जबकि समक्रमिकता से आशय उस स्थिति से होता है जबकि व्यापार चक्र के समय देश की सभी फर्मों पर एक जैसा प्रभाव पड़ता है अर्थात् समृद्धि काल में सभी फर्मों को लाभ तथा मंदी काल में सभी फर्मों को हानि उठानी पड़ती है।

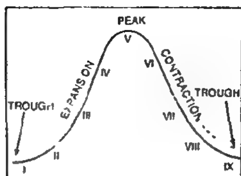
व्यापार चक्र के रूप अथवा आर्थिक उतार-चढ़ाव के रूप (Types of Trade Cycle or Types of Economic Fluctuations)

आर्थिक उतार-चढ़ावों अथवा व्यापार चक्रों को नापने के लिए विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसको नापने की व्यावहारिक कठिनाई को ध्यान में रखते हुए इनके विभिन्न रूपों तथा आकारों की चर्चा की है। इतिहास इस बात की पुष्टि करता है कि एक रूप तथा एक शक्तिवाले चक्रों की गति असम्भव है परन्तु फिर भी आर्थिक उतार-चढ़ाव इतने अनियमित नहीं हुए हैं कि उनको अनुपयुक्त मान लिया जाए। पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ आज भी किसी न किसी रूप में इनसे पीड़ित रहती हैं परन्तु इन आर्थिक उतार-चढ़ावों की तीव्रता में अन्तर हो सकता है जो अनियमितताएँ उपस्थित रहती हैं वे मुख्य रूप से इस स्थिति का परिणाम होती हैं कि एक साथ विभिन्न प्रकार के चक्र संचालित होते रहते हैं।

संसार के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि व्यापार चक्र की न्यूनतम अवधि 4 वर्ष तथा अधिकतम अवधि 12 वर्ष तक की रही है। अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो० एल्विन एच हैन्सन (Prof Alvin H Hansen) ने अपने अध्ययन के आधार पर व्यापार चक्रों को छोटे तथा बड़े व्यापार चक्र में बाँटा है। उनके अनुसार बड़े व्यापार चक्र की औसत अवधि 8 वर्ष तथा छोटे व्यापार चक्र की औसत अवधि लगभग $3\frac{1}{2}$ वर्ष की होती है। प्रो० हैन्सन ने अमरीका की अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्रों की घटनाक्रम को नापने के लिए 142 वर्षों अर्थात् 1795 से 1937 तक की अवधि का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस अवधि में 17 बड़े व्यापार चक्र उपस्थित हुए जिनकी औसत अवधि 8·35 वर्ष की थी। 1807 से 1937 तक की 130 वर्ष की अवधि में अमरीका में 37 छोटे व्यापार चक्र विद्यमान रहे जिनकी औसत अवधि 3.5 वर्ष की थी। प्रो० हैन्सन बड़े व्यापार चक्र की अवधि 8 वर्ष से थोड़ी अधिक मानते हैं। यद्यपि बड़े व्यापार चक्र 6 वर्ष की न्यूनतम अवधि से लेकर 12 वर्ष की अधिकतम अवधि के होते हैं परन्तु साधारणतया न्यूनतम तथा अधिकतम अवधियाँ 7 से लेकर 10 वर्ष तक की होती हैं।

छोटे व्यापार चक्र की समयावधि साधारणतया 3 वर्ष से लेकर 6 वर्ष तक की होती है। प्रो० हैन्सन (Prof A H Hansen) ने 130 वर्ष की समयावधि अर्थात् सन् 1807 से 1937 तक अमरीका के आर्थिक इतिहास के विश्लेषण द्वारा ऐसे 37 छोटे व्यापार चक्रों के घटित होने की पुष्टि की है। इस समयावधि के विश्लेषण से एक रोचक तथ्य यह भी सामने आया कि छोटे व्यापार चक्र एक ही समयावधि वाले नहीं थे। प्रो० हैन्सन से पहले भी कई अर्थशास्त्र विशेषज्ञों ने व्यापार चक्र की नियमितता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। फ्रांसीसी अर्थशास्त्री क्लिमेंट जगलर (Prof Clement

बिन्दुओं I तथा IX द्वारा दिखाया गया है। प्रो० मिचिल तथा बर्नस द्वारा वर्णित इन



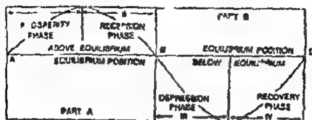
चित्र 1

स्थितियों को निम्नलिखित चार्ट द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है जो चित्र 1 की पुष्टि करता है।

अवस्थाएँ	उप-अवस्थाएँ	व्यापार चक्र में स्थिति
ऊर्ध्वबिन्दु (trough)	I तथा IX	ऊर्ध्वबिन्दु (Trough)
प्रसारण (Expansion)	II III तथा IV	ऊर्ध्वबिन्दु से अधोबिन्दु के प्रारम्भ की स्थिति।
अधोबिन्दु (Peak)	V	अधोबिन्दु (Peak)
संकुचन (Contraction)	VI VII तथा VIII	अधोबिन्दु की समाप्ति से ऊर्ध्व-बिन्दु के आरम्भ तक।

प्रो० शुम्पीटर (Prof J. A Schumpeter) प्रो० मिचिल तथा प्रो० बर्नस के उक्त वर्णन से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका कहना है कि व्यापार चक्र को एक सन्तुलन की अवस्था से दूसरे सन्तुलन की अवस्था तक विभाजित करना चाहिए। यही कारण है कि उन्होंने दो अवस्था वाले व्यापार चक्र को व्यक्त किया है जैसे भाग A तथा B जिसको कि प्रस्तुत अध्याय की चित्र संख्या 2 द्वारा व्यक्त किया गया है। चित्र में A भाग ऐसी दो अवस्था वाले व्यापार चक्र की व्याख्या करता है जिसकी सम्पूर्ण अवधि में आर्थिक क्रियाओं का स्तर सन्तुलन की अवस्था से ऊपर होता है तथा भाग B में दो अवस्था वाले ऐसे व्यापार चक्र को दिखाया गया है जिसमें सम्पूर्ण व्यापार चक्र की अवधि में आर्थिक क्रियाओं का स्तर सन्तुलन की अवस्था में नीचे रहता है। प्रस्तुत चित्र 2 में चार सन्तुलन बिन्दु हैं। भाग A में सन्तुलन अवस्था A से B बिन्दु तक तथा भाग B में सन्तुलन अवस्था बिन्दु C से D तक दिखाई गई है। भाग A में एक सन्तुलन बिन्दु A से लेकर दूसरे सन्तुलन बिन्दु B तक व्यापार चक्र की समयावधि अच्छी कही जाती है। इन वर्षों को समृद्धि की अवस्था

रहा जाता है। इसी प्रकार भाग II में भी दो अवस्था वाले व्यापार को दिखाया गया है जिस अवधि में अर्थव्यवस्था सन्तुलन से नीचे स्तर पर रहती है।



चित्र 2

प्रो० शुम्पीटर (Prof J A Schumpeter) ने व्यापार चक्र की जिन चार अवस्थाओं का वर्णन किया है सामान्यतः उन्हें ही व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

1 समृद्धि अवस्था अथवा प्रसारण [Prosperity (Boom) or Expansion Phase]

2 सुस्ती अवस्था अथवा समृद्धि से मन्दी की ओर (Recession phase the *Turn from prosperity to Depression*)

मन्दी अवस्था अथवा संकुचन की स्थिति (Depression Phase or State of *Contraction*)

4 *चेतना अवस्था अथवा मन्दी से समृद्धि की ओर (Revival Phase* or the turn from Depression to Prosperity)

1 **समृद्धि अवस्था** (Prosperity Boom or Expansion Phase)—व्यापार चक्र की समृद्धि अवस्था को सर्वोत्तम माना जाता है। प्रो० हेबरलर ने समृद्धि अवस्था को उस अवस्था से लिया है जिसमें वास्तविक आय का उपभोग वास्तविक आय का उत्पादन तथा रोजगार का स्तर ऊँचा होता है और इसमें बेकार साधन या बेरोजगार *श्रमिक या तो होते ही नहीं हैं या फिर इनकी संख्या कम होती है।*[1]

समृद्धि अवस्था के कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं— (1) *उत्पादन तथा व्यापार* का मात्रा में वृद्धि तथा विस्तार (2) रोजगार के स्तर में बहुमुखी वृद्धि (3) बढ़ता हुआ कीमत स्तर, (4) ब्याज की दरों में वृद्धि तथा सट्टे बाजार की गतिविधियों में बढ़ोत्तरी (5) सारा तथा लेन-देन कार्यों में वृद्धि (6) वास्तविक विनियोग में वृद्धि (7) मजदूरी तथा लाभ में वृद्धि अथवा समाज की आय में वृद्धि (8) व्यापार के क्षेत्र में आशावादिता (9) *अर्थव्यवस्था का अपनी पूर्ण कार्यक्षमतानुसार कार्य करना आदि।*

समृद्धि अवस्था में चारों ओर आशावादी दृष्टिकोण दिखाई देता है और इसमें ऐसे प्रावैगिक तत्व स्वयं गतिशील हो उठते हैं जिससे व्यापारिक क्रियाओं को नई स्फूर्ति मिलता है। कीमतें बढ़ने से लाभ बढ़ते हैं जिससे साहसियों द्वारा विनियोगों के लिए सदैव

---

1 Prosperity is a state of affairs in which the real income consumed real income produced and the level of *employment* are high or rising and there are no idle resources or unemployed workers or very few of either —*G Haberler*

प्रा माहग बना रहता है। नये विनियोगों के लिए प्रतिभूतियों का बाजार गर्म रहता है। प्रत्येक उत्पादक अपनी व्यापारिक क्रियाओं की वृद्धि करने में संलग्न रहता है। नये विनियोग नये रोजगार अवसरों में वृद्धि जिससे उत्पादन तथा आय में भी वृद्धि होती है। प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होती है जिससे रोजगार का स्तर पुनः बढ़ता है। इस प्रकार समृद्धि काल में प्रमाण्ण का जो अवस्था रहती है वह स्वयं सृजित तथा सचयी होती है।

समृद्धि अवस्था का अन्त उस समय होता है जब कि प्रसारण की शक्तियाँ कमजोर पड़ने लगती हैं। समृद्धि के शिखर पर ही इसके पतन के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगते हैं। जब विनियोग वृद्धि की लगातार प्रवृत्ति दिखाता है तो अधिक विनियोग हेतु वित्तीय साधनों में कमी दिखाई देने लगती है परिणामस्वरूप बैंक द्वारा ब्याज की दर ऊँची कर दी जाती है। इसी के साथ श्रम तथा अन्य उत्पादक साधनों की कमी महसूस होने लगती है और इनके पारिश्रमिक (prices) बढ़ने लगते हैं। इन सबका मिला जुला परिणाम यह होता है। लागत व्यय बढ़ जाता है जिससे उपभोक्ता तथा उत्पादक दोनों ही प्रभावित होते हैं। बढ़ते हुए लागत व्यय को पूरा करने के लिए उत्पादक अपने उत्पाद की कीमतें बढ़ाता है उपभोग में गिरावट बिक्री में गिरावट फर्मों के लाभ में गिरावट आती है। प्रत्येक फर्म अपने उत्पाद को शीघ्र बेचने का प्रयास करती है। कभी-कभी कुछ फर्में इसी होड़ में अपनी वस्तुओं की कीमतें गिरा देती हैं और कुछ फर्मों को हानि उठाना पड़ती है। कुल मिलाकर समृद्धि काल में अधिक आशावादिता अन्त में निराशावादिता (Pessimism) को जन्म देती है। इसीलिए यह भी कहा जाता है कि समृद्धि अवस्था स्वयं अपनी जड़ें खोदती है।

2 **मुस्ती अवस्था (Recession Phase)** जैसा कि ऊपर कहा गया है कि समृद्धि स्वयं सुस्ती अवस्था लाने के लिए उत्तरदायी होती है। सुस्ती को एक अवस्था कहने की अपेक्षा एक मोड़ की संज्ञा देना चाहिए जो समृद्धि को मंदी अवस्था में ले जाती है। सुस्ती अवस्था थोड़े समय ही दिखाई देती है। इस अवस्था में साहसियों (enterpreneurs) को अपनी त्रुटि का आभास होने लगता है और वह यह अनुभव करने लगते हैं कि उनके द्वारा समृद्धिकाल में प्रारम्भ किए गए कार्य लाभप्रद नहीं रहे। उनमें व्याप्त निराशावादी दृष्टिकोण उनके मनोबल को घटाता है परिणामस्वरूप बहुत सी फर्में एक एक करके बन्द होना प्रारम्भ हो जाती हैं। इन सबका मिला जुला परिणाम यह होता है कि रोजगार के स्तर में गिरावट आती है विनियोग गिरते हैं क्योंकि उत्पादन करना लाभप्रद नजर नहीं आता, बैंक अग्रिम बैंकों द्वारा ब्याज की दर नीची करने पर भी नहीं बढ़ते। प्रभावपूर्ण माँग में गिरावट आती है जिससे कीमतें और लाभ दोनों का ही स्तर गिरता है। सट्टा बाजार में भय का वातावरण छा जाता है और उसकी गतिविधियों में गिरावट आ जाती है। प्रो० एम० डब्लू० ली० (Prof M W Lee) ने सुस्ती अवस्था की संज्ञा उस जंगल से दी है जो एक बार लगने से अपने मार्ग में आने वाले सभी मार्ग को ध्वस्त कर देती है।'[1]

3 मंदी अवस्था (Depression Phase)—*मंदी को समृद्धि अवस्था के बिल्कुल* विपरीत कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। व्यापार चक्र की मंदी अवस्था में अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में काफी गिरावट आती है। चारों ओर निराशावादिता ही दिखाई देती है। प्रो० हबरलर ने मंदी की अवस्था को बड़े सुन्दर शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है 'मंदी का आशय उस अवस्था से होता है जिसमें प्रति व्यक्ति आय के उप-

1 'A recession once started tends to build upon itself much as forest fire once underway tends to create its own draft and given impetus to its destructive ability ." —*M W. Lee* Economic Fluctuation pp 42

योग एवं उत्पादन तथा रोजगार के स्तर गिरते हैं और यह एक प्रकार से एक ऐसी असाधारण स्थिति होती है जिसमें बेकार साधन विशेषरूप से श्रम का उपयोग नहीं होने पाता।"[1]

मंदी अवस्था में अर्थव्यवस्था में चारों ओर गिरावट के चिह्न अवश्य दिखाई देते हैं परन्तु यह एक समान प्रभाव वाले नहीं होते। उदाहरणार्थ फुटकर व्यापार पर उतना प्रभाव पड़ता जितना कि थोक व्यापार पर पड़ता है इसी प्रकार कृषि क्षेत्र में मौसमी दशाओं तथा कृषि में गैर व्यापारिक क्षेत्र की बहुलता के कारण यह क्षेत्र अधिक प्रभावित नहीं आता। जब कि दूसरी ओर मंदी का अधिक प्रभाव निर्मित उद्योगों खनन निर्माण परिवहन विशेष तौर पूंजीगत वस्तुओं भवनों मशीनों आदि पर दिखाई देता है।

मंदी अवस्था जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे ही मुद्रा का उपयोग भी घटता है। मंदी में केवल मुद्रा ही ऐसी निधि होती है जिसका मूल्य बढ़ता है। समस्त आर्थिक क्रिया में गिरावट व्यापार के क्षेत्र पर एक प्रकार से काले बादलों की भांति देख जाते है जिससे बैंक जमाओं में (Banks deposits) गिरावट आती है नये ऋणों की मांग गिर जाती है। कोई भी साहसी किसी प्रकार का जोखिम उठाने को तैयार नहीं होता। सट्टे बाजार (Stock exchanges) में विभिन्न फार्मों के अंशों तथा प्रतिभूतियों के मूल्य गिरते हैं।

मंदी अवस्था में राष्ट्रीय आय के वितरण में विघ्न उत्पन्न हो जाता है। साहसी के लाभ गिरते हैं और कभी कभी यह ऋणात्मक भी होते हैं। केवल उन लोगों की वास्तविक आय बढ़ जाती है जो कि मंदी के बाद भी रोजगार पर लगे हुए होते हैं इसका कारण यह है कि कीमतों में गिरावट होने से उनके पास उपयोज्य आय (Disposable income) बढ़ जाते है।

एक प्रगतिशील अर्थव्यवस्था मंदी की स्थिति भी हमेशा नहीं बनी रह सकती इसका कारण यह है कि वे तत्व जो मंदी के लिए उत्तरदायी होते है स्वयं ही कमजोर पड़ने लगते हैं। साहसियों द्वारा अपनी प्लांट तथा मशीनों को बदलने की कार्यवाही रुक जाती है क्योंकि उपभोक्ताओं द्वारा कुछ समय के लिए टिकाऊ वस्तुओं की मांग कम हो जाती है। धीरे धीरे टिकाऊ वस्तुओं की मांग उपभोक्ताओं द्वारा बढ़ने लगती है (सार्वजनिक विनियोगों में वृद्धि प्रभावपूर्ण मांग को बढ़ाती है) परिणामस्वरूप कुछ समय पश्चात उत्पादकों द्वारा प्लांट तथा मशीनों को बदलने का काम गति प्राप्त करता है उत्पादन को बढ़ावा मिलता है रोजगार के अवसर बढ़ते है जिससे आय तथा प्रभावपूर्ण मांग में और वृद्धि होती है। बैंक भी साख बढ़ाने के लिए तैयार रहते है। निराशावादिता से ही आशावादिता के चिन्ह दृष्टि गोचर होने लगते है और आर्थिक क्रियाओं को बढ़ावा मिलता है। यहीं से ही चेतना अवस्था अथवा मंदी से समृद्धि की ओर अर्थव्यवस्था बढ़ती है।

4 चेतना अवस्था (Revival or Recovery phase) अर्थव्यवस्था कुछ समय मंदी की अवस्था में रहने के पश्चात् चेतना अवस्था का अनुभव करने लगती है। इसके अन्तर्गत मंदी से समृद्धि की ओर अर्थव्यवस्था गतिमान होता है। चेतना अवस्था में पूंजीगत वस्तुओं की मांग बढ़ने लगती है फलस्वरूप पूंजी उद्योगों में विनियोग तथा रोज

---

1 Depression means a state of affairs in which real income consumed or volume of Producton per head and the rate of employment are falling or are subnormal in the sense that there are idle resources and unused capacity especially unused labour

—*G Haberler*, op cit pp 259

मार बढता है और आय बढती है। आय में वृद्धि प्रभावपूर्ण माग को बढाती है। कीमतें, लाभ विनियोग, रोजगार तथा आय सभी म वृद्धि के लक्षण दिखाई देते है। एक बार प्रसारण अवस्था के प्रारम्भ होने से रोजगार उत्पादन तथा आय धीरे धीरे बढती है। इसी चेतना अवस्था मे सट्टा बाजार (stock exchange) अधिक सक्रिय हो जाते है।

चेतना अवस्था मे सोहसियो म आशावादिता (Optimism) व्यापार म आशावाद को जन्म देकर विनियोगो के लिए प्रोत्साहित करती है। साख की माँग तथा बैंक ऋणो की माँग बढने लगती है। व्यापारिक क्रियाओं म तथा साधनो की कीमतें बढने से व्यय बढते हैं। जिससे पुन समाज क साधनो की आय बढती है जिससे पुन व्यय बढते है। इस प्रकार चेतना अवस्था के एक बार प्रारम्भ होने हो अथव्यवस्था को पुन एक नई शक्ति मिलती है और चतना की अवस्था शीघ्र ही समृद्धि की धारा स मिल जाती है और चक्र की पुनरावृत्ति होती है।

चेतना की अवस्था शक्ति और समयावधि की दृष्टि अलग-अलग होती है अथवा यह कैसी होगी यह इस बात पर निभर करगा कि किन शक्तियो द्वारा इस का जन्म हुआ है। उदाहरणाथ चेतना अवस्था का प्रारम्भ नव प्रवतन अथवा नय क्षेत्रो म, नये उत्पादो अथवा मदा के समय की पूजा जो व्यय थी उसे कायशील बनाकर अथवा सरकार द्वारा नय काय आरम्भ करके आदि आदि कारणो से चतना अवस्था का प्रारम्भ हो सकता है और यही कारण है कि चेतना अवस्था का रूप शक्ति और प्रभाव कैसा होगा इसे जानने के लिए हम इस अवस्था को प्रारम्भ करन वाले कारणो की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

जो h अर्थात् गुणक और v अर्थात त्वरक क विभिन्न मूल्यो पर निभर करती है। यह स्थितियाँ निम्न प्रकार स हैं—

(i) आय म ऊपर की ओर तथा नीचे की ओर घटती दर स परिवतन होता है। और आय नय सन्तुलन प्राप्त कर लती है।

(ii) आय होने वाले उच्चावचन समय चक्र क आधार पर होत ह।

(iii) आय म बढती हुई समय सारणी के अनुसार परिवतन होत है।

(iv) आय म उपर की ओर तथा नीचे की ओर बढती हुई दर स परिवतन होता है।

(v) स्थिर आघात के समय चक्रो क अनुसार आय म परिवतन होता है।

व्यापार चक्र नियन्त्रण सबन्धी नीति (Policy to control Trade cycle)

व्यापार चक्र एक जटिल प्रक्रिया है इसके घटित होन क लिए एक नहीं वरन् अनक कारण उत्तरदायी होते हैं। व्यापार चक्रो को नियन्त्रित करने हेतु कौन सी नीति अपनानी चाहिए इस बार म भी विद्वानो म मतैक्य नही है। अधिकाश विद्वान व्यापार चक्र की घटना को एक आवश्यक और स्वय घटित होन वाली प्रक्रिया मानत हैं परन्तु इस बात से सभी एकमत प्रतीत होत है कि व्यापार चक्रो की तीव्रता को कम तथा इसके घटित होने म बिलम्ब अवश्य किया जा सकता है। इस सम्बन्ध म किए जाने वाले प्रयासो की प्रकृति अवरोधात्मक एव उपचारात्मक हो सकती है।

व्यापार चक्र के रूप म उत्पन्न सकट क रोकन अथवा उसको समाप्त करन की बात संकट उत्पन्न करने वाले कारणो पर निभर करती है। सामान्यत व्यापार चक्र को रोकन क लिए विभिन्न नीतियो को अपनान की सलाह दी जाती है अर्थात निम्न नीतियो को अपनाने स व्यापार चक्रो के सकट या उसकी तीव्रता को कम तथा किसी हद तक समाप्त किया जा सकता है।

(i) **मौद्रिक नीति (Monetary Policy)**—व्यापार चक्रों को रोकने एक उचित मौद्रिक नीति अपनाने की सलाह दी जाती है। एक उचित मौद्रिक नीति का अनुसरण करके तेजी तथा मन्दी की स्थिति को रोका जा सकता है। यदि किसी कारणवश इन्हे रोकना सम्भव न भी हो तो भी उचित मौद्रिक नीति द्वारा व्यापार वृद्धि तथा मन्दी के परिणामों को घटाता तथा आर्थिक स्थिरता को यथासम्भव प्राप्त किया जा सकता है।

मौद्रिक नीति मे ऋण तथा ब्याज से सम्बन्धित बैंकिंग तथा साख नीति, मौद्रिक मानक (monetary standard) तथा इनके प्रबन्ध को शामिल किया जाता है। मुद्रा की मात्रा को प्रभावित बैंक साख तथा उसके द्वारा कीमतो तथा आर्थिक क्रियाओं के सामान्य स्तर को प्रभावित किया जा सकता है। इसके महत्वपूर्ण साधनो मे बैंक दर निर्धारण तथा स्वतन्त्र बाजार कार्य आते है। जब व्यापारिक क्रियाएँ विस्तार की प्रवृति दिखा रही हो तो बैंक दर बढ़ जाती है व्यापारिक क्रियाओ में अनुचित विस्तार के कारण साख की मात्रा कम हो जाती है। बैंक साख पर रोक लगाकर विस्तारशील प्रवृति पर रोक लगाते है। मन्दी के समय अर्थव्यवस्था मे निराशावादिता की लहर दौड जाती है। ऐसी स्थिति मे सुलभ मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनाना चाहिए जिससे कि व्यापारिक क्षेत्र मे निवेश की मात्रा बढ़ाई जा सके।

बैंक साखनीति द्वारा दो प्रकार से नियन्त्रण होता है गुणात्मक तथा परिमाणात्मक। परिमाणात्मक नियन्त्रण का सम्बन्ध सामान्य साख व्यवस्था से है। इसके द्वारा बैंक की प्रतिभूतियाँ प्रभावित होती है। साख नीति द्वारा व्यापारिक क्रियाओ को वांछित दिशा मे लाने मे सफलता प्राप्त की जा सकती है।

वर्ष 1930 से पहले व्यापार चक्र विरोधी नीति के रूप मे मौद्रिक नीति एक उपयुक्त तथा प्रभावशाली नीति मानी जाती थी। मौद्रिक नीति की सफलता के लिए यह जरूरी है कि देश के केन्द्रीय बैंक के नेतृत्व को व्यापारिक बैंक कितना महत्व देते है। बैंक अपने ऋणियो को दी जाने वाली साख का प्रयोग करने के लिए कितना तैयार पाते हैं जिन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उन्हे साख प्रदान की गई है तथा क्या व्यापारी वर्ग बदलती हुई बैंक दरो के अनुरूप अपने आप को समायोजित कर लेगा या नही।

मौद्रिक नीति सम्बन्धी विभिन्न मान्यताएँ आंशिक रूप से सत्य होती है इसलिए मौद्रिक नीति की उपयोगिता सीमित होती है। मन्दी के समय मौद्रिक नीति की सफलता संदिग्ध रहती है जैसा कि तीसा की विश्वव्यापी मन्दी से विदित है। मन्दी की अवस्था मे व्यापारिक क्षेत्र मे निराशावादिता की लहर दौड जाती है और सस्ती मुद्रा नीति तथा ब्याज की दर मे समुचित कटौती करने पर भी निवेशो को प्रोत्साहन नही मिलता। नीची ब्याज की दर केवल मुद्रा की तरलता बढ़ाता है। मन्दी के समय पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की दर ब्याज की दर से निवेशो को प्रोत्साहन नही मिलता। केवल सरकारी प्रयासों द्वारा प्रभावपूर्ण मांग बढ़ाकर पूँजी निवेश का वातावरण तैयार करने के प्रयास किया जाते है।

(ii) **राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)**—राजकोषीय नीति का प्रयोग मौद्रिक नीति के पूरक के रूप म हुआ या जब मौद्रिक नीति असफल और अनुपयुक्त हो जाती है तो राजकोषीय नीति व्यापार चक्रो को रोकने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। इसके दो साधन प्रमुख है। (i) सरकारी राजस्व तथा (ii) सरकारी व्यय। इसके अन्तर्गत बजट नीति, बचत को प्रोत्साहन ऋण सम्बन्धी नीति आदि द्वारा राजकोषीय नीति अपनाई वर्तमान समय म बहुधा यह देखा जाता है कि राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा सरकारी व्यय के रूप म होता है। राजकोषीय नीति म सरकारी राजस्व व सार्वजनिक

तथा सरकारी व्यय का महत्वपूर्ण योगदान है जैसा कि हमने देखा प्रो० कीन्स का विचार है कि व्यापार चक्रों के लिए बचत एवं निवेश के मध्य असन्तुलन की स्थिति का आना होता है। ऐसी स्थिति में सरकार तथा उसके निकायों के पूंजीगत व्ययों को गैर सरकारी निवेशों के साथ समायोजन किया जा सके तो असन्तुलन की स्थिति को रोका जा सकता है तो आर्थिक स्थिरता का वातावरण बनाया जा सकता है। यदि फिर भी इन दोनों अर्थात् बचत एवं निवेश के मध्य असमानता बनी रहे तो उस सरकारी व्यय द्वारा समायोजित करने के प्रयास हो सकते हैं। तेजीकाल में जब सरकारी व्यय अधिक हो रहा हो, साख की मात्रा अधिक हो तो सरकार को सन्तुलित बजट नीति का सहारा लेना चाहिए।

जब अर्थव्यवस्था मन्दी की चपेट में हो तो सरकार को घाटे के बजट (Deficit Budget) बनाने के लिए तत्पर रहना चाहिए। विभिन्न करों को दरों को कम करने में छूट उदार शर्तों पर ऋण आवंटन आदि करना चाहिए जिससे कि प्रभावपूर्ण माँग बढ़े रोजगार के साधनों को अधिकाधिक रोजगार मिले और आशावादिता के दृष्टिकोण को लाकर अर्थव्यवस्था को मन्दी से उबारा जा सके।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय उपाय (International Measures)—व्यापार चक्र एक अन्तर्राष्ट्रीय घटना है इसलिए इसे रोकने में एक देश द्वारा अपनाए जाने वाले विभिन्न उपायों के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय उपायों को अपनाने की सलाह दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादनों नियन्त्रण अर्थात प्राथमिक उत्पादनों की कीमतें तथा उत्पादन सम्बन्धी उपाय अपनाने की सलाह दी जाती है। इस प्रकार के नियन्त्रण की अपनी कुछ कठिनाइयाँ होती हैं जैसे कई देशों में कृषि छोटे स्तर पर होते हुए भी जीविका का प्रमुख साधन है। परन्तु मद लाभदायक न होते हुए भी चालू रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादन नियन्त्रण माँग और पूर्ति में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों को संयुक्त करके उनकी कीमतों में होने वाली वृद्धि और नियन्त्रण रखकर अर्थव्यवस्था को उच्चावचनों (fluctuations) से रोकता है

इसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निवेशों को नियन्त्रित करके अर्थव्यवस्था में स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय निवेश नियन्त्रण प्रायः विकासशील अर्थव्यवस्था में लागू किया जाता है।

(iv) नियमित विकास (Steady growth)—ऐसा कहा जाता है व्यापारिक उतार चढ़ाव आधुनिक औद्योगिक जीवन की तीन मूलभूत विशेषताओं के अभाव में नहीं पाए जायेंगे। जैसे अनेक वस्तुओं का टिकाऊपन, उत्पादन की जटिल तथा समय लगने वाली संरचना तथा मुद्रा का प्रयोग। यदि वस्तुओं में टिकाऊपन की कमी है तो जो चीजें अन्तिम रूप से उत्पादित होगी वे उपभोक्ताओं की माँग के ठीक बराबर रहेगी। यदि माँग में परिवर्तन होगा तो आनुपातिक रूप से पूर्ति में भी परिवर्तन हो जाएगा।

यह तीनों पहलू एक औद्योगिक समाज की व्यापक तथा केन्द्रीय विशेषताएँ हैं। यह एक नियन्त्रित एवं नियोजित समाजवादी व्यवस्था में भी पाई जा सकती हैं। ऐसे समाज में भी यह विचार करना पड़ता है कि नव-प्रवर्तन को वहाँ जल्दी लाया जाए या धीरे-धीरे। व्यापारिक उतार-चढ़ाव आज के औद्योगिक पूँजीवादी समाज के आवश्यक अंग हैं। हमें नियमित विकास के विचार के साथ अन्य तत्वों को भी ध्यान में रखना चाहिए। उदाहरणार्थ हमें व्यापार चक्र के मोड़ों (turning points) तथा व्यापार चक्र की क्रिया तथा प्रतिक्रिया का भी ध्यान रखना चाहिए।

व्यापार चक्र एक जटिल एवं महत्वपूर्ण घटना है और इसके लिए एक नहीं वरन् अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं। इनके निवारण हेतु हम विभिन्न उपाय अपनाने पड़ते हैं। यह समझना कठिन नहीं है कि व्यापार चक्र दीर्घकालीन विकास पथ को और दीर्घकालीन विकास पथ व्यापार चक्र को मर्यादित बना देता है।

निष्कर्ष—व्यापार चक्र जैसी पेचीदी घटना के समाधान के लिए कोई एक सरल एवं निश्चित उपाय नहीं है। कार्ल मार्क्स ने व्यापार चक्र को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की आवश्यक बीमारी की संज्ञा दी है उनका कहना था कि यदि अर्थव्यवस्था को व्यापार चक्र की बुराइयों से दूर करना है तो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को समाप्त करके ऐसा किया जा सकता है। प्रो० हैन्सन के विचार इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है वे कहते है कि 'व्यापार चक्र आधुनिक अर्थव्यवस्था की एक ऐसी विचित्र विशेषता है कि इस पर नियन्त्रण करना सरल कार्य नहीं है। व्यापार चक्र गतिशील समाज की एक ऐसी निहित विशेषता है जिसकी उपस्थिति का प्रमुख कारण अर्थव्यवस्था में निवेश के आकार में होने वाले निरन्तर परिवर्तन है। यह परिवर्तन उस समय भी विद्यमान रहेंगे जब अर्थव्यवस्था की स्वस्थ अवस्था हो जायेगी।[1] व्यापार चक्रों को नियन्त्रित करने के लिए समय-समय पर मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों का समन्वित प्रयोग किया गया है।

परीक्षा प्रश्न

1 व्यापार चक्र क्या है ? इसके लक्षण विशेषताओं तथा निवारण को बताइए।
(What is trade cycle ? Give its characteristics phases and remedies)

2 व्यापार चक्र से आप क्या समझते हैं ? व्यापार चक्र के विभिन्न रूप क्या हैं ?
(What do you understand by trade cycle ? What are the types of trade cycle ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (*Objective Type Questions*)

निम्नलिखित प्रश्नों में कौन सही तथा कौन सा गलत है।

(i) व्यापार चक्र पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की एक सामान्य घटना है।
(ii) व्यापार चक्रों को मापना एक कठिन कार्य है।
(iii) व्यापार चक्र एक अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था वाले देशों में भी लागू होते हैं।
(iv) व्यापार चक्रों को नियन्त्रित करना आसान है।
(v) व्यापार चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक घटना है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

(i) सही है। (ii) सही है। (iii) गलत है। (iv) सही है। (v) गलत है।

1 A H Hansen